चौमासा

वर्ष-28 संयुक्तांक-86/87
जुलाई- अक्टूबर 2011
नवम्बर-फरवरी 2012

प्रधान सम्पादक
श्रीराम तिवारी

सम्पादक
अशोक मिश्र

आदिवासी लोककला एवं बोली विकास अकादमी
मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद्, भोपाल का प्रकाशन

ISSN 2249-5479
© स्वत्वाधिकार सुरक्षित

सम्पर्क
आदिवासी लोककला एवं बोली विकास अकादमी
मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद्
जनजातीय संग्रहालय, श्यामला हिल्स
भोपाल-462002
फोन/ फैक्स : 0755-2661948, 2661640
E-mail : mplokkala@rediffmail.com

मूल्य
एक प्रति बीस रुपये
वार्षिक - पचास रुपये
आजीवन सदस्यता - पन्द्रह सौ रुपये
चौमासा का वार्षिक शुल्क अनुषंग पुस्तिका के साथ सौ रुपये

प्रचार/प्रसार
श्रीमती उर्मिला पारखे, प्रवीण गावण्डे - (मो. 9827351093)

शब्दांकन
आदिवासी लोक कला एवं बोली विकास अकादमी
मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद्

मुद्रण
शासकीय केन्द्रीय मुद्रणालय, भोपाल

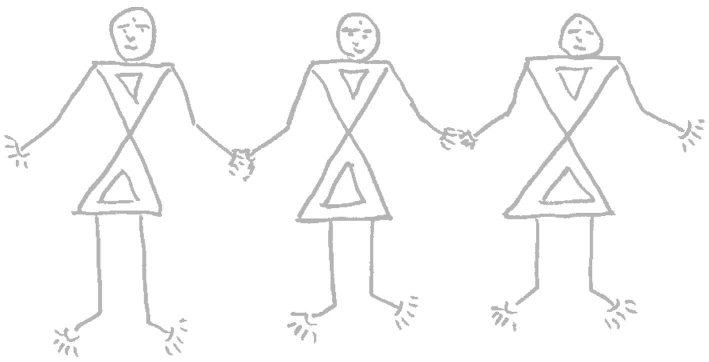

- चौमासा में प्रकाशित सामग्री लेखकों के अपने कार्य और विचार हैं। आवश्यक नहीं कि अकादमी उससे सहमत हो।
- पत्रिका और प्रकाशन से संबंधित समस्त विवादों का न्यायालयीन कार्यक्षेत्र भोपाल रहेगा।

निदेशक, आदिवासी लोककला एवं बोली विकास अकादमी, मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद्- भोपाल मुद्रक, प्रकाशक द्वारा शासकीय केन्द्रीय मुद्रणालय, मैदा मिल- भोपाल से मुद्रित कराकर आदिवासी लोककला एवं बोली विकास साहित्य अकादमी, मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद्, जनजातीय संग्रहालय, श्यामला हिल्स- भोपाल से प्रकाशित।

<u>**सम्पादक-अशोक मिश्र**</u>

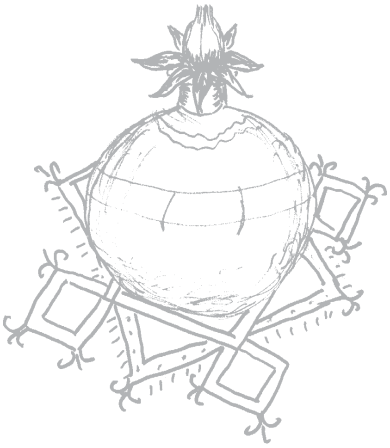

इस अंक में

मंगल और मांगलिकता / डॉ. भगवतीलाल राजपुरोहित / 5
प्रतीकात्मक विधान / राजेन्द्ररंजन चतुर्वेदी / 9
संस्कृति के लोक प्रतीक / वसन्त निरगुणे / 15
वैदिक-साहित्य में मांगलिक अभिज्ञान / डॉ. केदारनाथ शुक्ल / 28
लोक से शास्त्र तक प्रतीक / डॉ. (श्रीमती) अंशुबाला मिश्रा / 32
मुद्राओं में अङ्कित प्रतीक / डॉ. जगन्नाथ दुबे / 35
जनजातीय प्रतीक / डॉ. अर्जुनदास केसरी / 39
जनजातीय संस्कृति में मांगलिक प्रतीक / डॉ. आदित्यप्रसाद सिन्हा / 43
उत्तराखण्ड के मांगलिक प्रतीक / प्रो. देवसिंह पोखरिया / डॉ. रंजना शाही / 48
लोकमंगल के प्रतीक - भित्तिचित्र / डॉ. पीसीलाल यादव / 52
गोबर से बने पूजा प्रतीक / डॉ. वन्दना जोशी / 57
मांगलिक प्रतीक शहनाई / डॉ. मनोरमा शर्मा / 60
चरण चिह्नों की मांगलिकता / मायापति मिश्र / 64
मांगलिक प्रतीक / डॉ. कीर्ति शर्मा / 74
निमाड़ी संस्कृति के प्रतीक / छोगालाल कुमरावत 'सुजस' / 78
लोक के प्रतीक / रमेशचन्द्र तोमर 'निमाड़ी'/ 98
निमाड़ में प्रतीकों का संसार / लक्ष्मीनारायण तिवारी / 111
निमाड़ के मांगलिक चिह्न / श्रीमती पूर्णिमा चतुर्वेदी / 120
मालवा के मांगलिक प्रतीक / डॉ. पूरन सहगल / 123
प्रमुख गोत्र अभिप्रायों की उत्पत्ति / निरंजन महावर / 129
छत्तीसगढ़ी मांगलिक प्रतीक / रामकुमार वर्मा / 133
भोजपुरी के मांगलिक प्रतीक / डॉ. रामनारायण सिंह 'मधुर' / 143
बुन्देली के मांगलिक प्रतीक / डॉ. दुर्गेश दीक्षित / 145
मांगलिक प्रतीक - बीजासेन / पं. गुणसागर सत्यार्थी / 149
वैवाहिक मांगलिक प्रतीक / डॉ. सुधा गुप्ता / 154
बुन्देली के मांगलिक प्रतीक / डॉ. (श्रीमती) गायत्री वाजपेयी / 168
मांगलिक प्रतीक / श्रीमती अरुणा चौबे / 176
बुन्देलखण्ड के मांगलिक प्रतीक / डॉ. कुमारेन्द्रसिंह सेंगर / 180
स्थापत्य में मांगलिक प्रतीक / डॉ. रामस्वरूप ढेंगुला / 186
मांगलिक प्रतीक / श्रीमती पुष्पा खरे / 189
कल्याण का प्रतीक स्वस्तिक / सुधा तैलंग / 191
मंगलमूर्ति श्रीगणेश / डॉ. पुष्पारानी गर्ग / 194
बुन्देली के मांगलिक प्रतीक / डॉ. सीमा तिवारी / 197

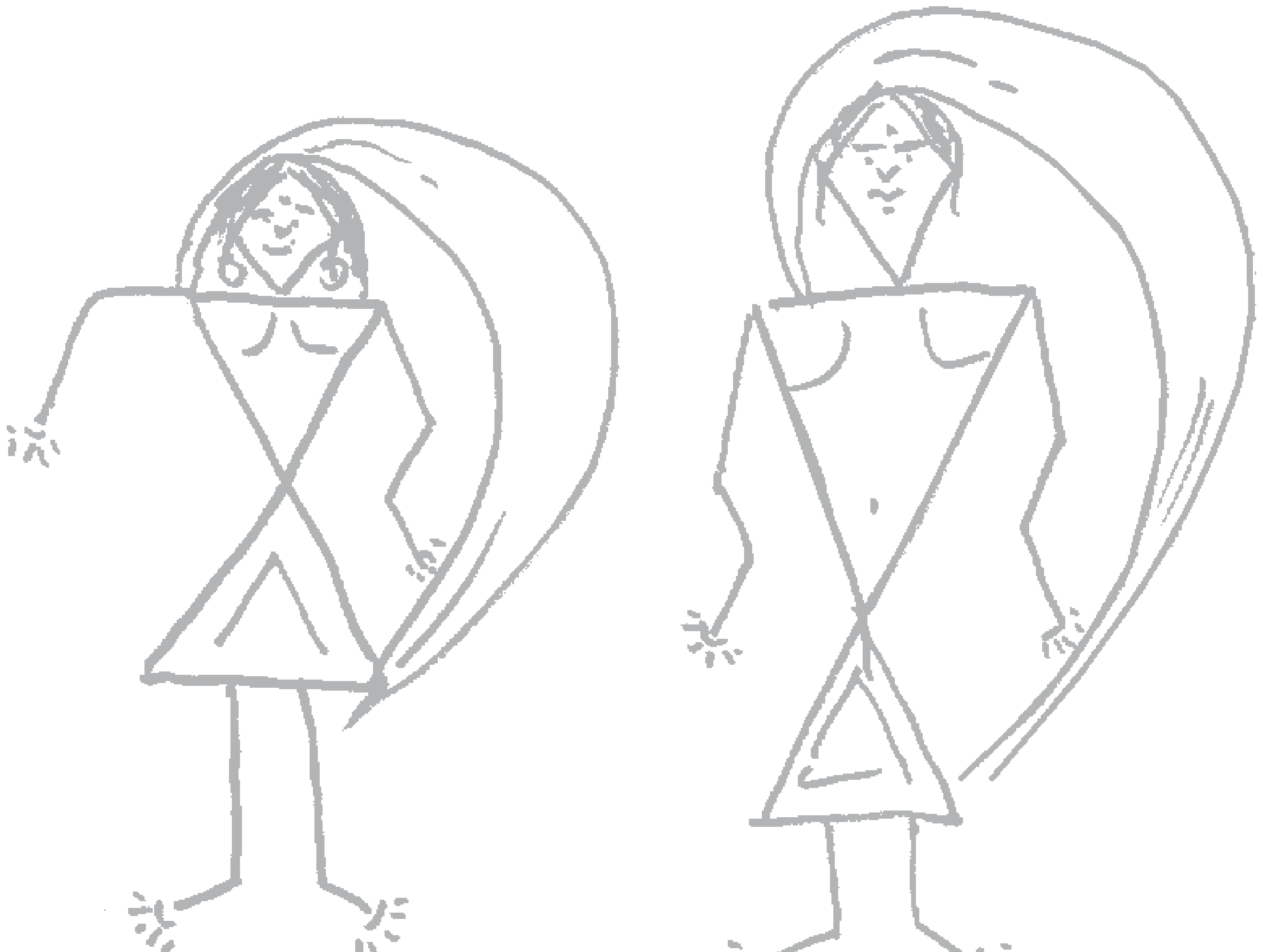

मंगल और मांगलिकता

डॉ. भगवतीलाल राजपुरोहित

मंगल सभी चाहते हैं। भूत, भविष्य और वर्तमान-सभी मंगलकारी हों यह भावना सदा और सर्वत्र रही है। देश और काल के अनुसार मंगल के प्रतीक चाहे बदलते जाएँ, परन्तु सबका लक्ष्य होता है शुभ-नये मंगल प्रतीकों की स्वीकृति और पुरातन की विस्मृति पर कुछ ऐस प्रतीक होते हैं जो सदा सर्वत्र मान्य रहते हैं। जैसे सूर्य, चन्द्र, पंच महाभूत (क्षिति, जल, पावक, गगन, समीर) की आराधना सभी करते हैं। वेदों में भी इनकी शांति की कामना शांतिपाठ में पायी जाती है। क्योंकि इनमें से किसी का भी उग्र होना अनिष्टकारी होता है, चाहे पिण्ड में चाहे ब्रह्माण्ड में।

मानव मात्र का प्रयास होता है कि उसे दु:ख न हो, केवल सुख हो। दु:ख तीन प्रकार के होते हैं- दैविक, दैहिक और भौतिक। पंच भूत की प्रतिकूलता से भौतिक रोग, अपघात आदि से दैहिक, चिन्ता या आकस्मिक व्यवधान से दैविक बाधाएँ जीवन में आती ही रहती हैं। इन दु:खों से मुक्ति के लिये ही भारतीय विभिन्न दर्शनों की प्रवृत्ति होती है- दु:खत्रयाभिघाताद्। भक्ति की तल्लीनता भी विभिन्न दु:खों को भुलाने के लिए होती है। मरणोपरान्त के दु:खों से मुक्ति और मृतक के परिवार पर कृपा के लिये और्ध्वदैहिक क्रियाएँ की जाती हैं। जब मानव ग्रहवासी था, मानव तब भी वह मंगल के उपादान तैयार कर चुका था। वैदिक प्रतीकों के उत्स उन आदि मानवों की आस्थाओं में भी खोजे जा सकते हैं।

यों तो मंगल एक ग्रह का नाम है, परन्तु शुभ का वाचक भी है वह। भद्र, भला, शिव, शं, शुभ, कल्याण, स्वस्तिक आदि के साथ ओम् शब्द भी मंगलवाचक ही है। यों तो स्वस्तिक सितावर शाक का भी नाम है परन्तु प्रमुख रूप से क्षेत्र और पुण्य के लिये स्वस्तिक शब्द का उपयोग होता है। लेखन को स्वस्तिमुख भी कहते हैं, क्योंकि परंपरानुसार लेखन का आरम्भ स्वस्ति से होता है।

जीवन में जो भी अत्यंत उपयोगी और सुखदायक हैं वे सब मंगलदायक हैं। क्योंकि वे सुखद होते हैं। समय के साथ उपयोगिता और उपलब्धि न्यूनाधिक होती रहती है। तदनुसार उनमें कुछ अनुपयोगी हटते, घटते जाते हैं, तो नवीन जुड़ते भी जाते हैं।

यह मंगल या मांगलिकता जीवन के अनुभव के साथ जुड़ती गयी है, जिससे किसी को या बहुधा को लाभ हुआ, वह स्वीकृत हो गया। उससे आस्था बनती है, श्रद्धा बनती है। देवपूजा, देवाराधन, टोटका, तंत्र, यंत्र, तीर्थयात्रा, तीर्थस्नान, दर्शन, पूजन, भेंट, दान, यज्ञ आदि अनेक रूपों में वह श्रद्धा बनती जाती है। कुछ पूज्य प्रत्यक्ष होते हैं और कुछ परोक्ष। पंच महाभूत, सूर्य, चन्द्र आदि प्रत्यक्ष हैं, तो भूत, प्रेत, विभिन्न देवी-देवता आदि परोक्ष हैं। वनस्पति, नाग, मेघ आदि भी प्रत्यक्ष हैं। ग्रामदेवता, वनदेवता, क्षेत्रदेवता आदि की प्रसन्नता भी मंगलदायक होती है। ये मंगल या मांगलिकता के अनुभव का परिणाम है, जिससे लाभ हुआ वह मंगलदायी मान लिया गया और वही मांगलिकता का कारण मान लिया गया। एक, दो, दस, सौ का जिससे शुभ होता गया, उसमें ही मांगलिकता मान ली गयी और धीरे-धीरे उसका प्रचार हो गया।

कभी-कभी जो कष्टदायी होता है, वह भी पूज्य हो जाता है। कष्ट देता है, वह कष्ट हरण भी कर सकता है- जैसे विघ्नेश गणपति। गणपति, विघ्नविनायक के स्मरण के बिना गाँव का कोई बच्चा भी काम आरम्भ नहीं करता। अत: प्रत्येक काम के आरम्भ में गणपति पूजा या स्मरण किया जाता है। ग्राम में आषाढ़ मास में फसल बोनी के बाद ग्रामदेवता की सामूहिक पूजा कर रोगटा निकाला जाता है। यह सर्वमान्यता है कि उससे गाँव के पशुओं को रोग नहीं होता है। अशुभ का विनाश या अशुभ न होना भी शुभ माना जाता है।

सभी प्राणी जीवन में सुख सुविधा चाहते हैं, कष्ट कोई नहीं चाहता। कष्ट निवारण हो, सुख मिले और सुखमय जीवन का पथ प्रशस्त हो। इसके लिये समर्थ का सहारा लिया जाता है। जो काम उससे भी सम्भव न हो सके, उसके लिये विभिन्न अदृश्य शक्तियों को प्रसन्न करने के विभिन्न उपाय किये जाते हैं। तब यंत्र, मंत्र, तंत्र, टोटका, जादू-टोना आदि की पद्धतियाँ बनती चली जाती हैं। यह सभी धर्मों में है। ये भावनाएँ सभी काल और सभी देशों में पहले भी थीं और आज भी हैं। लोकानुरूप तथा लोकमान्य जो होता है, वह शास्त्र में समाहित हो जाता है।

मंगल में यथार्थ और आस्था का योग होता है। इसलिये प्रत्येक धर्म-सम्प्रदाय और समाज के अपने-अपने मंगलप्रतीक होते हैं। अभिवादन में भी उन्हीं शब्दों का उपयोग होता है, जिससे सामने वाला प्रसन्न हो। बहुधा मंगलवाचक शब्द होते हैं।

जो लोककल्याणकारी हो, महान् हो, शक्तिशाली हो, विशेष गुण वाला हो, समर्थ हो, उदार हो, प्रसन्न रहता हो- उसे भी मंगल माना जाता है। इसलिये देश कालानुसार उनमें भेद भी होता रहता है। हर क्षेत्र का जनमानस अपने क्षेत्र के त्राता को गौरव देते हैं। वे नाम अपनी-अपनी भाषा में होने से भाषाभेद के कारण नामभेद भी होते जाते हैं।

देवताओं में कुछ सर्वमान्य, कुछ स्थानीय, कुछ जातिगत, कुछ धर्मगत और कुछ देशगत होते हैं। रामदेव जी को राजस्थान, मालवा तथा गुजरात के कुछ क्षेत्र की कुछ विशेष जातियाँ अधिक पूजती हैं। सूर्य-चन्द्र सर्वमान्य हैं। विभिन्न इतियाँ (अनिष्ट) न हों जैसे अतिवृष्टि, अनावृष्टि, टिड्डी, चूहे, तोते, राजाओं के आक्रमण आदि इतियाँ हैं-

अतिवृष्टिरनावृष्टि: शलभा: मूषका: शुका:।
प्रत्यासन्नाश्च राजान: षडेता ईतय: स्मृता:।।

संक्रामक रोग, दंगा, सुनामी, भूचाल, आतंकवाद, विदेशों में भटकना आदि भी इतियाँ हीं मानी जानीं चाहिये। ये सर्वसामान्य हानिकर हैं। अलग-अलग देशों तथा धर्मों के मंगलप्रतीक थी भिन्न-भिन्न होते हैं। ईसाइयों में क्रास, इस्लाम में 786, जैनों में त्रिरत्न, बौद्धों के दूसरे त्रिरत्न। यही नहीं, अलग-अलग सम्प्रदायों के अपने-अपने मंगल होते हैं। ये उनकी धार्मिक आस्थाओं से जुड़ी बाते हैं। यही नहीं भिन्न-भिन्न देशों के भिन्न-भिन्न मंगल प्रतीक होते हैं। जहाँ जैसे प्राणी, वनस्पति, वस्तुएँ और वातावरण होता है, वहाँ का वैसा ही मंगल प्रतीक होता है। परन्तु मंगल प्रतीक सर्वस्वीकृत या सर्वमान्य होता है।

सूर्योदय सदा शुभ माना जाता है। द्वितीया का चन्द्रमा या ईद का चाँद सदा शुभ माना जाता है। मध्याह्न का समय काल का समय माना जाता है। सूर्यास्त के समय नया काम नहीं किया

जाता। क्योंकि अस्त का समय होने से काम फलीभूत नहीं होता है- ऐसा माना जाता है। प्रगति के लिये उदय का समय उत्तम है, अस्त का नहीं।

जिनके बिना काम न चलता हो, जो दैनिक उपयोग में आता हो, जो सर्वसुलभ हो, जो शोभन हो, जो सर्वव्यापी हो, जो सर्वजनसुलभ हो, जो सबका हितकारी हो- उसमें मांगलिकता की सम्भावना की जाती है। अग्नि से सब कुछ भस्म हो सकता है। इसलिये वह सबमें पवित्र मानी जाती है। कलश सर्वत्र सुलभ होता है। कमल सुंदर सुगन्धित होता है। हंस सुंदर होता है। मयूर सुंदर होता है। स्वस्तिक प्रदक्षिणा की मंगल दिशाओं का संकेत करता है। गाय के गोबर, मूत्र, दूध, दही, घी सब यज्ञ व पूजा के उपयोगी हैं। गाय सुलभ हैं। वृषभ भी सुलभ हैं। इस प्रकार अपने आसपास की वस्तुओं में से लोक दीर्घ अन्वेषण करने के बाद मांगलिक प्रतीकों को गढ़ता है। वह अपने लिये मंगल चाहता है, तब संसार के लिये मंगलकामना करता है, अन्य के लिये मंगल कामना तभी करता है जब उसके हृदय में उदारता हो, सब का शुभ चाहता हो।

वितरतु सततं मंगलं वः।

भगवान् विष्णु मंगल और मांगलिकता के अधिष्ठाता माने गये हैं। वे लक्ष्मीपति हैं, वे अनन्तनारायण है। शंख, चक्र, गदा, पद्म को धारण करते हैं। अपार सम्पदा, सुंदर वसन, मनोहर आभूषण, अपार शक्ति, अपार सुंदरता से जो सम्पन्न हैं, वे ही सबका मंगल कर सकते हैं। वे सत्य, शिव, सुंदर हैं। सब की मंगल कामना उनसे की जाती है।

मंगलं भगवान् विष्णुः मंगलं गरुड़ध्वजः।
मंगलं पुंडरीकाक्षो मंगलायतनो हरिः।।

मंगल शब्द के शुभ, समृद्धि, आनंद, सौभाग्य, कुशल, शुभ-शकुन, आशीर्वाद, प्राचीन रीति-रिवाज आदि कई अर्थ होते हैं। वे सब मिलकर सुखद और संतोषप्रद होते हैं। ये वाचिक भी होते हैं जैसे स्वस्ति और उनके आकार रूप में प्रतीक भी बनाये हैं। स्वस्तिक शिव-शंकर भी कल्याण और शांति के प्रतीक हैं। ये वेदों में शब्द रूप और सिन्धु सभ्यता में प्रतीक रूप में प्राप्त होते हैं। ये ऐसे शब्द और उनके प्रतीक हैं जो आदि वैदिक युग से आज तक यथावत् मंगलवाचक और मंगल प्रतीक के रूप में निरंतर पूरे भारत में स्वीकृत हैं। 'स' उपसर्ग द्वारा शब्दों को शुभवाचक बना दिया जाता है। अथर्ववेद (19-23-28) में मंगलवृद्धि के लिये मांगलिकेभ्यः स्वाहा आहुति का विधान किया गया है।

सर्वोत्तम मंगल प्रतीक पूर्णघट या भद्रकलश (ऋग्वेद 3-38-15) रहा, जो आज तक है। भद्र अर्थात् मंगल। घर में सब मंगलों की अधिष्ठात्री वधू को सुमंगली कहा जाता था। अग्नि को मंगलों का विधान करने वाला कहा गया है। सूर्य सब मंगलों का स्रोत है। समस्त स्वस्तिभाव का प्रतीक स्वास्तिक है। चारों दिशाओं का मूर्त रूप स्वस्तिक है। धार्मिक भावना और कर्मकाण्डीय विधि के रूप में मंगल प्रतीक पूरे समाज में पाये जाते हैं और इतने दृढ़ हो गये कि तब वे अब तक बद्धमूल हैं। भारत के सभी पंथों में वे समान आस्था से मान्य हैं। पूर्णघटपंक्ति, चक्रपंक्ति, पद्ममाता आदि स्तूपों पर भी पाये जाते हैं। घर के द्वार के पार्श्व स्तम्भों पर शंख और पद्म उकेरे जाते रहे हैं। मेघदूत के यक्ष के भवन के दोनों पार्श्व में वे हैं ही और वे विष्णु के हाथों के अलंकरण भी हैं। क्रमशः पुरातन प्रतीकों का विस्तार होता गया। आहत मुद्राओं पर लगभग पाँच सौ निशान मिलते हैं (7वीं शती ई.पू. से पहली शती) और जनपद मुद्राओं पर रूप-संख्या और बढ़ी। मिट्टी की मुद्रा पर भी विस्तार हुआ (दूसरी से पाँचवीं शती)। शंख, पद्म, चक्र, विष्णु के हाथ में रहे तो चक्र और पद्म बुद्ध प्रतिमा में और चक्र, सिंह, श्रीवत्स महावीर की प्रतिमा में। पूर्णघट, कमल तथा हाथियों को लक्ष्मी की मूर्ति में, मकर को गंगा और कच्छप को यमुना की प्रतिमा में लिया गया। ऐसे कई मंगलों की सूची यहाँ-वहाँ पायी जाती है। हरिवंशपुराण में 108 मंगलों की तथा वास्तुरत्नकोश में छह प्रकार के 108 मंगलों की सूची पायी जाती है। बौद्ध तथा जैन परंपरा में भी उनमें से कई प्रतीक मांगलिक पाये जाते हैं।

वैदिक प्रतीकों की सूची में देवता, धार्मिक व दार्शनिक, पशु-पक्षी, विभिन्न पदार्थ, वनस्पति, पुष्प और विविध प्रतीक या अभिप्राय पाये जाते हैं। वासुदेवशरण अग्रवाल ने अपने ग्रन्थ भारतीय कला में वह व्यापक सूची दी है। उसके साथ ही अन्य प्रतीकों को भी मिलाकर वह बृहत् सामग्री हो जाती है।

देवता – श्री, लक्ष्मी, यक्ष, नाग, सूर्य, चन्द्र, वामन, विराट्, त्रिविक्रम, विष्णु, सुदर्शनचक्र, अर्धनारीश्वर, कुमार, गणपति, अम्बिका, त्र्यम्बक, पशुपति, मातृका, द्विमाता, सप्तमातर, दश मातर, तीन देवियाँ–(अम्बा, अम्बिका, अम्बालिका), समुद्र, हिरण्यगर्भ, नारायण, दक्ष, अग्नि, सहस्राक्ष इन्द्र, नृतु (नटराज), गन्धर्व, अप्सरा, ब्रह्म, वसु, रुद्र, अश्विनी, प्रमथ, सप्तर्षि, अष्टमूर्ति शिव, कुम्भाण्ड, नारद, केशिनी या कालिका या कोट्टवी, विश्वरूपा नारी, कश्यप, शतरूपा, अग्निसोम।

धार्मिक और दार्शनिक प्रतीक– स्वस्तिक, देवासुर संग्राम त्रिविक्रम, ज्योतिर्लिंग, पृथु द्वारा पृथिवी का दोहन, मान्धाता, उत्तर कुरु का सुदर्शन नगर, वराह द्वारा पृथिवी का समुद्र से उद्धरण, सहस्र (अनन्त) पुरुष, सप्तपदी, अग्नि स्कन्ध (आग का खम्भा)।

पशु–पक्षी– सुपर्ण, हंस, एकशीर्ष, दसशरीरी वत्स, द्विशीर्ष वृषभ , गृध्र, श्येन, वर्तिका, द्विशीर्ष की सुपर्णी, सप्ताश्व, नन्दी, अनन्त, वराह, वृषभ धेनु (गाय–बैल का जोड़ा), अश्व, महिष, महोरग (अहिवृत्र), रेवन्त का भौंकता कुत्ता, चतुर्दंष्ट्र, सहस्रशृंग वृषभ, सरमा, हरिहंस (सुनहला हंस) ऐरावत।

विभिन्न वस्तुएँ – चक्र, पूर्ण, स्कम्भ (स्तम्भ), इन्द्रयष्टि, वैजयन्ती, वेदिका, सप्तरत्न (चक्रवर्ती के), त्रिशूल, वज्र, वसुधरा (सुवर्णवर्षा), देशरथ, केतु, कुण्डल, चमस (कटोरा), चमू (बड़ा घड़ा), महामणि, वसुधानकोश, अरणी, धर्म (दूध औटाने का घड़ा), अपूप, मोदक, धनुषबाण, कुम्भी, चरु (कड़ाह), निधि (निधान कलश), भिक्षापात्र, मधुकोश (शहद का कटोरा), इन्द्रासन, दैवी नाव।

वनस्पति – पद्म, पुष्कर, कल्पवृक्ष, कल्पलता, वनस्पति, पुण्डरीक, हिरण्यस्रक्, पुष्करस्रक्, महास्रक्।

विविध– मिथुन (नरनारी), सुमेरु, चतु:समुद्र, द्यावापृथिवी, हिमालयादि पर्वत, गंगादि नदी, सरस्वती, विमान, सलिल, वातरशना (दिगम्बरता), महानग्न, महानग्नी, पुर (देवपुरी), देवसदन, उलूखलमूसल, गुहा।

कला के मूर्त रूपों में कलाकारों ने प्राचीन धर्म और विचारों को प्रकट किया। कला के ये प्रतीक भारतीय बद्धमूल आस्था के साकार रूप हैं। प्राचीन वाङ्मय के जो मंगल प्रतीक मूर्तियों तथा चित्रों में स्वीकृत किये जाते हैं, वे इस प्रकार हैं–

मत्स्य, कूर्म, वराह, मृग, सिंह, गोधा, अश्व, हस्ती, गो, नाग, अज, व्याल, नकुल, गरुड़, सारस, श्येन, मुनि, अष्टकन्या, चक्रवर्ती, सात बहनें, शिशु, देवयोनि, यक्ष, विद्याधर, गन्धर्व, किन्नर, सुपर्ण, लोकपाल, अष्ट दिक्पाल, अप्सराएँ, वृक्षकाएँ, वृक्ष, महावृक्ष, कल्पलता, पीपल, वट, तुलसी, माला, मुचकुन्द, ताल तथा अन्य वृक्षलताएँ, पात्र, मणि, भद्रमणि, कौस्तुभ, शंख, मुक्ता अष्टनिधि, कण्ठा, हार, छत्र, नकुली (थैली/ नौली), रथ, विमान, शकट (छकड़ा), पर्वत, नदी, पूर्णघट, वारुणी घट, कार्षापण, मेखला, चामर, दर्पण, धूप, स्थूणाराज, स्तूप, चैत्य, देवगृह या विमान, कुटी, पर्णशाला, कपिशीर्षक (कंगूरे), सींग, रत्न, मुकुट, चंगेरी (माला, पुष्प, वस्त्र, अलंकार की टोकरी), वीणा, वंशी, मृदंग, मंजीरे, तुरही, मयूर, कोकिल, शुक, शूल, त्रिशूल, वज्र, चक्र, धनुष, बाण, हल, मूसल, पाश, गदा, खड्ग, खट्वांग, चर्म, ढाल, कवच, स्वस्तिक, श्रीवत्स, श्रीचक्र, श्रीवृक्ष, त्रिरत्न, नन्दिपद, चक्र, पञ्जक (थापा), इन्द्रध्वज आदि।

इन विभिन्न प्रतीकों की भारतीय परम्परा में उपस्थिति रही है। देश– कालानुसार इनसे से कुछ उपयोग कहीं होता है और कुछ का उपयोग नहीं होता है। पारम्परिक कला में ये प्रतीक यथोचित रूप में प्राप्त होते रहते हैं। भारतीय मूल के विभिन्न धर्म सम्प्रदायों में इन प्रतीकों को निरन्तर स्वीकार किया जाता रहा है और इसलिये उन धर्म सम्प्रदायों में भेद होते हुए भी अभेद है। भारत के विभिन्न क्षेत्रों में इनका आज भी उपयोग होता है। अत: मालवा में भी इन प्रतीकों में से बहुधा को स्वीकार कर आस्थापूर्वक उपयोग किया जाता है। इन प्रतीकों का प्राचीन सिक्कों, मुहरों प्रतिमाओं, चित्रों भवनों, मंदिरों और सबसे बढ़कर जीवन में तो उपयोग होता ही रहा, आज भी समाज की आस्था में उनकी व्यक्ति और उपस्थिति रेखांकित की जा सकती है।

प्रतीकात्मक विधान

डॉ. राजेन्द्ररंजन चतुर्वेदी

सोलह संस्कारों में एक पुंसवन है- फरेई। गर्भिणी वधू वस्त्रालंकार से सज्जित होकर दोनों हाथों की अंगुलियों में नारियल और उस पर आटे का बना चौमुखा दीपक लेकर अपने 'अटा' में से उतरकर आँगन में आती है और अपने वयोवृद्ध श्वसुर के हाथों में उस वंश दीप को सौंप देती है। यह है दीप से दीप जलाने की अविच्छिन्न परंपरा।

बालक के जन्म का छठा दिन है। बुआ आई तो साथ में पीली सींके लाना नहीं भूली, उसने दीवाल पर छठी (षष्ठी) माता की प्रतिकृति बनायी है गोबर से। केसर घोली, अनार की डाल की कलम बनायी और बोली- 'आज रात को बैमाता आवेंगी, वे बालक का भाग्यलेख लिखेंगी'।

जनेऊ हो रहा है, बरुए को 'कौपीन' और 'पीरी परजनी' दी गयी - ब्रह्मचर्य व्रत। वह काशी पढ़ने गया तो उसने माँ से कहा- माँ भिक्षां देहि' कुनबे की समस्त स्त्रियाँ भिक्षा देने को उमड़ आयीं। वह शिवालय (काशी विश्वनाथ) से लौटकर आया, तब घर के बड़े बाबा ने उसे गायत्री दी और तीन तारों का जनेऊ पहनाकर कहा- तेरे ऊपर ये तीन ऋण हैं- 'देवऋण, गुरुऋण और पितृऋण। इन्हें चुका कर तू अपनी पात्रता सिद्ध करना।'

विवाह है- 'भैन-भांजी-भुआ' हल्दी का 'ऐपन' बना लायी- माँय (देवता) को प्रतिष्ठित करेंगी। अखैवर, खजूर, हंस-हंसिनी (पक्षी युगल) सूरज-चन्दा, सप्त मातृका के साथ दीवाल पर मांय देवता प्रतिष्ठित हुए। 'बसोधारा' के लिये कुनबे के 'देवर-जेठ' एकत्र हो गये हैं। जितनी देर में माँय पूजा हुई, उतनी देर में बुआ ने द्वार के दोनों ओर अंगुलियों से बिंदु लगाते हुए मंगल कलश चित्रित कर दिये- 'दिन धरायौ'। लोकजीवन के प्रत्येक कदम पर उसके साथ चलने वाले प्रतीकात्मक विधान के ये एक दो उदाहरण हैं।

नारियल और चौमुखा दीपक समर्पण तथा वंशदीप का प्रतीक है। अनार की कलम और केसर सौभाग्य की कामना का प्रतीक है। अकेले विवाह को ही ले लिया जाय तो शताधिक प्रतीकात्मक विधि-विधान सामने आ जायेंगे।

अशोक के पत्तों का बंदनवार बाँधा जाता है। अशोक कामदेव का प्रतीक है। संतान कामना से उसकी पूजा की जाती है। माँड़यौ (मंडप) बनता है। यज्ञ स्तंभ के प्रतीक रूप में छौकर या आम की लकड़ी को अक्षत, सुपारी, हल्दी और दूब के साथ मिट्टी में दबाकर गाड़ा जाता है। वर-वधू की गांठ बाँधना प्रतीकात्मक विधान ही तो है। वर के उत्तरीय और वधू के आँचल के छोर में रुपया तथा अक्षत लेकर गांठ बाँधी जाती है। यह ग्रंथिबंधन जीवनभर प्रत्येक अनुष्ठान का अंग बन जाता है। वरपक्ष का मान्य (वरमरिया) एक हंडिया में जौ भरकर बरनी के मंडप के नीचे रख आता है। जौ उर्वरता के प्रतीक हैं। कुम्हार का चाक पूजा जाता है। सृष्टिचक्र का प्रतीक है चाक।

भक्तिकाव्य में कंगन या काँकन खोलने के संदर्भ हैं। लोहे का छल्ला, लाख का छल्ला, नीम की पत्ती, कुएँ की कंकड़ी और चोकर सूत के धागे (कलावे) में पिरो कर तेल, हल्दी के दिन पाँच-सात सुहागिनें वर-कन्या के हाथ में बाँधती हैं, सात गाँठ लगाती हैं। ये काँकन खोलने की परंपरा (वर-वधू एक दूसरे के काँकन विवाह सम्पन्न होने पर खोलते हैं।) कितनी पुरानी है? एक हाथ से गाँठें खोलनी हैं, पर राम से सीता के कंगन की गाँठ नहीं खुल रहीं। महिलाएँ गा रही है-

नाथ कैसे गज कौ फंद छुड़ायौ
मोय यही अचरज जिय आयौ
खुलतहि नाय सियाजी कौ कंगन
वह बल कहाँ रे गमायौ?

हे नाथ! आज सियाजी का कंगन तुम से खोला नहीं जा रहा। मुझे संदेह हो रहा है कि आपने गज का फंद (गज को जब ग्राह ने पकड़ लिया था- गजेंद्र मोक्ष) कैसे छुड़ाया था, मुझे तो अचरज हो रहा है, उस बल का क्या हुआ? सूरदास जी के पद में इसका संदर्भ है।

कोई भी प्रतीक यों ही नहीं मान लिया जाता, उसके पीछे लोकजीवन की सुदीर्घ -परंपरा होती है, प्रतीक अर्थात् प्रतीति कराने वाला, विश्वास कराने वाला, भरोसे का साधन। मांगलिक प्रतीक का तात्पर्य मांगलिक- भाव का प्रतिनिधि।

भाव सूक्ष्म होता है। प्रतीक सूक्ष्म को स्थूल बनाता है। प्रतीक वस्तु भी हो सकता है और स्वर शब्द भी हो सकता है। उदाहरण के लिये शंखनिनाद-घंटानाद-तूर्यनाद, नौबत बाजै-नन्द के द्वारे, पुत्र जन्म के समय काँसे का बेला बजाया जाता है। शब्द जैसे स्वस्ति वाचन, शांतिपाठ, रुक्मिणी, पार्वतीमंगल, जानकीमंगल, तुलसीमंगल आदि। ये सब मांगलिक विधान के अंग हैं, मांगलिक भाव के प्रतिनिधि।

मंगल के विधान के साथ अमंगल का निवारण भी अनिवार्य है। विवाह में आंधी-पानी उपद्रव न करें, इसके लिये कन्या की माता एक पोटली भट्टी के सिरे पर गाड़ देती है- 'आंधीमेह को बंद करने का प्रतीकात्मक विधान।' प्रतीकात्मक विधान हमारी जीवनशैली में इतनी गहराई में विद्यमान है कि प्राय: ही हम उनकी उपेक्षा कर देते हैं, ध्यान नहीं देते।

बड़ी विवशता है कि लोकजीवन की अदम्य जिजीविषा के तेज को प्रकट करना। इसमें कोई संदेह नहीं, कि प्रतीक विधान लोकजीवन की अदम्य जिजीविषा का तेज है।

प्रश्न है कि प्रतीकविधान कितना सशक्त हो सकता है? इसका उदाहरण - तिरंगा है, जिसने स्वतंत्रता के आन्दोलन में जिजीविषा जगा दी। तिरंगा क्या है? राष्ट्रीयता का प्रतीक ही तो है। हमारे प्रत्येक पर्व और उत्सव में प्रतीकविधान मौजूद है। दशहरा आ रहा है, हम और आप रावण का पुतला जलायेंगे, राम का राज्याभिषेक करेंगे। रावण का पुतला अमंगल का प्रतीक है और राम का राजतिलक मंगल का विधान है। राजघाट पर गांधी की समाधि है, ज्योति जल रही है, आप पहले पुष्पचक्र अर्पित करेंगे, फिर परिक्रमा करेंगे। क्या यह प्रतीक विधान नहीं है, समाधि भी प्रतीक है, पुष्पचक्र भी प्रतीक है, ज्योति भी प्रतीक है और परिक्रमा भी प्रतीक है।

प्रश्न यह है कि प्रतीक क्या? प्रतीक 'भावना' है। मनुष्य की भावात्मक प्रक्रिया की परिणति। ऐसा नहीं है कि प्रतीक विधान भारत के लोकजीवन की ही विशेषता है, वास्तव में यह

मनुष्यमात्र की संपदा है और हर देश में है, उसके रूप भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। क्रॉस है, यह प्रतीक है। प्रतीक मनुष्य की भावशक्ति है। आज के हिसाबी-किताबी जीवन में भाव का भरण हो रहा है। बौद्धिक तर्क के आगे भाव की संवेदना दब जाती है या दबा दी जाती है। नफा-नुकसान का सवाल बड़ा हो गया है। इतिहास में ऐसे भी दौर आते हैं और चले जाते हैं, किंतु मनुष्य का जीवन विराट् है और वह नफा-नुकसान से नियंत्रित नहीं हो सकता। जो सैनिक अग्रिम मोर्चे पर वीरता का 'ध्वज-प्रतीक' लेकर खड़ा है, उसके पास 'भाव' है, भाव न होगा तो उससे ट्रेगर भी नहीं दबेगा, सारे अस्त्र-शस्त्र धरे के धरे रह जायेंगे। वीरता के कितने ही प्रतीक उसके चित्त पर उभरते हैं और जोश का संचार करते हैं। प्रतीक उसमें वीरता का संचार कर रहा है।

जीवन के तत्त्वबोध की दिशा में मनुष्य की सबसे बड़ी खोज या अनुसंधान -ईश्वर का आविष्कार है- ईश्वर की अवधारणा अनन्त, असीम, अव्यक्त, अलौकिक, विराट् और अमूर्त। अपरिभाषेय, अप्राप्य। यह मनुष्य के प्रतीक विधान की शक्ति है कि वह असीम को सीमा में बाँध लेता है, अप्राप्य को पा जाता है, विराट् को प्रतीकात्मक प्रक्रिया के माध्यम से वह मुट्ठी में बाँध लेता है। निराकार को साकार बनाता है, अतींद्रिय को इंद्रियगम्य बनाता है। काल की अनन्तता के ऊपर महाकाल की प्रतिष्ठा कर देता है। यह मनुष्य की पराजय नहीं है, यह मनुष्य की जीत है, वरना धरती पर कितने तूफान आये, कितनी बाढ़ आयीं, कितने भूकंप आये, कितनी बिजलियाँ गिरीं, कितने उल्कापात हुए, कितने ज्वालामुखी फटे, कितने महायुद्ध हुए, कितने अन्याय और अत्याचार हुए, कितने संक्रामक रोग फैले, कितनी बार गंगा-जमुना का पानी खून से लाल हुआ, किन्तु मनुष्य और मनुष्य की विजयपताका आज भी फहरा रही है। वह शक्ति कौन सी है, मनुष्य का स्वयं अपना ही विश्वास और प्रतीकविधान उसकी विश्वास प्रणाली का हिस्सा है। मनुष्य प्रतीक की पूजा कर रहा है- वह चाहे प्रतिभा की शक्ल हो या कोई ग्रंथ हो, या कोई तीर्थ हो अथवा वह किसी भी प्रकार की इमारत हो। अनगढ़ पत्थर हो, शक्तिस्थल पर ऐसा ही शिलाखण्ड हो। प्रतीकविधान की अनेक प्रक्रियाएँ हैं- कहीं वह अंश को अंशी का प्रतिनिधि बना लेता है, कहीं सदृशता को प्रतिनिधि मान लेता है। कहीं संपर्क और साहचर्य को आधार बनाकर प्रतीक की रचना कर लेता है। चक्र बड़ा महत्त्वपूर्ण प्रतीक है - जीवन की निरंतर गति।

चक्र हमारी सांस्कृतिक प्रणाली में रमा हुआ है। विष्णु का सुदर्शन चक्र हो या शाक्तों का श्रीचक्र और योगियों का षट्चक्र। बौद्धों का धर्मचक्र हो या अशोकचक्र। हमारी चिंतन प्रणाली में ऋतुचक्र, कालचक्र, भाग्यचक्र जैसी अनेक अवधारणाएँ हैं।

यही बात कमल के संबंध में कही जा सकती है। ब्रह्मा की उत्पत्ति कमल से है। लक्ष्मी का निवास लाल कमल है। सरस्वती श्वेतपद्मासना है। राधा के हाथों में लीला कमल। कमल को दीपावली पर चित्रित भी किया जाता है। तन्त्रशास्त्र में कई स्थलों पर पद्म तथा चक्र पर्याय बन गये हैं - सहस्रदल कमल, सहस्रार चक्र। श्रीचक्र में भी षोडशदल हैं।

ऐसा कोई मांगलिक अवसर नहीं, जब स्वस्तिक (सतियों-सतिआ) का अंकन न किया जाता हो। स्वस्तिक की व्याख्या अनेक प्रकार से की गयी है। कहीं गणपति के रूप में, तो कहीं प्रणव के रूप में और कहीं चतुष्पात ब्रह्मा के रूप में, कहीं 'चतुर्भुज' के रूप में।

यहाँ यह उल्लेख करना आवश्यक है कि पिछले सौ वर्षों में विश्व भर में लोकवार्ता अध्ययन के कितने ही पड़ाव आये हैं। आज 'लोक' का तात्पर्य (folk)अर्थात् सभ्यता के संसार से पृथक् मानी जाने वाली जातियाँ या समुदाय नहीं है, वे सभी सामान्य (कामन) लक्षण लोकवार्ता के अध्ययन की परिधि में आते हैं। आधुनिकता छिलका मात्र है, बर्बरता कहीं चली नहीं गयी। सामूहिक नरसंहार, बलात्कार, हिंसा यदि आदिम मानस के लक्षण हैं, तो वे सब आज के विश्व में सर्वत्र आतंक के रूप में छाये हुए हैं। वे परिस्थितियाँ, जिनके गर्भ से आतंक का जन्म होता है, इसी सभ्यता का उत्पाद हैं। इस विषय पर यथाप्रसंग विवेचन किया जा सकता है। यहाँ इतना ही कहना अभीष्ट है कि लोक का अध्ययन मनुष्य का अध्ययन है, आधुनिक मनुष्य भी मनुष्य है, जो वर्ग जन है, वह भी मनुष्य है। माना कि प्रतीकात्मक विधान आदिममानस की रचना है, मिथकीय मानस की रचना है, किन्तु आधुनिक कहा जाने वाला मनुष्य भी इसकी परिधि के बाहर नहीं है। हम यहाँ दिव्य प्रतीकों की चर्चा कर रहे हैं, जिनमें एक अलौकिक सत्ता का भावन किया जाता है, किन्तु हम

व्यावहारिक जीवन के प्रतीकों का उल्लेख करें तो 'नोट' एक कागज का टुकड़ा ही तो है, वह अपने आप में संपत्ति नहीं है, संपत्ति का प्रतीक है। प्रतिनिधित्व करता है, 'लोक' उसे प्रतिनिधि मानता है, भरोसा करता है इसलिये वह प्रतीक है। जिस दिन सर्वजन, सामान्यजन और समष्टिजन का रिजर्व बैंक की मुद्रा से भरोसा हट जायेगा, वह रद्दी बन जायेगा। प्रतीकविधान का प्राणतत्त्व लोकमान्यता है। विश्वास है, भरोसा है। मनुष्य के विश्वास की शक्ति को समझना होगा। लोक और शास्त्र दोनों ही विश्वास पद्धति की व्याख्या करते हैं। प्रतीकविधान जीवन में है, इसलिये कला अथवा सौंदर्यबोध में भी है तथा दर्शनशास्त्र की विभिन्न परंपराओं में भी है।

जैन परंपरा में स्वप्न प्रतीकों का उल्लेख है, जो परम मांगलिक है। वर्द्धमान (महावीर स्वामी) की माँ त्रिशला को चौबीस मांगलिक प्रतीक स्वप्न में दिखे- श्वेतगजराज, वृषभ, सिंह, लक्ष्मी, पुष्पमाला, चन्द्र, सूर्य, फहराती हुई ध्वजा, कलश, नीलमणि, लालरत्न, अग्निशिखा आदि।

दो त्रिकोणों को मिलाकर जो षट्कोण बनता है, वह शिवशक्ति का प्रतीक ऊर्ध्वत्रिकोण शिव, अध:त्रिकोण शक्ति। बिन्दु अनन्त असीम का प्रतीक है। रहीम ने लिखा था -

बिन्दु में सिंधु समात को कासों अचरज कहै।
हरेन हार हिरान रहिमन आपुहि आप में।।

अंतरिक्ष में ग्रह -नक्षत्र हैं और यज्ञ आदि अवसरों पर विभिन्न रंगों के अनाज (काली उड़द, मसूर, मूंग विभिन्न रंगों में रंगे अक्षत) की ढेरियों के माध्यम से उनके प्रतीक बना लिये जाते हैं। उनकी शांति के लिये विभिन्न रत्न और मोतियों की अंगूठियाँ पहनायी जाती है। यह सारा प्रतीकात्मक विधान है। प्रतिमाओं का प्रतीक विधान शंख, चक्र,गदा, पद्म, खड्ग, धनुषबाण इत्यादि को निदानविद्या के रूप में व्याख्यायित किया जाता है, जैसे -

रागस्वरूपपाशाढ्या क्रोधाकारांकुशोज्ज्वला।
मनोरूपेषु कोदंडा पंचतन्मात्रसायका:।

भगवती ललिता के हाथों में पाँच बाण हैं, वे तन्मात्रा हैं - रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्द। पाश राग का प्रतीक है। अंकुश क्रोध है। ईक्षुकोदंड मन का प्रतीक है। तन्त्रशास्त्र में इसका बहुत-अधिक विस्तार है।

महाभारत में पाणिवाद का प्रतिपादन है- पाणिमद्भ्य: स्पृहास्माकं यथा तव धनस्य वै। कहीं नहीं जाना, सबेरे-सबेरे उठ कर हाथों का दर्शन मांगलिक है-

कराग्रे वसते लक्ष्मी: करमध्ये सरस्वती।
करमूले तु गोविन्द: प्रभाते करदर्शनम्।।

हाथ का 'थापा' मांगलिक प्रतीक है। दीवाल पर थापा जाता है और विवाह में समधी की पीठ पर भी- पंचांगुलांक। 'सोने कौ गुड़ आ गंगाजल पानी' की तो बात ही अनोखी है।

तन्मे मन: शिवसंकल्पमस्तु। यह जीवन स्वयं ही मांगलिक है। शिव को देखें - साँप है, विष है, धतूरा है, कपाल है, श्मशान है, चिता भस्म है, सामान्यतया ये अमांगलिक ही हैं, किन्तु शिवभाव अमंगल को भी मंगल बना लेता है- चिताभस्म अंगरत्न बन जाती है। श्मशान शून्य का प्रतीक है। शिवभाव मांगलिक भाव का ही तो पर्याय है। हर जगह मंगल को ही रखना है, मृत्यु भी परम मांगलिक जीवन (पुनर्जन्म) को देखता है। देह बदलना है। आत्मा तो अमर है, यह है मनुष्य की प्रचंड जिजीविषा। कहीं हार नहीं मानती, हर स्थिति में मंगल का अनुसंधान कर लेती है। कहीं अष्ट मंगल प्रतीक हैं, कहीं षोडश मंगल प्रतीक हैं, कहीं चौबीस मंगलप्रतीक हैं। ये हैं, बिल्कुल ठीक बात है। इसके साथ ही एक ठीक बात यह भी है कि वास्तव में मंगल भाव है और भावना में जब मंगल बसता है तब सहस्रमंगल बन जाते हैं- गोवत्स, मीनयुगल, तांबूल, अक्षत से लेकर सिंदूर, चूड़ी, बिंदी, महावर तक जो चौंसठ उपचार हैं, वे सभी मांगलिक प्रतीक ही तो हैं। लोकजीवन की विश्वास प्रणाली में शकुन और यह प्रतीकात्मक विधान ही तो है। टोटके भी होते हैं। एक उदाहरण है- भाईदोज पर बहिन आयी, उसने घर के पिछवाड़े काँटे बिछाये और आँगन में उड़द बिखेरे-

पिछबारे सूर बिखेर बैरियरा सब भुरि भरें।
आँगन उरद बिखेर सिगरे भइया जुरि मिलें।।

घर के पिछवाड़े काँटों को बिखेरो, ताकि भैया के शत्रु कंटकों में उलझ कर मरें और आँगन में उड़द बिखेरो। जैसे उड़द

के दाने रूरि कर एक जगह आ जाते हैं, वैसे सभी भाई मिल जाये। वह दरवाजे पर जाकर कटेहरी के पत्तों को मूसल से कूटकर कहती है-

घर कूटे बैरियरा, भैया के बैरियरा।

मैंने भैया के बैरियों को कूट दिया, कुचल दिया, वे नष्ट हो गये। उसके साथ ही उसने भैया के माथे पर रोली का तिलक किया- विजय प्राप्त करो। भैया के माथे पर बहिन के द्वारा किया गया विजय तिलक। मेरी समझ में नहीं आता कि इससे बड़ा मांगलिक- प्रतीक और कौन सा है?

लोकवार्ताशास्त्री जानते हैं कि लोकजीवन ने इस प्रतीकात्मक विधान के द्वारा जीवन की अपराजेय शक्ति को प्राप्त किया है, अमंगल को दूर किया है। दीपावली के निशांत में बड़ी भोर दादी जग गयी है, वह बुहारी दे रही है- 'आ लच्छमी जा दलिद्दिर, आ लच्छमी जा दलिद्दिर।' टूटी बुहारी पर दीपक रक्खा, वह दीपक, जो घी और बत्ती होते हुए भी हवा के कारण रात को बुझ गया था, दीपक जलाया, बुहारी में जो खील बताशे आये, वे रक्खे और घूरे पर जाकर दरिद्र को रख आयी- जा दलिद्दिर। दरिद्र चला गया और संपदा की शक्तियाँ आ गयीं। दीपावली का सारा विधिविधान प्रतीकात्मक है।

एक दीपावली ही नहीं, हम प्रत्येक पर्व के विधान को देख सकते हैं, चौक काढ़ा जाता है, पटा बिछाया जाता है, थाल सजाया जाता है- सुपाड़ी, हल्दी की गाँठ, मौली, गंध, अक्षत, धूप-दीप, पान, जनेऊ, ध्वजा, नारियल, गोला, ऋतुफल। कहानी कही जाती है या गीत गाया जाता है, वह मांगलिक मंत्र या वाचन है। साथ ही जो चित्रण दीवाल पर किये जाते हैं, वे मंत्र हैं। वे चित्र वर्ष भर घर में रह कर अपनी उपस्थिति से जीवन में मंगल का संचार करते हैं। बात भावन की है। भाव की अनुपस्थिति अभाव की स्थिति है। जीवन का अनिवार्य तत्त्व है- भाव मांगलिक भाव। बाजार का भाव-नफा नुकसान है। बाजारवादी विश्व दृष्टि हमारे आंगन में भी खड़ी है- डाइन जैसी, पूतना बालघातिनी जैसी। चिंता की बात नहीं, कोई नयी बात नहीं। पूतना कब नहीं आयी, किन्तु मनुष्य की मांगलिक भावसत्ता ने उसका भी उद्धार ही किया।

राष्ट्रमंगल और विश्वमंगल की भी उपासना करने वाले लोग भाव की महत्ता को जानते हैं। भाव नहीं, तो पति-पत्नी नहीं, पिता-पुत्र नहीं, भाई-बहिन नहीं, परिवार का आधार भाव है। राष्ट्रीय भाव ही तो है। आजादी की लड़ाई इसी भाव से लड़ी थी। भाव का उदय होता है, तभी मनुष्य और मनुष्य के संबंध का जन्म होता है- मंगलं-मंगलं ब्रजभुविमंगलम्। जीवन और जगत् में सर्वत्र मंगल ही मंगल बिखरा हुआ दीखने लगता है -

मंगलं भगवान् विष्णुः मंगलं गरुड़ध्वजः।
मंगलं पुंडरीकाक्षो मंगलायतनं हरिः।
सर्वमंगलमांगल्ये शिवे सर्वार्थसाधिके।।

मंगल भाव का नाम भगवान् विष्णु है। मंगल भाव का नाम शिव है। जिधर दृष्टि जाय प्रत्येक वृक्ष, पल्लव, पुष्प, दूब इत्यादि मांगलिक प्रतीक बन जाते हैं और फिर मांगलिक प्रतीकों की परंपरा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में उतरती है।

लोकतंत्र जड़ें जमा रहा है। परन्तु भारतवर्ष के जनपदों में बसने वाली शत-सहस्र मानव जातियों की हजारों-हजारों साल पुरानी सांस्कृतिक धाराओं से परिचय प्राप्त करने का काम अभी भी प्रारंभिक अवस्था में है, अभी तक हमारे विश्वविद्यालयों (कुछ अपवादों को छोड़कर) में लोकवार्ता विज्ञान के स्वतंत्र विभाग बने नहीं हैं। केन्द्र के स्तर पर लोकवार्ता अकादमी नहीं है।

सरकारी और गैरसरकारी संस्थाओं में तथा व्यक्तिगत स्तर पर जो कार्य आगे बढ़ रहा है, वह व्यक्तिगत सदिच्छा और संकल्प का प्रतिफल है। किन्तु यह कार्य इतना विशाल है, हजारों-हजारों हाथ लगें और जगन्नाथ के रथ को खींचे। प्रत्येक जनपद, प्रत्येक प्रदेश, प्रत्येक मानव समुदाय और जाति के मंगल प्रतीकों का सर्वेक्षण-संकलन अभी नहीं हुआ। जैसे लोकगीत, लोककहानी, लोकोक्ति आदि का अध्ययन होता है, संकलन संग्रह होते हैं, वैसे मांगलिक प्रतीक लोकविज्ञान का महत्त्वपूर्ण अध्याय है। उनका महत्त्व मिथक और लोकगाथा के समकक्ष है। वे भी लोक की प्रकृति के निरूपक हैं।

प्रतीक देशज होता है। प्रतीक का परिवेश के साथ अभिन्न संबंध होता है। नागजाति का मांगलिक प्रतीक सर्प है। अग्रवालों

में नागपंचमी के दिन द्वार पर नाग चित्रित किये जाने की प्रथा है– यह नाग संस्कृति का मांगलिक विधान है। गरुड़ ध्वज गरुड़ जातियों (कबीलों, गजों) का मांगलिक प्रतीक है, जो विष्णु मंदिरों में होता है। यह प्रतीक हजारों वर्ष पुराना है। गोपसंस्कृति का मांगलिक प्रतीक गाय है। गोबर में लक्ष्मी का निवास है। अनेक मांगलिक प्रतीक गोबर से ही अंकित किये जाते हैं। यह प्रतीकविधान ही तो है। सूरदास के पदों में 'गोरोचन तिलक दिये' का संदर्भ है।

प्रतीकात्मक बलिदान भी होता है। गोला (नारियल) फोड़ना, तरबूजा काटना प्रतीकात्मक बलिदान है। संकटचौथ पर तिलकुटे की मानवाकृति बनायी जाती है, फिर किसी बालक के द्वारा चाकू से सिर काटा जाता है, उसी समय कोई 'मैंऽऽ' की ध्वनि करता है। श्राद्धों में उड़द की दाल तथा अदरक की चरूरी मांस का प्रतीक है। ये अवशेष हैं, उस वन्य जीवन के, जब कृषि का आविष्कार नहीं हुआ था।

अवश्य ही मांगलिक प्रतीक संस्कृतशास्त्र का सूत्र होता है, जैसे पाणिनि के सूत्र हैं व्याकरणशास्त्र में, किन्तु उनकी व्याख्या समूचे प्रतीक–विधान के साथ ही हो सकती है, लोकजीवन की विश्वास प्रणाली इन सूत्रों में समायी हुई हैं।

उदाहरण के लिए कलश को लें। नवरात्र चल रहे हैं। मेरा मन सासनी वाली भुआजी के आँगन में चला गया है, जहाँ इस समय गली– मुहल्ले की सास–बहू, बहिन–बेटी, द्यौरानी–जेठानी और सगी–सहेली इकट्ठी होकर ढोलक पर गीत गा रही होंगी–

कलश छबरि भरि लाऊँ बधायौ मोरी माय कौ।

रेत बिछाकर उसमें जौ बोये जाते हैं और बीच में कलश स्थापित करके उसे कच्चे सूत से लपेट दिया जाता है। कलश में जल भरते हैं, सुगंधित द्रव्य और वनस्पतियाँ डालते हैं तथा आम, जामुन, अशोक, वट और पीपल के पत्ते रखकर उनपर एक नारियल प्रतिष्ठित कर दिया जाता है। यह दिव्यता की रहस्यात्मक प्रक्रिया है।

ध्यान देने की बात है कि कोई भी मांगलिक विधान, पूजन और संस्कार कलश के बिना संपन्न नहीं होता। ठीक इसी प्रकार से जब किसी की मृत्यु होती है, तब अर्थी उठाते समय घड़ा फोड़ा जाता है। दाह के समय भी घड़े को फोड़ा जाता है और एकादशाह के दिन फूटे घड़े में 'दशाहदीप' गंगा–जमुना में प्रवाहित किया जाता है– पीछे मुड़कर मत देखना। जन्म से लेकर मृत्यु तक कलश उपस्थित है। पूरे प्रतीक विधान के साथ कलश का अर्थ समझना होगा, केवल 'मांगलिक कलश' की व्याख्या अधूरी है। प्रत्येक संदर्भ में उसके भिन्न–भिन्न अर्थ हो सकते हैं, किन्तु हमारे अध्ययन का केन्द्र अविच्छिन्न परंपरा है। परंपरा से विच्छिन्न कर दें तो घड़ा पचास–साठ रुपये का जल भरने का सौदा है, और कुछ नहीं। परंपरा के बीच ही कलश मांगलिक प्रतीक कहा जायेगा। परंपरा प्रधान है, इसलिये कलश प्रधान है। जो भी व्याख्या होगी, वह परंपरा के साथ होगी, तभी उसकी प्रामाणिकता होगी अन्यथा वह 'मन–गढ़न्त' बात होगी। हालांकि मनगढ़न्त का भी कोई–कोई प्रमाण होना आवश्यक होता है। मंदिरों के शिखर पर कलश स्थापित किये जाते हैं। आकाश में एक नक्षत्र राशि का आकार कुंभ जैसा है। महर्षि अगस्त्य–कुंभोद्भव हैं–अवाप्तावेकदेहेन कुंभाज्जन्म तपोधन। कुंभ की व्युपत्ति है– कुं भूमि कुंभति–जलेन गंधेन पूरयति। देवता और दानवों ने मिलकर समुद्रमंथन किया, समुद्र से चौदह रत्न निकले, किन्तु जिस रत्न पर दोनों का सबसे अधिक ध्यान था, वह एक कुंभ था– अमृत कलश। उस कुंभ से छलक कर कुछ बूंदें हरिद्वार, नासिक, प्रयाग और उज्जैन में गिरीं, उन्हीं का स्मरण करने के लिये हर बारह सालों में इन तीर्थों पर कुंभ का महापर्व होता है। कुंभ अमृत संस्कृति का पर्याय है–

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।

प्रतीकविधान का अध्ययन वास्तव में मनुष्य के मनस्तत्त्व का अध्ययन है, विश्वास का अध्ययन है, भाव का अध्ययन है। प्रतीक एक लिपि है, एक संपूर्ण भाषा है, जहाँ भाषा अरूप हो जाती है, वहाँ प्रतीक अर्थ का प्रकाश करता है। इसमें संस्कृतिसूत्र लिखे हुए हैं– विश्वास प्रणाली, विचार प्रणाली, जीवन मूल्य, जीवन के प्रेरक तत्त्व, जीवन का प्रयोजन, सौंदर्यबोध तथा अभिव्यक्ति प्रणाली। प्रतीक लोक की स्वीकृति है। प्रतीक जीवन का सहचर और सहायक है।

संस्कृति के लोकप्रतीक

वसन्त निरगुणे

लोक प्रतीक एक संकुल है। प्रतीकों के बिना लोक की कोई पहचान या अवधारणा नहीं हो सकती है। लोक के स्वरूप को समझने के लिये हमें लोक प्रतीकों को पहले खोलना और फिर समझना आवश्यक है। लोक में प्रतीकों की समृद्ध और लम्बी परम्परा मौजूद है। जीवन के हर क्षेत्र में प्रतीक प्राणवायु की तरह समाहित हैं। प्रतीकों को समझना मनुष्य की अस्मिता को समझना और समझाना है।

प्रतीक हमारी संस्कृति के सबसे जाज्वल्यमान नक्षत्र हैं। जितने चमकीले आकाशीय नक्षत्र हैं, उतने ही धरती के ये नक्षत्र लोकजीवन को प्रकाशित करते हैं। प्रत्येक संस्कृति के अपने भिन्न-भिन्न प्रतीक होते हैं। प्रतीक संस्कृति को गढ़ते हैं और उसके संवाहक भी हैं। प्रतीक में किसी भी संस्कृति की सच्ची आत्मा का दर्शन हो सकता है। प्रतीक संस्कृति के सारभूत चिह्न हैं। जिस प्रकार एक बीज में पूरा वृक्ष समाया रहता है, उसी प्रकार प्रतीक में संस्कृति के सारतत्व समाये होते हैं, जो प्रत्यक्ष में अनन्त अर्थ और आशय के रूप में खुलते हैं। एक संस्कृति में सैकड़ों प्रतीक पाये जाते हैं, जिससे उस संस्कृति की खास पहचान बनती है। भारत की विविधवर्णी लोक संस्कृति में अनगिनत प्रतीक प्रचलित हैं। आदिम संस्कृति के अपने आद्यय प्रतीकों का संसार सर्वथा भिन्न है। आदिम और लोकजीवन में असंख्य प्रतीक आदिकाल से विभिन्न अनुशासनों में व्यवहृत होते आये हैं।

प्रतीक क्या हैं? प्रतीक एक प्रकार का चिह्न (Symbol) है। प्रतीकों को प्रायः चिह्न से पहचाना जाता है, जिससे संस्कृति के किसी पहलू के गूढ़ार्थ की प्रतीति होती है। संस्कृति में प्रचलित प्रतीकों के रूप अर्थ और आशय परम्परा से निश्चित हैं। प्रतीक का प्रयोग किसी वस्तु या संघटना के बदले किसी विशेष गूढार्थ को प्रकट करने के लिए किया जाता है। प्रतीक रूप नहीं है, बल्कि

रूपात्मक है। रूपक में एक वस्तु दूसरी वस्तु को पूरी तरह ढँक लेती है। आरोपण आच्छादन रूपक है जैसे नेत्र–कमल। यहाँ नेत्र पर कमल को आरोपित कर दिया है, इसलिए यहाँ यह रूपक है, लेकिन कमल नेत्र प्रतीक एक वस्तु दूसरी वस्तु पर आरोपित नहीं होती, बल्कि सादृश्यता के रूप में उस वस्तु और उसके अर्थ में दिखाई देती है, ताकि प्रतीक के निहितार्थ तक पहुँचा जा सके। प्रतीक में सादृश्य वस्तु के नाम का उपयोग अनिवार्य नहीं होता है। वहाँ मूल वस्तु समानता के आश्रय में अपने आपमें कई अर्थ और आशय ग्रहण कर लेती है। लोकमनीषा उसमें अपने पारम्परिक चिंतन से गूढ़ार्थ भरती चलती है।

प्रतीक वस्तु या चिह्न तो वही रहता है, उसमें दूसरी समान वस्तु का अभिप्राय समाहित हो जाता है। मराठी के विख्यात लेखक श्री महादेव शास्त्री जोशी से सहमत हुआ जा सकता है कि प्रतीक रूप–सादृश्य होता है। प्रतीक में रूप सादृश्य का अभिप्राय होता है। उसमें सादृश्य का महत्त्व नहीं होता। 'प्रतीक का संबंध आशय अथवा अर्थ से होता है। अरूप, अदृश्य, अव्यक्त तथा अचिन्त्य आदि अनेक भाव प्रतिमा में नहीं दिखाये जा सकते हैं। ये प्रतीक के रूप में दिखाये जा सकते हैं।'

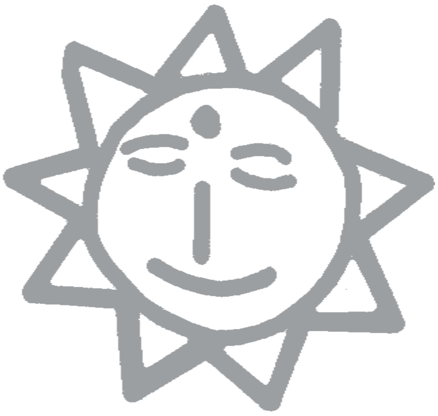

लोक प्रतीक रूप सादृश्य के साथ गुण सादृश्य भी होता है, इसलिए यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि प्रतीक रूप–सादृश्य होता है। जैसे सूर्य, दिन–प्रकाश और गति का प्रतीक है तो गुण के कारण है। इसमें रूप गौण है। प्रतीक में गुण साम्य की अधिक गुंजाइश होती है, जबकि रूप साम्य कहीं–कहीं पाया जाता है। जैसे गोल आकार हर जगह सूर्य और धरती का प्रतीक होता है, क्योंकि सूर्य और धरती का आकार शाश्वत रूप से गोल माना गया है। लोकचित्रों में गोल वस्तुओं का प्रयोग धरती और सूर्य के प्रतीक के रूप में किया जाता है। इसी प्रकार लोकचित्रों में पेड़ या पौधा बनाया जाता है, तो प्राय: कल्पवृक्ष और तुलसी का प्रतीक माना जाता है।

प्रतीक लोकजीवन के सूत्र हैं। इन सूत्रों में जीवन के अनुभव का सार समाया होता है। मनुष्य ने अपने अनुभव के जो निष्कर्ष निकाले हैं, उन निष्कर्षों को सुरक्षित रखने के लिए उसने संकेत, बिम्ब, प्रतीक और मिथकों का सृजन किया। इन अभिप्रायों में मनुष्य ने प्रकृतिजन्य अनुभव और अपने इतिहास, धर्म–दर्शन, देवी–देवता, समाज, संस्कृति, साहित्य और कला आदि के उन सभी उन्मेषों को सुरक्षित कर लिया, जो मनुष्य को मनुष्य बनाते हैं। इसलिए प्रतीक लोकविश्वास और लोकचिन्तन को समझने के सनातन चिह्न हैं।

कोल लेवी त्रोस ने अमेरिकन जनजातियों के प्रतीकों और मिथकों पर काम करते हुए लिखा है–'जनजातियों के आदिम प्रतीक और मिथक उनके प्रारंभिक विकासशील जीवन के दस्तावेज हैं, जो उस काल के मनुष्य के सोच और समझ के सारे तत्त्वों को प्रकट करते हैं। मनुष्य की इस संचेतना को हर देश, काल और परिस्थिति में अभिव्यक्ति मिली है।'

– श्री महादेव शास्त्री जोशी – हमारी संस्कृति के प्रतीक

आदिम मानव प्रकृति के हर रहस्य को अपनी बुद्धि और रीति से जानना चाहता था। जानने की यह प्रक्रिया मानव विकास के साथ निरंतर जारी रही है। मनुष्य के विकास का लेखा–जोखा अर्थात् इतिहास मनुष्य के इसी प्रयास के कारण और भाव में विविध विधाओं में संरक्षित होता चला गया। प्रकृति के रहस्य और मानव इतिहास की कड़ियाँ और उसे जानने की प्रज्ञा प्रतीक में निहित होती चली गई। बहुत हद तक मनुष्य प्रतीक और मिथक के सहारे प्रकृति के रहस्यों की खोज और छान–बीन करने में सक्षम रहा है। उसने सूर्य, चाँद, पृथ्वी, जल आदि की उत्पत्ति संबंधी रहस्यों को अपने प्रतीक और मिथक के सहारे खोजा है और उसने उसके अपनी तर्क और कल्पनाशक्ति से उत्तर भी दिये हैं, यही उत्तर प्रतीक और मिथक हैं।

प्रतीक का निर्माण सम्पूर्ण लोक वैज्ञानिक के आस–पास हुआ है, क्योंकि प्रतीक किसी न किसी ऐसे लोक सत्य के केन्द्र

तक पहुँचता है, जहाँ तर्क और कल्पनाशक्ति हतप्रभ हो जाती है, इसलिये यह कहना उपयुक्त होगा कि प्रतीक एक वैज्ञानिक संकल्प है, जिनमें मन की स्थूल से लगाकर संश्लिष्ट समस्याओं को सुलझाने की पूरी क्षमता है। मंत्रों में मूलत: प्रतीकों का प्रयोग है, जो मनुष्य की पराभौतिक और आधिभौतिक आपदाओं पर काबू पाने के अचूक उपकरण हैं। वैदिक साहित्य में मंत्र और सूक्त भाषाई प्रतीक हैं, जिनके एक ही स्थान पर कई-कई अर्थ और आशय हैं। वैदिक मिथक और प्रतीकों का वेदों के बाद के साहित्य में अत्यधिक प्रयोग मिलता है। आज भी भारतीय साहित्य में वैदिक प्रतीक और मिथक, रचनाकारों को उतने ही प्रभावित करते हैं, जितने पुराने समय में करते थे। प्रतीक संसार की हर संस्कृति में मिलते हैं और उनमें एक तरह की समानता भी होती है। मनुष्य-संस्कृति में दो जगत बहुत स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं। एक प्रत्यक्ष यथार्थ जगत् और दूसरा कल्पनाजन्य प्रतीक-मिथक जगत्। लोकमनीषा इन दोनों जगत में संतरित होती रहती है। बाह्य जगत से अधिक सुंदर और रहस्यमय मनुष्य द्वारा जनित प्रतीक-मिथक जगत् होता है। उसे समझने के लिए मनुष्य को विशेष प्रयास करना पड़ता है।

यह विशेष प्रयास ही मनुष्य को भाव की उच्चतम भूमि पर ले जाता है, जहाँ उसका एक कल्पना का संसार-मौजूद होता है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने प्रतीक और मिथक को इसी कल्पना संसार का मार्ग बताया है, उन्होंने प्रतीकार्थ में कहा है- 'ऊपर से देखने पर झूठ मालूम हो और गहराई में जाने पर जो सत्य मालूम हो। इसलिए घूम-फिर कर मनुष्य प्रतीक और मिथक तत्त्व का आश्रय लेता है।'

भाषा और लिपि शब्द प्रतीक हैं। भाषा और लिपि से पूर्व श्रुतिपरम्परा में प्रतीक की उपस्थिति रही है। आज भी लोक और आदिम समूहों की वाचिक परम्परा में प्रतीक और मिथकों की श्रुति की आलोकमयी उपस्थिति दिखाई देती है। डॉ. प्रभाकर नारायण कवेकर ने लिखा है- 'लोक के बिना अलौकिक का अस्तित्त्व नहीं है। आज भी मिथक साहित्य से लोक संस्कृति की परम्परा का ज्ञान होता है, इसलिए कहता हूँ लोकजीवन आलोकित होने पर मिथक साहित्य का जन्म होता है। सूर्य, चन्द्र, मानव, इन्द्र इत्यादि देवता या ऋषि उन्हीं की क्रिया-कलापों की प्रतीकात्मकता तत्कालीन मिथकों के रूप में द्रष्टव्य है। प्रतीक नायक-नायिका, खलनायक, घटना, दुर्घटना आदि से लगाकर मनुष्य के लोकव्यवहार में प्रकट होता है। जैसे -राम मर्यादा के प्रतीक हैं और रावण दुष्टता का प्रतीक है। सीता पवित्रता की और सावित्री पतिव्रता नारी की प्रतीक है। भारतीय माइथालाजी में हजारों प्रतीक और मिथक उपलब्ध हैं, मिथक साहित्य में प्रयुक्त प्रतीकों से इतर आज तक कोई प्रतीक नहीं गढ़ा गया है। प्रतीक और मिथकीय परम्पराओं के मूल में मानव के ज्ञान-विज्ञान का अभिज्ञान है। भारतीय आद्यय और पौराणिक आख्यानों में प्रतीकों का वैभव संकलित है। देवी-देवताओं के सारे स्वरूप और उनके वाहन प्रतीकात्मक हैं। पेड़-पौधों, पशु-पक्षी तक में प्रतीकों का आरोपण कर मनुष्य ने अपनी जिज्ञासा की गुत्थी सुलझाने की कोशिश की है।

प्रतीकसंसार बहुआयामी है। वह जीवन की विभिन्न जटिलतम और सूक्ष्म से सूक्ष्म धरातलों को छूने की कोशिश करता है, उन्हें खोलने की भी कोशिश करता है। मनुष्य ने प्रतीक और मिथक को इतना संश्लेषी बनाया है कि वे प्रकृति की शक्तियों की तरह व्यक्त होते हैं।

प्रतीक जब विकसित होकर कथा का रूप ले लेता है, तब वह मिथक बन जाता है। सत्य की कहानी मिथक या मिथकथा है।

मिथक आदिम इतिहास की पुराकथाएँ हैं और प्रतीक उन कथाओं की कलात्मक बनावट है। जन्म से लेकर मृत्यु तक प्रतीक और मिथकों का फैलाव है, बल्कि यह कहना अधिक सार्थक है कि जन्म-मृत्यु से परे तक भी प्रतीक और मिथक की

पहुँच है, जहाँ तक आत्मा-परमात्मा और ब्रह्माण्ड का रहस्य छिपा हुआ है। प्रकृति के रहस्यों के पीछे तक झाँक लेने की ताकत प्रतीक और मिथक दोनों में है। प्रतीक और मिथक के रूप में मनुष्य ने ऐसे अमोघ अस्त्रों का निर्माण कर लिया, जिसकी शक्ति अपार है। जिनके प्रयोग से मनुष्य के लिए कोई रहस्य, रहस्य नहीं रह जाता, बल्कि युगों के प्रश्नों के समाधानी उत्तर उसमें मिल जाते हैं।

विश्व एक रंगभूमि का प्रतीक है, यहाँ हर एक जीव अपनी-अपनी भूमिका निभाने आता है और चला जाता है, संसार असार है। ऐसे कई प्रतीक हमारे लोक में फैले हैं। गोत्रचिह्न जातीय पहचान के प्रतीक हैं। निषेध अच्छे जीवन की प्राप्ति के प्रतीक हैं। अनुष्ठान, पूजा-पाठ, नृत्य, गीत, उत्सव, पर्व-त्योहार जीवन के सुख और दु:ख आदि के अलग-अलग प्रतीक हैं। कहने का मतलब जीवन का कोई ऐसा कोना नहीं है, जहाँ प्रतीक न पहुँचे हों।

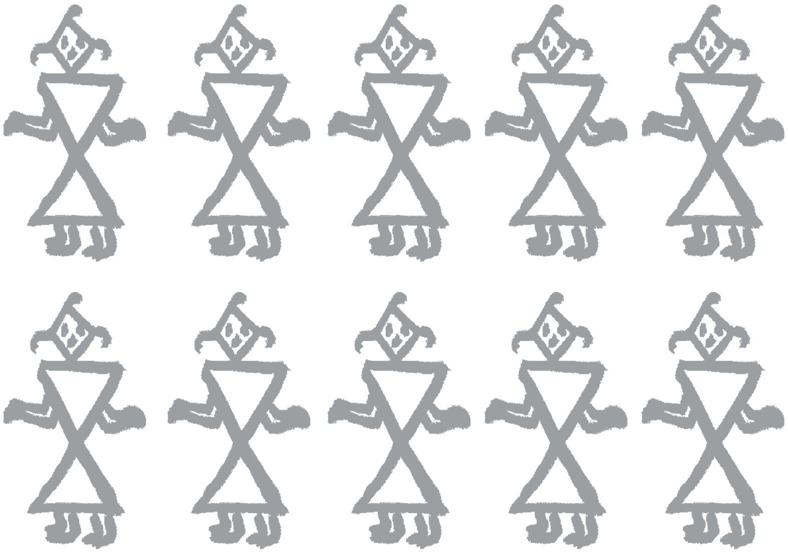

प्रतीक और मिथक का सृजन और उसकी परम्परा आदि मानव काल से चली आ रही है, क्योंकि मनुष्य ने अपनी संस्कृति की व्यवस्था में गूढ़तम अभिव्यक्ति के लिए प्रतीक और मिथक को सबसे शीर्ष, सक्षम और नजदीक पाया है। इसका प्रमाण हमें प्रागैतिहासिक सभ्यताओं से प्राप्त अवशेषों में मिल जाता है। प्रतीक और मिथक लोकजीवन की संस्कृति की अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम आज भी है। विश्व के लोक और आदिम समुदायों में प्रतीक और मिथक की मौखिक एवं लिखित परम्परा उनकी मूल्यवान सांस्कृतिक धरोहर की परिचायक है।

हमारे आस-पास के प्रतीकों से हमारा रोज का व्यवहार है, इसलिए हम उनकी तरफ ध्यान नहीं दे पाते, लेकिन इसका यह मतलब नहीं है कि उन प्रतीकों का कोई महत्त्व नहीं है। प्रतीक तो अपना काम प्रकृति की तरह बराबर कर रहे होते हैं, आप ध्यान दें या न दें। जैसे दिन होता है, रात होती है। दिन का होना कई क्रियाकलापों का प्रतीक है। दिन का मतलब सूर्य का उदय होना, पक्षियों का चहचहाना, लोगों का जागकर काम में लग जाना, किसान का खेत की ओर चल देना आदि। इन सब अर्थों की ओर हमेशा सबका ध्यान नहीं जाता, लेकिन ये क्रियाएँ दिन के होने में समाहित हैं।

आदिम काल के मानव ने सबसे पहले सूरज और चाँद को नियमित रूप से आते-जाते देखा, उसने देखा, सूरज के आते ही अंधेरा भाग जाता है, पक्षी चहचहाने लगते हैं, उसे ऐसा लगा होगा कि सूरज के आते ही सारी प्रकृति गतिशील हो गई है, इसलिए उसने सूर्य को प्रकाश, गति और काल का प्रतीक माना। चन्द्रमा को शीतलता का प्रतीक बनाया। धरती और आकाश को छत्रछाया बनाया। मनुष्य ने नदी को देखा, पहाड़ को देखा, हवा को, आँधी को देखा, बादलों को बरसते देखा, फल में से निकले बीज से पौधे को उगते देखा, पौधे को विशाल वृक्ष बनते देखा। वृक्ष पर नये फल-फूल आते देखा। पशु-पक्षियों के बच्चे होते देखा। फिर मादा-गंध से प्रभावित हो कामेच्छा के वश में नये मनुष्य का जन्म हुआ। एक दिन जर्जर आदमी का निश्चेष्ट हो जाना भी देखा। आदमी के मर जाने पर उस समय के पहले आदमी के मस्तिष्क में यह विचार जरूर आया होगा कि शरीर में से ऐसी कौन सी चीज निकल जाती है, जो शरीर को चेतनता प्रदान करती थी, आखेट करते समय भी पशु को भाला लग जाने के बाद उसके प्राण जाते होंगे, तब भी आखेटक मानव को ऐसा ही महसूस हुआ होगा। जो पशु अभी इतनी तेजी से दौड़

रहा था, भाला लगते ही ऐसी कौन सी शक्ति शरीर से निकल गई है, जिससे पशु मृत हो गया। यहीं से अध्यात्म का जन्म हुआ होगा।

शरीर से जो वस्तु निकल जाती है, उसे मनुष्य ने प्राण तत्त्व, आत्मा या जीव जैसी शक्ति की कल्पना की। बाद में हंस को आत्मा का प्रतीक माना गया। प्रकृति में समय पर पानी बरसता है, धूप आती है, धरती में बीज उगता है, हवा चलती है। मनुष्य की बुद्धि हैरान हुई और उसने सोचा इन रहस्यों के पीछे कोई एक नियंता शक्ति है। वह शक्ति ईश्वर है। बीमारी, मृत्यु दु:ख, तकलीफ के लिये बुरी शक्तियों को जिम्मेदार ठहराया। इन सारी घटनाओं के पीछे धीरे-धीरे प्रतीक और मिथक बनने की पीठिका तैयार हो रही थी।

मनुष्य ने रहस्यमयी ताकतों को अनुकूल बनाने तथा कुटुम्ब, कबीले, परिवार और समाज की खुशहाली के लिए अनुष्ठान, पाठ-पूजा, नृत्य-गीत, पर्व-उत्सव त्योहारों आदि की सृष्टि की। जादू-टोना, तंत्र-मंत्र आदि की पराविधियाँ विकसित कीं। संकेत भाषा का विकास किया। बिम्ब, अभिप्राय, प्रतीक और मिथक बने। मिथक से धर्म बना। संस्कृति का जन्म हुआ और सम्पूर्ण मानव की यात्रा शुरू हुई। मृत्यु के बाद पुनर्जन्म की अवधारणा का जन्म हुआ। स्वर्ग और नरक की कल्पना की गई। ऋग्वेद में स्वर्ग को 'ज्योतिष्मान लोक' कहा है और धर्म-कर्म की व्याख्याएँ बुनी गई। शरीर के रहस्यों का पता लगाया गया। आत्मा को समस्त सृष्टि का केन्द्रीय प्रतीक बनाया गया। धर्म-दर्शन के तर्कों के आधार पर परखना शुरू हुआ। तंत्र-मंत्र और योग की धारा बनी। वाचिक परम्परा में गीत, कथा, गाथा, कहावत, पहेलियों का सूत्रपात हुआ। जीवन को अधिक से अधिक सुंदर बनाने की पद्धतियाँ विकसित हुईं। जीवन की विभिन्न विधाओं के शास्त्र बने, तर्कपूर्ण व्याख्याएँ हुईं। वैदिक ऋचाएँ बनी, उपनिषद् बने, पुराण लिखे गये। मनुष्य की बुद्धि का जो कुछ भी सर्वश्रेष्ठ निकष था, वह लोकजीवन के प्रत्येक क्षेत्र में दिखाई देने लगा। धर्म और संस्कृति की सरणियाँ बनी। उसमें सारी दुनिया बँट गई। इससे सबसे बड़ा फायदा यह हुआ कि विश्व के सभी धर्मों और संस्कृतियों में अनेक प्रतीक और मिथक बने, अनेक आख्यान और रूपक बने। ऋषि और देवता बने। जिनमें अपनी-अपनी धरती, प्रकृति और संस्कृति की व्याख्या में अनगिनत प्रतीक और मिथक बने। इसलिए अनादिकाल से प्रतीक और मिथक प्रतीकात्मक ढंग से लोकमानस के गहरे धरातलों में बसे। इस प्रकार अनादि सत्यों का समूर्त प्रतिपादन दिखाई दिया। मिथक और प्रतीक की संरचना इतनी सरल भी नहीं है कि हर कोई उसे सहजता से समझ सके। प्रतीक और मिथक अपने आप में एक जटिल और संश्लिष्ट संरचना है, जिसका निर्माण-एक दिन में नहीं होता, संवेदना के तीव्रतम क्षणों में इनका संगठन अनेक स्तरों पर होता है। एक प्रतीक और मिथक को बनने में कई युग लग सकते हैं। प्रतीक और मिथक की प्रामाणिकता के लिये लोक की सहज स्वीकृति की भी जरूरत होती है। जरूरी नहीं कि किसी प्रतीक या मिथक को लोक की स्वीकृति मिल ही जाय, इसके लिए किसी प्रतीक मिथक को कड़ी अग्नि-परीक्षा से गुजरना भी पड़ता है। कई प्रतीक और मिथक समय से बाहर भी हो सकते हैं, लेकिन उनके स्वरूप और संगठन पर किसी प्रकार का प्रभाव नहीं पड़ता है। समय की उपेक्षा की राख में ऐसे प्रतीक और मिथक दबे रहते हैं, लेकिन समय आने पर राख हटते ही फिर से उनमें वही चिंगारी फूट पड़ती है। प्रतीक और मिथकों का प्रचलन भले ही कम हो, लेकिन उनकी प्रासंगिकता सदैव बनी रहती है। डॉ. विजेन्द्र स्नातक ने कहा है-'यदि प्रतीक और मिथक का अस्तित्व न होता तो काव्य, कलाएँ भी निर्जीव और नीरस ही रहते। 'यह तो सर्वमान्य सत्य है कि प्रतीक और मिथक जहाँ भी हैं, अपना अर्थ और आशय प्रकट करते हैं, अपना पूरा प्रभाव छोड़ने में सक्षम होते हैं। उनकी आभा कभी कम नहीं पड़ती है।

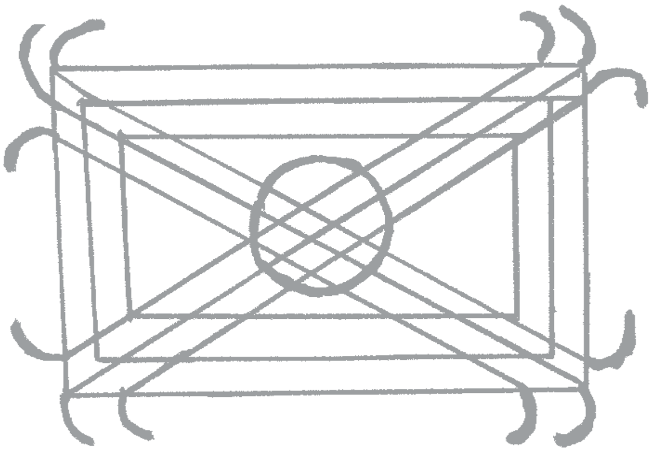

प्रतीक और मिथक कालगणना की आदिम विधियाँ हैं। इनमें समय के चिह्न अंकित होते हैं, उसके आधार पर उस काल की संस्कृति की मान्यताओं से रूबरू हुआ जा सकता है। प्रतीक काल के पदचिह्न हैं। पौराणिक आख्यान में आये प्रतीक उस काल की स्थिति, अवधारणा और इतिहास को व्यक्त करते हैं। प्रतीक संस्कृति के दर्पण हैं। आदिम प्रतीकों में आद्यय संस्कृति की झलक देखी जा सकती है। आद्यय प्रतीकों में आये लोक विश्वासों और अभिप्रायों की प्राचीनता हमें गुहामानव का स्मरण करा देती हैं।

लोक के मौखिक साहित्य के प्रतीक और मिथक ज्यादा से ज्यादा वैदिक आख्यान तक जाते हैं, लेकिन आदिम पुराख्यान की परम्परा मानव को ठेठ आद्य संस्तरों तक पहुँचाती है। बस फर्क यही है कि प्रायः लोक के प्रतीक और मिथक श्रुति अर्थात् वैदिक और उत्तरवर्ती साहित्य में लिखित रूप में मिलते हैं, इसलिए उनकी समय संबंधी अवधारणाओं की प्रामाणिकता असंदिग्ध है। आदिम समाजों की जीवनकला, वाचिक और अनुष्ठान परम्परा में भी गौर से देखने से काल चिह्नित आद्य प्रतीक और मिथक आज भी मिल सकते हैं।

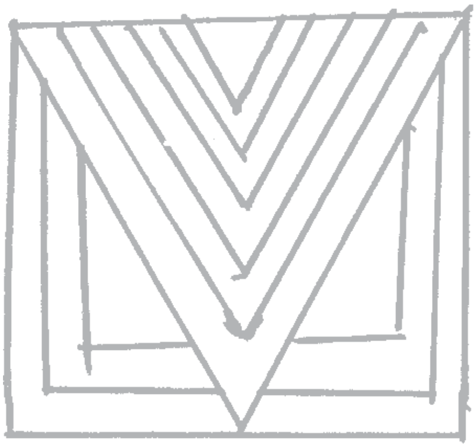

लोक में कोई भी संवेदनशील बात प्रतीक रूप में कही जाने की परम्परा है। वाचिक परम्परा में शब्दों के माध्यम से, रूपंकर कलाओं में रंग-रेखाओं और आकृतियों के माध्यम से तथा प्रदर्शनकारी कलाओं में स्वर, लय, ताल, नृत्य, अभिनय और गीत, कथा के माध्यम से प्रतीक साकार होते हैं। भाषा स्वयं एक प्रतीक है। विश्व का व्यवहार प्रतीकों के माध्यम से होता है। आदिकाल से जीवन के हर पहलू प्रतीक के माध्यम से हो है। अभिव्यक्त होते आये हैं। अर्थ, बिम्ब, अभिप्राय से मिलकर प्रतीक बनता है।

प्रकृति के गूढ रहस्यों को समझने में मनुष्य ने अपनी कल्पना और तर्कशक्ति से जो बिम्ब चुने, संकेत चुने, वही प्रतीक कहलाये। प्रतीक केवल शब्दार्थ नहीं होते, उनका प्रयोग किसी सूक्ष्म केन्द्रीय आशय को पकड़ने के लिये किया जाता है। प्रतीक के माध्यम से वहाँ तक पहुँचा जा सकता है, जहाँ तक लोकमनीषा अपनी बात को कहना चाहती है या जो अभीष्ट है, वहाँ तक पहुँचने का मार्ग प्रतीक है। आदिम मानव ने अपने विकास की अवस्था में जितने प्रतीकों की रचना की, उतनी किसी परवर्ती सभ्यकाल में रचना नहीं हुई। इसका कारण आदिम मानव की अभिव्यक्ति, जिज्ञासा, भाषा और कला में वह अपने अनुभव के सूक्ष्म से सूक्ष्म तानों-बानों को बुन देना चाहता था। इसलिए भाषा और कला आदिम मानव द्वारा रचे प्रतीकों का ताना-बाना है।

आदिम और लोकबोलियाँ मूलतः मौलिक, सामान्य, सनातन, असंख्य प्रतीकों का खजाना हैं। आदिम और लोककलाओं की प्रतीकयोजना में प्रतीकों की सशक्त उपस्थिति आज भी देखी जा सकती है। अनेक मानव और सौन्दर्यशास्त्रियों ने प्रतीकों का गहराई से अध्ययन और विश्लेषण किया है। पश्चिम के श्री ए.एन. व्हाइटहेड का नाम विशेष रूप से लिया जाता है, जिन्होंने प्रतीक बनने की क्रिया का गहराई से अध्ययन किया है- मनुष्य का मन अर्थशून्यता या निरर्थकता में कभी नहीं टिक सकता। निरर्थक को अर्थ (Sighmifiance) देना प्रतीकीकरण है।

प्रतिमा बनने का विज्ञान बौद्ध काल में शुरू हुआ। छठी शती में बुद्ध की मूर्तियों के साथ भारतीय पौराणिक देवी-देवताओं की भी मूर्तियाँ बनना शुरू हुई। पहले लोक में मूर्तियों की जगह प्रतीकों की पूजा प्रचलित थी, आज भी है। किसी देवता की मूर्ति में देवी-देवता के सात्त्विक भाव, अभिप्राय केवल प्रतीक के माध्यम से ही दिखाये जाते हैं। जितने भी अवतार हुए, देवता हुए, उनकी स्वभावगत पहचान के लिये उन्हें प्रतीक प्रदान किये गये हैं। सबसे पहले आदिमानव ने पेड़-पौधों में देवताओं की कल्पना की, तब पूरा पेड़ देवी-देवताओं का प्रतीक बन गया, वृक्ष-पूजा उसी प्रतीक अवधारणा का प्रमाण है, फिर पाषाण में प्रतीकों को

समाहित किया गया। कमल, ओम्, स्वस्तिक, क्रास आदि प्रतीक के ये साधारण चिह्नमात्र नहीं हैं, इनमें पूरी संस्कृति की पहचान छिपी है। इनमें जीवन की विशद व्याख्याएँ निहित हैं, संसार की प्रत्येक संस्कृति में अनेक प्रतीक विद्यमान हैं। जैन धर्म में चौबीस अवतारी तीर्थंकरों की पहचान के लिए प्रतीक चिह्न रखे गये हैं। मराठी के विख्यात लेखक महादेव शास्त्री जोशी ने प्रतीकों के बारे में लिखा है– 'मंत्रद्रष्टा ऋषियों के शाश्वत चिन्तन से प्रकट होने वाले आध्यात्मिक आशय को तथा मनुष्य के मन की मधुर मंगल भावनाओं को व्यक्त करने के लिये कुछ विशेष चिह्न बनाये गये। ये प्रतीक विविध, गूढ़ तथा मनोगत अर्थों को प्रकट करते हैं। बाद में इन प्रतीकों को साहित्य, कला और व्यवहार के क्षेत्रों में महत्त्व प्राप्त हुआ। ये प्रतीक मनुष्य की रसिकता, मंगल कामना तथा आध्यात्मिकता को नवजीवन तथा पोषण देते रहे। यह संस्कृति की तीसरी और श्रेष्ठ अवस्था है।

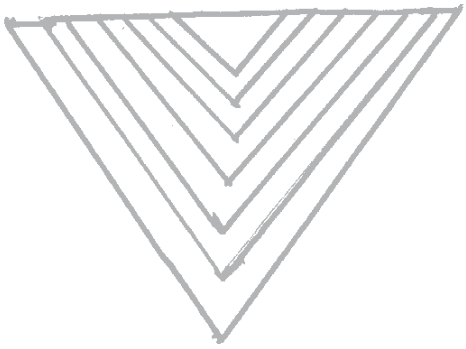

प्रतीक हर समय में बनते-मिटते हैं। प्रतीकों के साथ सर्जन-विसर्जन की प्रक्रिया परम्परागत रूप से चलती रहती है, लेकिन प्रतीक परम्परा कभी समाप्त नहीं होती। पुराने प्रतीकों की जगह नये प्रतीक बन जाते हैं। प्रतीक मनुष्य की वह अभिव्यक्ति है, जिसमें मनुष्य बात कहता है। वह उसे सादृश्य भाव के बिम्बों से प्रकट करता है, तब वह संरचना प्रतीक हो जाती है।

जो वस्तु अदृष्ट हो या जो घटित हो गया है, उस वस्तु या घटना को विशेष अभिप्राय या आशय द्वारा प्रकट किया गया हो, उसे एक सार्थकता प्रदान की गई हो, वह रचना या कृति प्रतीक की परिभाषा में आ जाती है। यहाँ तक कि कोई भी प्रतीति प्रतीक बन सकती है। किसी भी वस्तु या घटना के स्वर, रंग आदि की सांकेतिक बिम्ब प्रतीति का नाम प्रतीक है।

प्रतीक बिम्ब से आगे की वस्तु है। प्रतीक में बिम्ब और प्रतीक दोनों शक्तियों का उपयोग होता है। श्री अज्ञेय ने स्रोत और सेतु निबन्ध प्रतीक के लिए लिखा है– 'हम न तो सिर्फ लॉजिकल और न सिर्फ इन्लॉजिकल चिन्तन करते हैं। हम समानता के आधार पर सुतर्कित बात करते हैं। वह एक साथ ही देखी हुई भी होती है, सोची हुई भी। प्रतीक में दो पक्ष होना जरूरी है और उनको जोड़ने वाला कोई न कोई सादृश्यसूत्र होता है, जिसे पकड़कर हम बढ़ते है।' उपमा भी यही काम करती है। लॉजिक भी यही काम करता है। सबके आधार में एक समान गुण की पहचान होती है। समानता को आधार बनाकर एक तरह समानता की पहचान के सहारे चलने वाले सोच की परम्परा और तर्क के आधार पर चलने वाली परम्परा दोनों काम करती है।

वात्स्यायन

समानता के लिए मन में जो संकल्प और कल्पना काम करती है और उसकी अभिव्यक्ति में जो सर्वनाम बनते हैं, वे प्रतीक की संज्ञा ग्रहण कर लेते हैं। पारम्परिक चित्रकार्य में गुहाकाल से प्रतीकों का निर्माण और चित्रण होता आया है। प्रागैतिहासिक गुहाचित्रों के रेखांकनों में कई मूल अभिप्राय आकृति, अभिरूप और बिम्ब प्रतीक में पहली बार प्रतिष्ठित हुए हैं, जिसके आधार पर कई गुहाचित्रों के समूहनों ने मिथक का रूप धारण किया। गुहाचित्रों में प्रतीकों के प्रयोग के कारण उनके नये अर्थ और आशय भी खुले। तब से मिथकों में प्रतीकों के गूढ़ार्थ की परम्परा पड़ी।

बिम्ब जहाँ मिथ की रचना में चित्र और अर्थार्ष की उपस्थिति के लिये अनिवार्य अंग है, वहीं प्रतीक उस चित्र को, कथा को, तर्कपूर्ण ढंग से स्पष्ट करता है। प्रतीक अपने आपमें पूर्ण और सार्थक अभिव्यंजना होते हैं। साहित्य, कला और जीवन में प्रतीक के माध्यम से बात करने की पद्धति अतिप्राचीन है। आदिम मानव ने प्रतीकों के माध्यम से बात करना सीख लिया था। बाद में वहाँ साहित्य और कला की प्रत्येक विधा में सशक्त माध्यम बनकर आया। यहाँ तक कि साहित्य और कला के क्षेत्र में प्रतीकवाद का प्रादुर्भाव हुआ। प्रतीक में उपमा का योगदान सबसे महत्त्वपूर्ण होता है। प्रतीक में कही गई बात बिम्बों की समानता पर आधारित होती है और मस्तिष्क में किसी वस्तु, विचार या

भाव का चित्र बनने लगता है। चित्रकला में वही बात रंगों और उनमें बनाये गये प्रतीकों के माध्यम से स्पष्ट होती है।

मानव -संस्कृति के गंभीर अध्येताओं ने इस बात को अनेक प्रकार से लक्षित किया है कि धर्म, उपासना या पूजाभाव की जड़ें इतिहास, आद्यैतिहास और प्रागैतिहास तक की ज्ञात सीमाओं से भी अधिक व्यापक एवं गहरी हैं। उनका प्रसार कदाचित् मानव अस्तित्व के प्राचीनतम प्रमाणों के उस पार की अज्ञात अंधकारमय कंदराओं तक जाता है। आधुनिक विचारकों की दृष्टि में बाह्यत: ही संस्कृति धर्म से पृथक् और प्रतिमुख दिखायी देती है, मूलत: दोनों अभिन्न ही नहीं, अविच्छिन्न भी कही जा सकती हैं। क्योंकि उनका उद्भव अन्योन्याश्रित रूप में हुआ है तथा दोनों का संबंध -सूत्र चेतन जगत् से परे अवचेतन जगत् तक व्याप्त है। 'मनोवैज्ञानिकों ने धार्मिक विश्वासों के उद्भव की समस्या को प्रेम, घृणा की शाश्वत मानवीय ध्रुवता, यौनवृत्ति और वर्जनात्मक नैतिकता तथा इसके संघर्ष से विकसित होने वाली सामाजिक व्यवस्था से सम्बद्ध किया है। साथ ही कला, काव्य पुराण और धर्म के क्षेत्र में प्रयुक्त होने वाले विविध कल्पनात्मक प्रतीकों एवं मिथकों अथवा कल्पकथाओं (Myths) को किसी एक ही स्रोत से अनुप्राणित माना है, जिसका अस्तित्त्व मानव चेतना में सार्वभौमिक स्तर पर निर्दिष्ट किया जाता है।

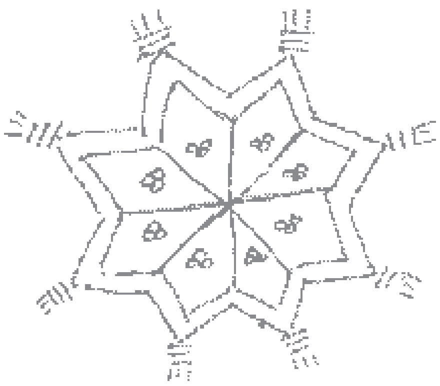

कलाभाषा प्राय: प्रतीकों की भाषा है। कला में प्रतीक मूर्त रूप में प्रयुक्त होते हैं और वे चित्र के मिथकीय अर्थ को मनुष्य चेतना के आदिम स्रोत तक ले जाते हैं।

कला, भाषा की अपेक्षा कहीं अधिक सार्वभौमिक, व्यक्ति चेतनापरक और अंतर्मन के सूक्ष्म व्यापारों को प्रतिबिम्बित करने वाली विधा है। सौन्दर्यशास्त्रियों ने इस पर विस्तार से विचार किया है। कला में सौंदर्य अनिवार्य अंग है। सौंदर्यबोध के लिए कला में अनेक अभिप्राय, बिम्ब और प्रतीकसृजन की प्रक्रिया आदिकाल से चलती रही है। सामयिक प्रासंगिकता कला में प्रतीकों के प्रादुर्भाव का कारण रही है।

सौंदर्यशास्त्र प्रतीकों की व्याख्या को तीसरी दिशा प्रदान करता है, जो कला की दृष्टि से सबसे अधिक उपयुक्त प्रतीत होती है। इसके अनुसार बाह्य जगत के अनुभव की समग्रता से आकृतियों एवं रूपों का पृथक्करण प्राय: एक जैसे अनुभव की पुनरावृत्ति एवं निरन्तरता तथा तर्कनाशक्ति पर आश्रित रूपाकारों के स्वतंत्र-बोध की प्रक्रिया द्वारा घटित होता है। सरल अथवा मिश्रित रूपों वाले ऐसे प्रतीक सार्थक और निरर्थक दोनों प्रकार के होते हैं। निरर्थक प्रतीकों की शक्ति उनसे सम्बद्ध यातुमूलक विश्वासों में निहित रहती है और सार्थक प्रतीक परम्परा द्वारा अपने मान्य अर्थ का प्रस्फुटन करते हैं। कला में बिम्ब और प्रतीक की आत्मनिर्भरता से जो अर्थ और आशय प्रकट होते हैं, वे मनुष्य के मन्तव्य तक पहुँचने में सक्षम होते हैं। यद्यपि बिम्ब का आश्रय कला की समग्रता में होता है तथापि बिम्ब की स्वतंत्र सत्ता नहीं होती। परन्तु प्रतीक अपनी स्वतंत्र एवं पूर्ण सत्ता में खड़े रहते हैं। एक शब्द, एक उपमा, एक ब्रश का स्ट्रोक, एक रेखा का विन्यास प्रतीक हो सकते हैं।

आदिम कला के विशेषज्ञ फ्रैंज बॉस (Franz boss) ने सार्थक और निरर्थक दोनों प्रकार के प्रतीकों की सत्ता स्वीकार करते हुए हमारा ध्यान आकृष्ट किया है तथा यह भी कहा है कि ऐसे महत्त्वपूर्ण रूप मूर्त को ही नहीं, अमूर्त को भी व्यक्त करते हैं। बिम्ब और प्रतीक अपने समय की कोख से उपजते हैं। इसलिए उनमें तत्कालीन समय के सूक्ष्म उच्छ्वास मिलना स्वाभाविक है। सामाजिक चिन्तकों ने भी बिम्ब और प्रतीकों पर विचार किया है।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी पद्धति के आधुनिकतम विचारक जार्ज ल्यूकार्ज ने सौन्दर्यशास्त्र में प्रतीकों की विस्तृत व्याख्या की है। अनेक कलामर्मज्ञ और चिन्तकों ने प्रतीकवाद का विश्लेषण किया है। इनमें यूरोप के सी.डब्ल्यू. एण्डर्सन और भारत के पंचानन मित्र प्रमुख हैं। उनके अनुसार हम यह मान सकते हैं कि प्रागैतिहासिक मानवकला का विकास उसकी सक्रियता को परिचालित करने वाले तत्त्वों से ही हुआ है, जिनमें एक है आहार

प्राप्ति की आकांक्षा और दूसरा है धर्म, जिसमें अभिचारमूलक सारे कृत्य, टोने-टोटके तथा नृत्य आदि भी समाविष्ट हो जाते हैं। दोनों तत्वों का कुछ ऐसा सम्मिश्रण घटित हुआ कि उसकी परिणति उस प्रतीकवाद के विकास में होनी अनिवार्य हो गई, जो पहले संकेत-आलेख तथा स्वामित्व सूचक चिह्नों के रूप में आविर्भूत हुआ और बाद में उसी से एक और लिपिचिह्नों तथा दूसरी ओर ज्यामितिक आकल्पनों का उदय हुआ।

भारत और यूरोप की आदि गुफाओं की दीवारों में पशुओं और शिकार के बहुत से सशक्त यथार्थ रूपांकनों के अतिरिक्त अनेक शुद्ध ज्यामितिक आकार अंकित मिलते हैं, जिन्हें प्रतीक के रूप में ग्रहण किया गया है, इनके आधार पर चित्र में एक प्रतीक कथा का निर्माण माना जा सकता है, जिनकी आगे चलकर मिथकथा चित्रों के रूप में पहचान की गई। विश्व की गुहा रेखांकन की उपलब्ध परम्परा, प्रतीक और उसके चिह्न के प्रतीकांकन का एक प्रामाणिक इतिहास माना जा सकता है। भय, उपासना, गुह्यता, रहस्य और

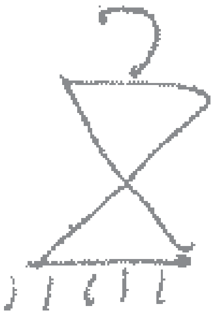

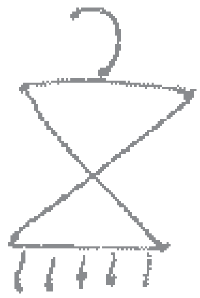

अतिविश्वास मूलक धारणाएँ यूरोपीय शिल्पचित्रों के साथ अंकित ज्यामितिक तथा अन्य प्रकार के प्रतीकों के पीछे निहित रही होगी, ऐसा निष्कर्ष प्रामाणिक आधार पर निकाला गया है। कतिपय गुफाओं में प्रतीक चिह्नों के अंकन की स्थिति और पृथकता पर विचार करते हुए लूई ने उन्हें पूर्व-पुरुषों की आत्माओं के लिए चित्रित निवासगृह के रूप में व्याख्यायित किया है। संसार के अनेक आदिम गुफा चित्रों में प्रतीकों का प्रयोग मिलता है। डॉ. जगदीश गुप्त ने अपनी पुस्तक प्रागैतिहासिक भारतीय चित्रकला में आठ प्रकार के प्रतीकों का वर्णन किया है- (1) हाथ की छापें (2) लताभास रेखा जाल (3) मानव पंक्ति (4) पशु पंक्ति (5) चौक वेदिका (6) ज्यामितिक आकल्पन (7) लिपि चिह्न या लिपिवत चिह्न (8) अस्पष्ट अभिप्राय।

योरोपीय प्रतीकांकनों (Tectiforms) के अर्थ-निर्धारण के विषय में कभी मतभेद नहीं है। किसी ने उन्हें वास्तविक घरों के रूप में, किसी ने आत्मा के आवासगृहों के रूप में और किसी ने पशुओं को फँसाने के उद्देश्य से बनाए गड़ढों के रूप में ग्रहण किया है।

आदिम प्रतीकों के विकासक्रम पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि कभी-कभी कोई प्रतीक परिवर्तन क्रम में ऐसा विचित्र रूप ग्रहण कर लेता है कि उसके मूल रूप तक पहुँचना या उसकी कल्पना करना भी कठिन हो जाता है।

प्रतीक का प्रयोग साधारण मनुष्य अपनी विभिन्न सामाजिक प्रक्रियाओं में भी करता है। प्रकृति और जीवन को चलाने वाले तत्वों के मूल तक पहुँचने में मनुष्य की मानसिक तर्कना शक्ति रही है। इसका प्रमाण अनेक सभ्यताओं के अवशेषों में देखा जा सकता है। इस संदर्भ में डॉ. डी.डी. कौशाम्बी के सिन्धुघाटी सभ्यता के अवलोकन को परखा जा सकता है। प्रतीकों का प्रयोग मानसिक समान प्रक्रिया के लिये किया जाता है या किसी रूप में निर्धारण अभिव्यक्ति का सबसे बड़ा आधार बन प्रतीक हमारे सामने आते हैं। जीवन, प्रकृति, स्वप्न, स्मृति सभी का बोध कराने की पद्धति प्रतीक की संरचना में निहित है। सिन्धु घाटी सभ्यता में पक्षी के सिर वाली लघु मूर्तियाँ, चार बाहों वाले मानव प्रतीकों के भाव, चित्र और शायद एक मुद्रा (मुहर) पर पंखदार मूर्ति अंकित है।' यह उदाहरण इस बात का प्रमाण है।

सिन्धु घाटी की खुदाई में मिली मुहर पर पंखदार मूर्ति देखने पर हमें तर्क का सहारा लेना पड़ता है कि क्या किसी देवता के कभी पंख रहे होंगे। प्रतीक के लिए तर्क प्रथम शर्त है। श्री अज्ञेय इस बारे में और अधिक स्पष्ट संकेत करते हैं- 'प्रतीक में हम इससे एक कदम (सादृश्यता से) और आगे बढ़ते हैं। वहाँ पर तर्क का महत्त्व और भी अधिक हो जाता है। प्रतीक में भी एक चीज के बदले दूसरी चीज लायी जाती है। वहाँ की समानता का कोई आधार होना चाहिए, नहीं तो 'प्रतीक' शब्द का ही कोई अर्थ नहीं रहता। एक का स्थान लेने वाला दूसरा कोई हो नहीं सकता, लेकिन प्रतीक में यह संभावना भी है कि हम बिना किसी

वास्तविक या प्रत्यक्ष समानता के एक कल्पित या तर्कसिद्ध समानता के आधार पर एक चीज को दूसरे का प्रतीक मान लें। अपनी तरफ से यह तय कर लें कि अमुक के बदले हम अमुक चीज रखते हैं या अमुक का स्थानापन्न या प्रतिस्थानीय इस अमुक दूसरी चीज को मानते हैं। ऐसा मान लेना तर्क की एक प्रक्रिया है। वह अनुमान या प्रतिज्ञा के सहारे चलती है और उसका आधार कोई प्रत्यक्ष या सहज सिद्ध साम्य नहीं भी हो सकता।

बुद्धि के स्तर पर प्रतीकों का सम्बन्ध रागात्मक होता है, इसलिए प्रतीक सम्पूर्ण भावचित्र को उपस्थित करने में हमारे मन के अन्दर सक्षम होते हैं। प्रतीकों को देखकर रसोद्रेक होना सहज ही नहीं, अनिवार्य भी है, फिर चाहे कविता हो या चित्र हो। प्रतीक अपना काम अवश्य करते हैं। उनका प्रभाव किसी भी मन पर पड़े बगैर रह नहीं सकता, उसी प्रकार जिस प्रकार सूर्योदय और सूर्यास्त होते समय जड़ चेतन सभी पर उसका कुछ न कुछ प्रभाव देखा जा सकता है। इसलिए प्रतीक और बिम्ब मिलकर जब मिथ को गढ़ने में पूरी क्षमता से उतरते हैं, तब मिथ की रचना की शुरुआत हो जाती है, बिम्ब प्रतीक में समा जाता है। कभी-कभी प्रतीक और बिम्ब में सायुत्यता के कारण सदैव एकरूपता का आभास होता है। प्रतीक किसी के बदले में व्यंजना के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। जैसे स्वस्तिक का रांगोली में अंकन मांगलिक प्रतीक के रूप में युगों से प्रचलित है। स्वस्तिक पूजा का प्रमाण प्रागैतिहासिक शिलाचित्रों, सिंधुघाटी की सीलों, जैन-बौद्ध तथा हिन्दू धर्म प्रतीकों और लोककला के अभिप्रायों में मिलता है।

पाषाणयुगीन शैलचित्रों में, आदिम विश्वासों का अस्तित्व दिखाने वाले विशेषज्ञों ने अनेक प्रतीकों के अर्थ स्पष्ट करने की कोशिश की है। कटी हुई अंगुलियों वाले हाथों की छापें, धर्म कृत्य की द्योतक मानी जाती है। अस्त्रों से आहत पशु-चित्र आखेट की सफलता के लिए किए गए टोने अथवा यातुकर्म के प्रतीक समझे गए हैं। पशु की खाल ओढ़े अथवा पशुओं की आकृति वाले मुखाच्छादनों को धारण किए आकृतियों के चित्र के पीछे छद्म के अतिरिक्त पशुओं से एकात्म होने का भाव निहित कहा जा सकता है। पशुओं को दिवंगत आत्माओं के रूप में परिकल्पित किया जाना भी संभव माना गया है।

आदिकला और लोकचित्रों में परम्परा से मयूर, नाग, गाय, बछड़ा, हाथी, अश्व, चिड़िया, कछुआ, तुलसी, पीपल, वटवृक्ष, स्वस्तिक, सूर्य-चन्द्र, कमल, फूल, चक्र, नदी, पहाड़, बैलगाड़ी, पनिहारिन आदि जीवन में अनिवार्य भौतिक सामग्रियों को प्रतीक रूप में चित्रित किया जा रहा है। कोरकू जनजाति के लोग घर के मुख्य द्वार के आस-पास सुख समृद्धि के प्रतीक इमली के वृक्ष का चित्रांकन करते हैं। भारतीय महिलाएँ सेली सप्तमी को भित्ति पर हल्दी कुंकुम से हाथ के थापे लगाती हैं, आंगन में रांगोली बनाती हैं, हाथों में मेहंदी लगाती हैं, माँग भरती हैं। ये सारे प्रतीक विश्व की पुरा-आख्यानों की परम्परा में कहीं न कहीं दिखाई देते हैं, जिनके पीछे इनके आशय और अर्थ छिपे हुए होते हैं। डॉ. जगदीश गुप्त ने शैलचित्रों में पाए जाने वाले प्रतीक चिह्नों का सोदाहरण विस्तृत विवेचन उनकी पुस्तक प्रागैतिहासिक भारतीय चित्रकला के अध्याय पूजाप्रतीक में किया है। उनका मानना है कि प्रतीक आदिमानव द्वारा गुफाओं में निर्मित चित्रांकनों से ही शुरू होते हैं, जो बाद में मानव विकास के साथ नए-नए अर्थ धारण करते गए। उनके अनुसार इसे प्रजनन प्रतीक, उर्वरा प्रतीक, पुरातन व्यापारिक चिह्न, अलंकरण, अभिप्राय, अग्नि, विद्युत्, वज्र, जल आदि का सांकेतिक रूप, ज्योतिषपरक प्रतीक, भारतीय चारों वर्णों का द्योतक आकाश में उड़ते हुए पक्षी आदि बहुत से रूपों में व्याख्यायित किया गया है, जो देशों की भिन्न परम्पराओं को व्यक्त करता है।

विश्व भर के पुरा आख्यान जब बिम्ब, प्रतीक शैली से आबद्ध होने लगे, तो इनसे आकार ग्रहण करने वाली रचना का नाम कल्पकथा, पुरा आख्यान रखा गया, लेकिन सम्पूर्ण अर्थ देने वाले शब्द की गुंजाइश फिर भी थी। इसलिए बाद में मिथ या मिथक शब्द में पूर्ण अभिव्यक्ति देखकर नृतत्वशास्त्रियों ने मिथ को प्रतिष्ठित कर दिया, तब से मिथ शब्द ऐसी कथाओं के लिए समग्र रूप से सार्थक मान लिया गया। सबसे पहले मिथक शब्द का प्रयोग आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने किया है। पुराकथाएँ मिथ के लिए उपजीव्य रही हैं। पुराणों में आए अनेक वीरचरित् गाथाओं के केन्द्र में बहुत पहले से रहे हैं। गाथाएँ वीर नायकों के इतिहास को कल्पनापूर्ण ढंग से, प्रतीकों के माध्यम से प्रस्तुत करने का काम करती हैं और वे गाथाएँ मिथकथाओं का रूप

ग्रहण कर लेती हैं, तब उनमें एक शाश्वत चमत्कारिक और अलौकिक समष्टिगत उदात्त चारित्रिक सौन्दर्यभाव पैदा हो जाता है। मेसोपोटामिया, ग्रीक, भारत में अनेक वीरों की चरित गाथाओं को गीतों में गाए जाने की परम्परा है। इसी प्रकार इन चरित्रों को प्रतीकों के माध्यम से उनकी गाथाओं को दृश्य रूप में चित्रित करने का रिवाज भी विश्वभर में देखा गया है। राजस्थान में भोपाओं द्वारा गाई जाने वाली पाबूजी की पड़, महाराष्ट्र की चित्रकथी इसी का प्रामाणिक उदाहरण कहा जा सकता है। चित्र में बनाए गए कथाप्रसंगों को गाने की प्रथा पूजित भाव के कारण आज तक प्रचलित रही है। लोक में महाभारत और रामायण की कथाएँ चित्रकथा के रूप में सर्वत्र गाई जाती हैं, जो दृश्य और श्रव्य दोनों माध्यमों का एक अच्छा समन्वय कहा जा सकता है। इनमें हजारों प्रतीक उकेरे जाते रहे हैं।

प्रतीकों की परम्परा लोकजीवन की थाती है। जब लोक की ऊर्जा कोई जीवन के समाष्टिगत सत्य की खोज करती है और उसे परिभाषा में बाँधना चाहती है, तब उसके सामने प्रतीक आकर खड़े हो जाते हैं। यही प्रतीक उसमें सर्वमान्य सत्य की प्रतीति कराते हैं। प्रतीक प्रक्रिया मूलत: तीन आयामों में चलती रहती है। – भाषा के स्तर पर, कला के स्तर पर तथा अनुष्ठान के स्तर पर।

लोकव्यवहार में प्रत्येक वस्तु, घटना या अभिव्यक्ति प्रतीक नहीं होती। यह प्रयोग, प्रस्तुति और स्थिति पर निर्भर करता है, इसी के आधार पर सार्थक और निरर्थक प्रतीक की चर्चा की जाती है। भाषा के व्यवहार में साधारण बातचीत या विधाएँ भी सदैव प्रतीक का सहारा लेती हों, ऐसी बात नहीं। कला के व्यवहार में भी सभी रंग, रेखा अलंकरण आकृति, स्वर, ताल, लय प्रतीक में प्रतिष्ठित होते हों, ऐसी बात नहीं। अनुष्ठान में पूजा के सभी उपकरण प्रतीक बन जाते हों, ऐसी भी बात नहीं है, ऐसे प्रयास अधिक से अधिक बिम्ब और अभिप्राय (Motif) तक पहुँच सकते हैं, लेकिन बिम्ब और अभिप्राय जब सादृश्यता में प्रतिष्ठित हो जाते हैं, तब वे प्रतीक बन जाते हैं। यह प्रक्रिया तीनों स्तरों पर निरन्तर चलती रहती है। प्रतीक काल और इतिहास के गर्भ से निकलकर आते हैं। प्रतीक में अतीत वर्तमान और भविष्य की रूपरेखा छिपी होती है। इनमें और मस्तिष्क के गहरे तलों की सूक्ष्माभिव्यक्ति छिपी होती है। लोकमानस के भाव और विचार की मर्मस्पर्शी परतें जमी होती हैं। तर्क और कल्पना की समावेशी तहें जमा होती है। संवेदना और संभावना की पारदर्शियाँ उसमें झिल-मिलाती हैं। स्वप्न और स्मृति की सुधियाँ उसमें तैरती रहती हैं। लोक और परलोक की अवधारणा प्रतीक में निहित होती है। लौकिक और अलौकिक जो कुछ भी है, वह प्रतीक और प्रतीकार्थ में विस्तारित है। प्रकृति और संस्कृति की छवियाँ उसमें अंकित होती हैं, उसमें परम्परा और प्रथा की प्रतीतियाँ प्रतिबिम्बित होती हैं। आत्मा और परमात्मा का प्रकाश प्रतीक में समाया रहता है। प्रतीक में धर्म और दर्शन की गुत्थियाँ गुँथी रहती हैं। पूजा और अनुष्ठान की श्रद्धा और प्रार्थनाएँ प्रतीक में उपस्थित होती है। मन के संकल्प-विकल्प प्रतीक में होते हैं। उनमें नृतत्व और सौन्दर्यशास्त्र की संकल्पनाएँ गुम्फित होती हैं। ज्ञान और विज्ञान के निष्कर्ष प्रतीक में संगृहित होते हैं। उनमें दृश्य और अदृश्य जगत् की अवधारणाएँ होती हैं। व्यष्टि और समष्टि उसमें समा सकती हैं। श्रुति और कृति की इतियाँ प्रतीक को संजोती है। वाचिक और अवाचिक संक्रियाएँ प्रतीक में सिमटी होती हैं। मौखिक और लिखित का सार प्रतीकों में होता है। समस्त जीव और जगत की व्याख्या प्रतीक में सन्निहित होती है। कहने का अर्थ यह है कि जीवन के प्रत्येक कार्यकलाप प्रतीक में समाहित हो सकते हैं।

आदिम और लोकसमूहों की ब्रह्माण्ड और जैविक जगत् को समझने की समस्त मूल चेतनाएँ, अभिप्राय, प्रतीक, मिथक, गीत, कथा, गाथा, चित्र और संस्कृति के विभिन्न रूपों में सन्निहित हैं, जिनमें प्रतीक पहला उच्छ्वास कहा जा सकता है, जिसमें प्रस्तुत अर्थ के पीछे गूढ़ार्थ छिपाकर रखने की पूरी सामर्थ्य है। अप्रस्तुत को कल्पना में साकार करने की क्षमता मनुष्य ने सबसे पहले प्रतीक में ही ढूँढी, तब से लगाकर अब तक प्रतीक अनेक आदिम और लोकविधाओं में अपनी इसी सामर्थ्य और क्षमता के साथ अवतरित होता आया है।

लिखित साहित्य में प्रतीक का प्रयोग सबसे पहले हमें वेदों में मिलता है, जो संसार के सबसे पुराने ग्रन्थों में से हैं। सूर्य, उषा, अग्नि, इन्द्र आदि देवताओं की स्तुतियाँ प्रतीक में ही की गई हैं। गाथा के रूप में पुरूरवा-उर्वशी की गाथा विश्व की

पहली मिथकीय गाथा है, जिसका समग्र स्वरूप प्रतीकात्मक है। और भी कईं वैदिक गाथाएँ हैं, जिनमें प्रतीक का प्रयोग मिलता है। इसका अर्थ यह हुआ कि प्रतीक वैदिक साहित्य से पूर्व आदिम और लोक संस्कृति-साहित्य में प्रचलित था। आदिम और लोक की बहुत सी प्रवृत्तियों को वेदों में ऋषियों ने ज्यों का त्यों ग्रहण किया, कुछ का परिष्कार कर उसे लिखित साहित्य का हिस्सा बना दिया। वेदों में विभिन्न अनुष्ठान और संस्कारों के अवसरों पर गीत और गाथा गाने की प्रथा, नृत्य-संगीत की परम्परा, मांगलिक सजावट और अलंकरण की परिपाटी, रेखांकन और चित्रांकन का उल्लेख मिलता है। ये विधियाँ निश्चित रूप से लोक जीवन से ग्रहण की गई होंगी। वेदकालीन गाथाएँ मूलतः लोकगीतों के परिष्कृत रूप कहे जा सकते हैं। वैदिक संस्कृत भाषा के समान्तर लोक की वाचिक परम्परा में प्रयुक्त प्रतीक वागर्थ से निकलकर ऋषियों के भाषासंस्कार के कारण वैदिक साहित्य की अप्रतिम कड़ियाँ बन गए। वहाँ भूमि माता, पुत्रोऽहं पृथिव्याः, कण्व-इन्द्रस्य गाथा' आदि गाथाएँ भी प्रतीक के अर्थ में पहली बार प्रयुक्त हुईं। रामायण, महाभारत और ब्राह्मण ग्रन्थों में अनेक गाथाओं का जिक्र आया है। रामायण और महाभारत तो संस्कृत साहित्य की महागाथाएँ हैं, जिनमें हजारों हजार प्रतीक और मिथक आए हैं। महाभारत को पंचम वेद कहा है। महाभारत के बारे में यह भी कहा जाता है कि जो महाभारत में नहीं है, वह सृष्टि में कहीं नहीं है। गाथासप्तशती लोक में प्रचलित श्रेष्ठ प्रतीकात्मक गाथाओं का संकलन है। गुणाढ्य और वररुचि ऐसे व्यक्ति हुए हैं, जिन्होंने पहली बार लोककथाओं का संकलन कर उन्हें संस्कृत में प्रस्तुत किया। अपभ्रंश का 'बड्डकथा' ग्रन्थ लोककथाओं का समुच्चय है। वही बाद में संस्कृत साहित्य में अनूदित होकर कथा 'सरित्सागर' के नाम से आया। एक किंवदती के अनुसार गुणाढ्य ने इन लोककथाओं का संकलन सतपुड़ा और विन्ध्य की उपत्यकाओं में बसी जातियों और जनजातियों की वाचिक परम्परा से किया था। गुणाढ्य के इस प्रयास के कारण इन कथाओं में आदिम अभिप्राय, प्रतीक और मिथक का आना स्वाभाविक ही नहीं, अनिवार्य भी था। पुराण कथासाहित्य में भारतीय लोककथाओं के सभी सूत्र मिल जाते हैं। लोक में प्रचलित मौखिक परम्परा की लोककथाओं में बहुत से आदिम और पौराणिक अभिप्राय, प्रतीक और मिथक देखे जा सकते हैं। अनेक लोककथाओं का मूल रूप कथासरित्सागर में दिखाई देता है। बुद्धचरित की जातक कथाओं का कथ्य प्रतीकात्मक है। इसी प्रकार जैन साहित्य प्रतीकात्मक कहानियों और बोधकथाओं के समय के साथ बदले हुए रूप आज भी लोककथाओं में मिलते हैं। जातककथाओं और जैन कहानियों में व्यवहृत प्रतीक धीरे-धीरे लोक कथाओं के अंग हो गए। विश्व भर के कथा और गाथा साहित्य को देखने पर पता लगता है, कि भारतीय कथा साहित्य में प्रयुक्त प्रतीक किसी न किसी रूप में सारे विश्व के लोकसाहित्य में पहुँचे हैं। इसका कारण भारत की प्राचीनतम संस्कृति और लोक संस्कृति का समृद्ध होना है, भारतीय संस्कृति ने वे सभी महनीय तत्त्व बहुत पहले ग्रहण कर लिए थे, जब विश्व की अन्य संस्कृतियाँ अपना-अपना रूप-धारण कर रही थीं। इस प्रक्रिया में सारे विश्व की संस्कृतियों ने अनेक प्रतीक रचे।

मनुष्य के अवचेतन की भीतरी सतहों पर जो कुछ भी सर्वप्रिय, सर्वश्रेष्ठ समष्टिगत जमता चला जाता है, वही संस्कार बन जाता है। प्रतीक अवचेतन के भीतर से प्रस्फुटित होता है, इसलिए प्रतीक संस्कार और संस्कृति की ही व्याख्या कृति है। प्रतीक बनने की अवस्था में जब शब्दार्थ भाव या विचार की अभिव्यक्ति के उस चरम को नहीं पकड़ पाता था, जहाँ वाक् और बुद्धि हतप्रभ रह जाए या इनसे परे किसी विशिष्ट अर्थ की निष्पत्ति करनी पड़ती हो, वहाँ दृष्ट जगत् की बहुत सी वस्तुएँ, पेड़-पौधे, पशु-पक्षी, प्राकृतिक रचनाएँ अपनी सादृश्यता दिखाते हुए मानव प्रज्ञा के सामने खड़ी हो जाती हैं और वे कहती हैं- 'हमको प्रतीक बना लो, हमको प्रतीक बना लो, हम तुम्हारे अभीष्ट अर्थ को वहन करने में सक्षम हैं।' तब उनमें से प्रज्ञा

उपयुक्त उपकरण को चुन लेती है, उसकी जगह उसे रख देती है, तब प्रतीक बन जाता है। हो सकता है इस प्रक्रिया में हजारों वर्ष या निमिष मात्र लगे। यह मनुष्य की लोकमनीषा की अनुभूति की तीव्रता के चरम पर निर्भर है। पृथ्वी के बन जाने के बाद कई वर्षों पश्चात् ब्रह्मा के मन में आया कि सृष्टि की रचना की जाना चाहिए। प्रतीकार्थ से यह समझा जा सकता है कि भौगोलिक परिवर्तन के बाद एक समय ऐसा आया, जब पृथ्वी मनुष्य के रहने लायक बनी। तब एक प्रतीक बना कि ब्रह्मा ने सृष्टि की रचना की। ब्रह्मा की उत्पत्तिकथा स्वयं एक प्रतीक है। जल में शेषशायी भगवान विष्णु की नाभिकमल से ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई। इस मिथ कथा ने सृष्टि के आरम्भ से लगाकर आज तक विश्व की आदिम और लोक संस्कृतियों में हजारों प्रतीक ग्रहण किए। फिर आगे मनु और शतरूपा, आप्स् और तियामत, शू और टैफनट, जीया और यूरेनस, वीनस और एनकाईसीज जूर्नोजुपीटर, आईजानागी और आईजानामी, ओडिन और फ्रिग, रेवेन आदि देवी-देवताओं के मिथक प्रतीक के रूप में सारे विश्व में विकसित हुए। आदि देवी-देवताओं की मूर्तियों, चित्रों तथा विभिन्न रूपाकारों में मनुष्य ने अपनी श्रद्धा प्रकट की। यथार्थ में इन अभिप्रायों के निमित्त मनुष्य ने प्रतीक में ही अपनी श्रद्धा को व्यक्त किया है। मंदिर, मस्जिद, गिरजाघर, प्रतिमा, धर्म-दर्शन, पूजा-अनुष्ठान आदि सब प्रतीक के विभिन्न रूप हैं। आदिम मानव ने पृथ्वी, प्रकृति, स्त्री-पुरुष, उत्पत्तिप्रतीक, प्रजनन और उर्वरताप्रतीक सूर्य, जल, वायु, अग्नि, आकाश, सरिता, चन्द्र, पर्वत, बादल, बिजली, वर्षा, उषा-संध्या, तारे, ज्योतिष, समाज, गोत्र, संस्कार, परम्परा, पशु-पक्षी, जीव-जन्तु आदि समस्त सृष्टि की छोटी से छोटी वस्तु के निमित्त प्रतीकों की रचना की। यहाँ तक कि दृश्य और अदृश्य जगत् की शक्तियों तथा पदार्थों के लिए प्रतीक गढ़े गए। प्रतीक में मनुष्य ने अपने समस्त भाव, विचार और ज्ञान को सुरक्षित रखने की कोशिश की। ईश्वर अदृश्य जगत् का सबसे प्रमुख प्रतीक है।

प्रतीक में आवेष्टित अर्थ और आशय कभी पुरातन नहीं होता। जिस समय प्रतीक का अर्थ कोई जानना चाहे, उस समय प्रतीक अपनी पूरी क्षमता से उपस्थित हो सकता है। कभी-कभी देश, काल, परिस्थिति के कारण प्रतीक अपने पुराने अर्थ के साथ परिवेश के नए अर्थ भी ग्रहण कर लेते हैं। जैसे वर्तमान में कोई-कोई व्यक्ति अपने कार्यों से ऋषि, मुनि और देवता की उपाधि प्राप्त कर लेता है। ऋषि, मुनि पुरातन प्रतीक हैं। ये आज के अर्थ में भी प्रयुक्त होते हैं। प्रतीक इसी संवेदनशीलता के कारण लिखित और मौखिक साहित्य, कला और संस्कृति की परम्परा से कभी बाहर नहीं हुआ है।

सन्दर्भ -

1. श्री महादेव शास्त्री जोशी, हमारी संस्कृति के प्रतीक, सस्ता सहित्य मण्डल
2. डॉ. हरद्वारीलाल शर्मा, लोकवार्ता विज्ञान भाग-1, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थानर, लखनाऊ
3. सच्चिदानंद हीरानंद वा, 'अज्ञेय', स्रोत एवं सेतु
4. डॉ. जगदीश गुप्त : प्रागैतिहासिक भारतीय चित्रकला नेशनल पब्लिसिंग हाऊस, नई दिल्ली
5. डॉ. डी. कौशाम्बी, मिथक और यथार्थ, मैकमिलन कम्पनी ऑफ इंडिया लिमि. नई दिल्ली

वैदिक-साहित्य में मांगलिक अभिज्ञान

डॉ. केदारनाथ शुक्ल

वैदिक साहित्य में- अग्नि, उषा, सूर्य, पृथ्वी, औषधी, वनस्पति, जल, संस्कार, चर्म, गणपति आदि से समन्वित मंगलतत्त्व भद्र, कल्याण, शुभ, स्वस्ति जैसे मंगल अभिज्ञान से कथित है। कोषकार मंगल शब्द से शुभ, भाग्यशाली, कल्याणकारी, प्रसन्नता, सौभाग्य, आनंद, उल्लास, कुशल-क्षेम, शुभशकुन, शुभघटना, आशीर्वाद, शुभकामना, शुभ या मंगलकारी पदार्थ, शुभ अवसर, उत्सव, कोई पुरानी प्रथा, हल्दी- आदि अर्थ घोषित करते हैं।

ऋग्वेद में मंगल शब्द का व्यवहार दशम मण्डल के पिच्यासीवें सूक्त में सूर्या-विवाह के समय, कन्या की विदाई के अवसर पर प्रयुक्त है-

सुमङ्गलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत।
सौभाग्यमस्यै दत्त्वायाथास्तं/वि/परेतन।।

अर्थात् यह वधू शोभन कल्याण वाली है। समस्त आशीर्वाददाता इस मंगलप्रसंग में पधारें और इसे स्नेहपूरित दृष्टि से देखें। इस विवाहिता को सर्वोत्तम सौभाग्यवती होने का आशीर्वाद देने के पश्चात् ही अपने घर जायें।

इसी तारतम्य में दुर्मङ्गल पद भी उपस्थित है-

आ नः प्रजां जनयतु प्रजापतिराजरसाय समनक्त्वर्यमा।
अदुर्मङ्गलीः पतिलोकमा विश शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे।।

इस ऋचा का अभिप्राय है कि प्रजापति वधू को उत्तम मातृत्व से सम्पन्न करें। यह वधू सम्पूर्ण आयुष्य का भोग करे। समस्त अमंगल बाधाओं से यह ग्रस्त न हो। पतिगृह में प्रवेश कर परिवार, समाज तथा पशुओं के लिये कल्याणकारिणी हो।

पञ्चम वेद नाटयशास्त्र में कहा गया है -

मङ्गलान्तानि नाटकानि।

कलारूपों में नाटकों की समाप्ति मंगलवचनों से ही सम्पन्न होती है। नाटक के आरम्भ में प्रार्थनात्मक आशीर्वाद की कामना की जाती है, किन्तु आशीर्वाद की फलश्रुति नाट्य यज्ञ की पूर्णाहुति का चरम लक्ष्य है।

शुक्ल यजुर्वेद का बीसवां अध्याय सौत्रामणी याग के प्रसंग में दो शब्दों को यजुष क्रमांक चार में प्रतिष्ठित करता है। ये शब्द हैं- 'सुश्लोक ' एवं 'सुमंगल'। ये दोनों ही शब्द भारतीय शिष्टाचार व्यवहार में पूज्यभाव एवं मंगलाशंसा के अर्थ में यथावत् प्रचलित हैं। यजुर्वेद के सन्दर्भानुसार यज्ञवेदी पर यजमान के लिये आसन्दी रखी जाती है। आसन्दी के ऊपर कृष्णमृगचर्म का आस्तरण होता है। आसन्दी पर आसीन यजमान का अभिषेक किया जाता है तथा प्रधान पुरोहित- शक्ति, समृद्धि एवं यश की अभ्युदय कामना करता है। तत्पश्चात् वह यजमान का स्पर्श करता है, उसे सम्बोधित करते हुए कहता है- हे यजमान! तुम प्रजापति हो। तुम श्रेष्ठ प्रजापति हो। मैं प्रजापति पद के लिये और प्रजापति हो जाने के लिये ही स्पर्श कर रहा हूँ। हे सुश्लोक! हे सुमंगल! तुम यहाँ मेरे समीपवर्ती हो जाओ-

कोऽसि कतमोऽसि कस्मै त्वा काय त्वा।
सुश्लोक सुमङ्गल सत्यराजन्।।

(शु.य.20/4)

यहाँ व्याख्या में महीधर कहते हैं कि- यह राजपद प्राप्त राजा सुश्लोक अर्थात् शोभायमान कीर्तिसम्पन्न हो। सुमंगल से तात्पर्य है- जिसका सर्वतोभावेन लोककल्याणकारी चिंतन सहित सुमंगल हो। भारतीय वाचन व्यवहार में ऋषियों, विद्वानों, सम्माननीय व्यक्तियों के सम्बोधन में सुश्लोक, पुण्यश्लोक, अभ्युदयात्मक आशीर्वाद में सुमंगलार्थ विश्रुत है। वामनपुराण में पुण्यश्लोक से अभिहित ये चरित्र प्रातःकाल स्मरण मात्र से मंगलविधान करते हैं -

पुण्यश्लोको नलो राजा पुण्यश्लोको युधिष्ठिरः।
पुण्यश्लोका च वैदेही पुण्यश्लोको जनार्दनः।।

यजुष् में राजा के लिये- सुमंगल शब्द उसके चरित्र विन्यास का उदात्त रूप है। राज-चरित्र देखने-सुनने-बोलने में प्रजा के लिये निरन्तर शुभावह हो। यही मंत्र का स्वारस्य है। मंगल शब्द ने अपनी व्यापक सत्ता के अधीन स्तोत्र साहित्य को प्रभावित किया है। वादिराज विरचित 'मंगलाष्टक' के प्रकृत पद्य में ब्रह्माण्ड, आदित्यादि नवग्रह, मेषादि द्वादश राशि, तिथि, नक्षत्र, योग, मास, वर्ष, ऋतु, दिन, रात, सन्ध्या सभी की मंगलप्रदाता के रूप में स्तुति की गयी है,

आदित्यादि नवग्रहाः शुभकराः मेषादयो राशयो
नक्षत्राणि सुयोगकाश्च तिथयस्तद्देवतास्तद्गणाः।
मासाब्दा ऋतवस्थैव दिवसाः सन्ध्यास्तथा रात्रयः
सर्वेस्थावरजङ्गमाः प्रतिदिनं कुर्याद्धरिर्मङ्गलम्।

आरण्यक मङ्गलविधान

वैदिक साहित्य में आरण्यक विषयक मंगलविधानों की उपस्थिति ऋषियों के विराट् दृष्टिबोध का परिचय प्रदान करती है। वैदिक साहित्य की परिधि में यज्ञयागदि अनुष्ठान में व्यवहृत व्रत-पर्व-उत्सव में विनियोजित अनेक प्रकार के मंगलचिह्न, मंगलविधायक पात्र, सुमंगलकर्ता देवचरित आदि के निमित्त ऐसे स्थल प्राप्त हैं, जो आदिम संस्कृति के उपासक आदिवासी समुदाय की चिन्तनधारा, प्रयोगधर्मिता और श्रद्धा-विश्वास को रेखांकित करते हैं।

मंगलविधान एवं मंगलचिह्नों की परिपूर्ति में आदिवासी समुदाय की अविभाज्य भूमिका है। प्रतीक स्वरूप सर्वप्रथम श्रौतविधान में सोमयाग का सन्दर्भ महत्त्वपूर्ण है। समस्त यागों में प्रधानभूत एवं आधारभूत याग यही है। इस प्रयोग में सोमवल्ली आवश्यक पदार्थ है। सोमवल्ली मंगलपदार्थ और आनंद का स्रोत है। सोमवल्ली के यज्ञशाला में प्रवेश के पूर्व अध्वर्यु बने खरीददार तथा सोम लाने वाले वनवासी के मध्य जो लेन-देन की प्रक्रिया है, वह वनवासी समुदाय की वस्तुविनिमय प्रणाली को प्रकाशित करती है। वस्तुतः पवित्र और मंगलविधायक सोम की पहचान आदिवासी ही जानते हैं। कारण यह है कि सोम मैदानी भागों में नहीं, अपितु पर्वतों के गहन वनों में ही उद्भूत होता है।

कात्यायनश्रौतसूत्र के अनुसार सोमलता को घास-फूस या अन्य अपपदार्थ से शुद्ध करने का कार्य भी आदिवासी ही सम्पादित करते हैं। गिरिजन द्वारा शुद्धीकृत सोम के लिये अध्वर्यु एक गौ का प्रस्ताव रखता है। किन्तु विक्रेता असहमति देता है। अध्वर्यु पाँच बार सौदेबाजी करता है। गाय के एवज में सोम प्रदान करने की प्रार्थना करता है-

अध्वर्यु पञ्चवारं सोमं पणते।
पणनं च न्यूनेन मूल्येन विक्रेतुः प्रार्थनम्।।

(का.श्रौ.सू.7-8-1)

यहाँ आदिवासी के सम्मान में प्रार्थना शब्द महत्त्वपूर्ण है। क्रय-विक्रय का यह परिदृश्य अन्ततः मंगलपदार्थों यथा स्वर्ण, वस्त्र, बकरा, एक जोड़ा बैल और तीन गाय के विनिमय में निश्चित हो जाता है।

शतपथ ब्राह्मण में विवरण है-

स आह। चन्द्रं ते वस्त्रं ते छागा ते धेनुस्ते मिथुनौ।
ते गावौ तिस्रस्तेऽन्याऽ इति।।

आदिवासी की मंगलसम्पत्ति सोम 'वनस्पति' देवत्व प्राप्त करता है। यास्क की व्युत्पत्ति के अनुसार जो 'वनों की रक्षा करते हैं, पालन करते हैं, वे वनस्पति हैं।' ऐतरेयब्राह्मण का कथन है कि 'प्राण ही वनस्पति है। शतपथब्राह्मण का वचन है - 'सोमो वै वनस्पतिः।' वनवासी द्वारा प्रदत्त सोम का सम्मान किया जाता है, उससे मंगल आशीर्वाद की कामना की जाती है। दो बैलों की गाड़ी में उसकी उत्सवयात्रा सम्पन्न होती है। तत्पश्चात् उसे अनुष्ठान में प्रतिष्ठित किया जाता है। सोम राजा की संज्ञा प्राप्त करता है। ऋग्वेद का सम्पूर्ण नवम मण्डल सोम राजा के संस्तवन में ही अर्पित है।

वैदिक कलारूपों में आदिवासियों में प्रचलित मंगलकला सन्दर्भ शुक्लयजुर्वेद के तीसवें अध्याय में ग्रथित हैं। यहाँ भील, कुम्हार, लौहकर्मी, पत्थर के आभूषण बनाने वाला, रस्सी बँटने वाला, बाँस पात्र निर्माता, हाथी-पालक, अश्वपालक, गोपालक, बकरे-बकरी-भेड़पालक, माण्डने चित्रण करने वाला, बाँस से स्वर छेड़ने वाला, बाँस पर नाचने वाला आदि उल्लेख सूचित करते हैं, कि किस प्रकार ये आदिमजन की कला-क्रियाएँ हमारे मंगलविधानों यथा-विवाह, उत्सव, यात्राएँ, संगीत में प्रतीक बनकर नगर-सभ्यता में ससम्मान स्थायीभाव में स्वीकार्य हो गयीं। अथर्ववेद, जो अरण्य संस्कृति के प्रति सचेष्ट है, उसमें पशु पक्षीनृत्य, देशभक्तिनृत्य, क्लीबनृत्य, मेघनृत्य के विचार अरण्य जीवन का ही प्रतिनिधित्व करते हैं। ये मंगलविधान पुनश्च भारतीय सांस्कृतिक दृश्यबन्धों में आसेतु-हिमाचल प्रचलित हैं। नागालैण्ड, असम, हिमाचल, राजस्थान, मणिपुर, बस्तर प्रभृति प्रदेशों में इन कलाविधानों का और उनमें व्यवहृत मुखौटों के मंगलप्रतीकों का साक्षात्कार सर्वत्र सुलभ है।

अथर्ववेद 10/9/1-27

देवचरितों में भगवान् शिव को मंगलस्वरूप में ही चित्रित किया गया है। जिन विशेषणों से शिव नमस्करणीय हैं, उनमें अधिकांश प्रायः वनसभ्यता से सम्बन्ध रखते हैं। शुक्लयजुर्वेद के सोलहवें अध्याय में शिव को गिरिवासी, सुमंगल स्वरूप, वन-वृक्षरूप, पत्तों के केशवाले, अरण्य पशुओं के प्रतिरूप, पर्वतों पर विचरण करने वाले, पर्वत-गुफाओं में शयन करने वाले जैसा चित्रित करने में वनसभ्यता एवं शिवत्व का मांगल्य तत्त्व में अभेद वृत्ति का दर्शन हुआ है।

वैदिक साहित्य के वस्तुविन्यास के वृहत्तर आयाम में प्रतिफलित होता है कि प्राकृतिक शक्तियों के प्रतीक देवताओं की उपासना में प्रयुक्त क्रियाएँ, चरित, विशेषण, आशीर्वाद जैसे मंत्रदर्शनों में ऋषियों के मानस में आदिवासी मंगलविधानों एवं प्रतीकों ने जो स्थान प्राप्त किया है, वह यूरोपीय वेद विद्वानों के पूर्वाग्रह को समुचित समाधान प्रस्तुत करता है।

स्वस्ति शब्द मंगल विधायी होता है। वेद कहता है कि कीर्त्तिसम्पन्न इन्द्रदेव मंगल प्रदान करें, धनस्वामी पूषादेव कल्याण करें, तार्क्ष्यदेव कल्याण करें, वृहस्पतिदेव कल्याण करें-

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्तिनः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु।।

मंगल कामना के लिये 'मधु' शब्द का विनियोग है। यजमान वायु, नदियों, औषधियों, रात, दिन, द्युलोक, पीपल, प्रभृति वनस्पति, सूर्य, गायों से अपने लिये सुखपूर्वक मंगलाकांक्षा का अभ्यर्थी है-

मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः। माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः।।
मधु नक्तमुतोषसो मधुमत्पार्थिवं रजः। मधुद्यौरस्तु नः पिता।।
मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमाँऽअस्तु सूर्यः माध्वीर्गावो भवन्तु नः ।।

शु.य. 13/27-29

शतपथब्राह्मण में कृष्णमृगचर्म को मंगलप्रतीक के रूप में मान्यता प्रदत्त है। कृष्णमृगचर्च याज्ञिक क्रियाओं में आरम्भिक उपादान है। यह चर्म मंगल, सुख एवं कल्याण का कारण है। ग्रन्थ के अनुसार 'चर्म' यह मनुष्यकृत अभिधान है और देवता इसे 'शर्म'- अर्थात् सुमंगल के रूप में देखते हैं। विवरण के अनुसार- हे कृष्णमृगचर्म! तू शर्म या कल्याण का स्रोत है। मृगचर्म को झाड़ते समय कहा जाता है कि आप अमंगलकारी राक्षसों को तिरोहित कर देते हैं। आप यज्ञवितान को विस्तृत करने वाले हैं।

अथ कृष्णाजिनमादत्ते। शर्मासीति चर्म वाऽ एतत् कृष्णस्य तदस्य तन्मानुषं शर्म देवत्रा तस्मादाह शर्मासीति। तदवधूनोत्यवधूतं रक्षोवधूता अरातय इति, तन्नाष्ट्रा एवैतद्रक्षां स्यतोऽपहन्त्यतिनत्येव पात्राण्यवधूनोतिं यद्धयस्यामेध्यमभूत् तद्धयस्यैतदवधूनोति।।

शपतथ ब्राह्मण 1/1/1/4

अथर्ववेद में अनेक औषधियों, वनस्पतिओं के मंगलस्वरूप का चित्रण है। अपामार्ग, मंगरैया, हल्दी, न्यावरी, नीलिका, कमलपुष्प आदि औषधियों में हल्दी के लिये मंत्र है-

नक्तं जातास्योषधे रामे कृष्णे च।
इदं रजनि रजय किलासं पलितं च यत्।।

अथर्व वेद 1/23

हल्दी से आरोग्य प्राप्ति की प्रार्थना है- 'तुम रात की उपज हो। हे हल्दी! भंगरैये, इन्द्रवारुणि, नीलिके। ऐ रंगने वालियों! रोग दूर-कर उपासक को अपने रंग में रंग दो।

हरिद्रा का प्रयोग भारतीय उत्सव परम्परा, कर्मकाण्डविधान, तांत्रिक क्रियाओं, स्वास्थ्यलाभ जैसे अनेक प्रसंगों में और विशेषत: मंगलचिह्नों के निर्माण में अत्यावश्यक पदार्थ के रूप में होता है। विवाहसंस्कार में हल्दी मंगलपदार्थ वर-वधू को लेपन किया जाता है। कर्मकाण्डीय दशविध स्नान में इसका प्रयोग अभीष्ट है।

हरिद्रा गणपति का पूजन इष्टसिद्धि के लिये सूचित है। काठकगृह्यसूत्र में हरिद्रा मंगलचिह्न को विवाह संस्कार में प्रयोगार्थ प्रैष है -

नाडीं तूणवं मृदंगं पणवं सर्वाणि च वादित्राणि गन्धोदकेन समुपलिप्य कन्या प्रवादयते। शुनं वद दुन्दुभे सुप्रजास्त्वाय गोमुख प्रक्रीडयन्तु कन्याः सुमनस्यमानाः सहेन्द्राण्या कृत मङ्गला इति।।

काठक 17/2

नयनाञ्जन को सर्वत्र मांगलिक एवं आँखों के लिये उपकारक द्रव्य के लिये जाना जाता है। कज्जल पदार्थ नेत्र सुषमा की अभिवृद्धि के साथ-साथ माण्डने बनाने में, अभिचार क्रियाओं में, वर्णविच्छित्ति सहित अनेक प्रयोजनों में उपयोगी है। अञ्जन शान्तिदायक, कल्याणकारण और भयरहित बनाता है। वेदों में वर्णित है कि शरीर में तेल लगाना, आँखों में अञ्जन लगाना, हरिद्रादि सुगंध पदार्थों का शरीर में अनुलेपन करना, सुवर्ण का शरीर में धारण - ये सब मंगलसमृद्धि के विधान में सम्मिलित हैं।

यजुर्वेद में यजमानदम्पति को अनुष्ठान आरम्भ के समय काजल लगाने का विधान है। यह नेत्रदृष्टिवर्धक तथा यज्ञावरोधक शक्तियों को परास्त करने हेतु प्रयुक्त है-

महीनां पयोसि वर्चोदा असि वर्चो में देहि।
वृत्रस्यासि कनीनकश्चक्षुर्दा असि चक्षुर्मे देहि।।

शु.य. 4/3

तदाञ्जन त्वं शताते रमायो अभयं कृतम्।

अथर्व. 19/44/1

तेजो वा एतदक्ष्योर्यदाञ्जनं।
स तेजमेवैनं तच्कृत्वदीक्षयन्ति।।

ऐतरेयब्राह्मण 1/1/3

कलारूपों में अञ्जन का प्रयोग आहार्य अभिनय में, लोककलाओं में, वनप्रान्तर के स्वरूपविन्यास में प्रयोग किया जाता है। भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में उल्लेख है-

नेत्रयोरञ्जनं ज्ञेयमधरस्य च रञ्जनम् ।

नाटयशास्त्र 23/28

आचार्य शंकर ने भगवती की स्तुति में - 'मुखे ते ताम्बूलं नयनयुगले कज्जलकला' के मांगलिक चिह्न से सुशोभित किया है।

अस्तु, वैदिक साहित्य के वस्तुविन्यास में दृष्टिगोचर होता है कि मंत्रदर्शन में आदिवासी मंगलतत्त्वों का समन्वय-मानव एकत्व का संकल्प मुखरित है।

इस प्रकार वैदिक साहित्य में मांगलिक अभिज्ञानों का पर्यालोचन किस प्रकार गिरिजन संस्कृति -कला-विश्वास में समीकृत है, यह विचार कतिपय वैदिक स्थलों के परिप्रेक्ष्य में उपस्थापित है।

लोक से शास्त्र तक प्रतीक

डॉ. (श्रीमती) अंशुबाला मिश्रा

शास्त्रों की रचना लोक के लिए ही की गयी है। अतः निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि शास्त्र-लोक व्यवहारगत औचित्य का विधान होता है। इसी कारण दर्शन अध्यात्म एवं नीति जैसे जटिल एवं गूढ़ विषयों में भी लोक की झाँकी दिखायी पड़ती है। विषय की गम्भीरता के कारण शास्त्र की भाषा और भावार्थ भले ही जन सामान्य से परे हो जाते हैं, परन्तु विषयों का प्रतिपादन लोक से ही सम्भव होता है। इसीलिये ईश्वर (भगवान राम) का रूप 'लोकाभिरामं श्रीरामं भूयो भूयो नमाम्यहम्' कहकर दिखाया गया है। यहाँ ईश्वर को वर्ग विशेष या सिद्धसाधक विद्वानप्रिय न कहकर लोकाभिरामम् कहने का तात्पर्य श्रमसाधना से साध्य ईश्वर को जनसामान्य के नयनों में- हृदय में बसा हुआ दर्शाना है। लोकजीवन में यथार्थ जनसामान्य की अपनी अनुभूति और अभिव्यक्ति के स्वयं के माध्यमों तक ही सीमित होता है। यथार्थ वह है जो लोकदृष्टि ने देखा है। लोकदृष्टि को देखने की अपनी शैली होती है और बताने की अपनी कला। ऐसी कला जो सौन्दर्यमूलक अभिव्यक्ति में रससिक्त कर देती है। इनकी अभिव्यक्ति का आयाम होता है किंवदंतियाँ, मिथक, किस्से-कहानियाँ, गीत- संगीत, नृत्य, ढेर सारे अभिव्यक्ति प्रतीकों, चिह्नों एवं संकेतों को भी अपने जीवन को व्यक्त करने का माध्यम बनाता है। प्रतीक एक ऐसा माध्यम है, जिसमें अर्थोदबोधन की क्षमता बहुत तीव्र एवं स्थायी होती है। किसी मांगलिक प्रतीक जैसे मंदिर के शिखर पर भगवा ध्वज देखते ही लोकजीवन में एक आस्था का संचार होने लगता है। माथा आस्था से झुक जाता है, हाथ स्वयं जुड़ जाते हैं, आत्मा जयकारे लगाने लगती है और मन शांत भाव से आनन्दित हो उठता है। बुद्धि को ज्ञान हो जाता है कि इसमें हमारा पूज्य कोई शक्तिशाली देव बैठा है। ध्वज धारण करने वाला स्थान भवन देवालय है। इतनी तीव्र प्रतिक्रियायों को जन्म देने वाला एक प्रतीक मांगलिक ध्वज कितने अर्थोद्बोधन को साकार करता है, इस उदाहरण से यह सत्य उद्घाटित हो जाता है। अतः कहा जा सकता है कि गागर में सागर भर देने वाला 'प्रतीक' अभिव्यक्ति का बहुत ही सशक्त माध्यम होता है। प्रतीकों की

एक विशेषता यह भी होती है कि इनका प्रभाव बहुत समय तक मन-मस्तिक पर बना रहता है। थोड़े में बहुत कह देने की यह शैली लोकजीवन में बहुत प्रचलित है।

लोकजीवन में लगातार प्रयोग होने वाले प्रतीक धीरे-धीरे रूढ़ होकर चिह्न का रूप धारण कर लेते हैं। जैसे किसी समाधिस्थ योगी की समाधि या सती का चौरा त्याग की प्रतिमूर्ति न होकर एक चिह्न मात्र ही रह जाते हैं। सांस्कृतिक कार्यक्रम जैसे शादी, व्याह आदि अवसरों पर प्रयुक्त होने वाले कलशे, हाथ के छाप को स्वस्तिक आदि प्रतीक मांगलिक होने के कारण रूढ़ होकर भी चिह्न से अधिक प्रभावशाली एवं अर्थोद्‌बोधन की क्षमता रखते हैं। इन मांगलिक प्रतीकों का प्रतीकत्व पवित्र एवं शुभ होने के कारण कभी पुराना नहीं पड़ता, छवि कभी भी धुँधली नहीं दिखती है। लोकजीवन की मान्यता एवं आस्था इतनी पक्की होती है कि उनके मांगलिक प्रतीकों में यही आस्था और मान्यता कूट-कूट कर भरा जाती है, जिससे वे कभी जीवन से विलग नहीं हो पाते और न ही लोकजीवन उनसे विरत होना चाहता है।

अपने व्यापकत्व और बोध-शक्ति के परिणामस्वरूप आज प्रतीक शब्द न केवल साहित्य में बल्कि गणित, तर्कशास्त्र, मनोविज्ञान, भाषा-विज्ञान आदि शास्त्रों में भी प्रयुक्त हो रहा है। उद्देश्य की सीमितता के कारण प्रारम्भिक काल के प्रतीक वर्तमान प्रतीक-विधान के संदर्भ में आधुनिक साहित्य को पूर्णतया मान्य नहीं है, क्योंकि साहित्य में प्रतीक से तात्पर्य अभिव्यक्ति के उस सूक्ष्म व व्यंजक प्रकार से है, जो विभिन्न अर्थस्तरों को उद्‌घाटित करने में पूर्ण समर्थ है। प्राचीन से प्रतीक भले ही अपने अर्थ-बोध एवं भाव-बोध की क्षमता में सीमित रहे हों, परन्तु उनके एतिहासिक विकास-क्रम को समझे बिना आज के संदर्भ में प्रतीकों की विशद् एवं व्यापक ढंग से की गयी व्याख्या भी पूर्ण नहीं कही जायेगी। किसी भी शब्द की समुचित एवं विशद् व्याख्या करने के लिए युग के परिप्रेक्ष्य में उसके अतीत तक प्रचलित बहुआयामी अर्थों, भावों, विचारों एवं विशेषताओं के अतिरिक्त उसके परम्परागत, महत्त्व एवं विकास-क्रम का मूल्यांकन करना आवश्यक हो जाता है।

मानव संस्कृति के विकास के साथ ही प्रतीकों का इतिहास भी जुड़ा हुआ है। अतः प्रतीकों की प्राचीनता के संबंध में यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि जितनी पुरानी मानव संस्कृति है, उतना ही पुराना प्रतीकों का इतिहास भी है। यह सर्वमान्य है कि मनुष्य की प्रारम्भिक भाषा प्रतीकात्मक थी। भाव-बोध की शक्ति आते ही मानव ने अभिव्यक्ति के लिये जिन तौर-तरीकों को अपनाया, वे प्रतीकात्मक थे। लिपियों के विकास-क्रम पर दृष्टिपात करें तो पता चलता है कि वे प्रारंभ में संकेतात्मक थे, किन्तु उनमें प्रतीकत्व का गुण विद्यमान था, जिसके परिणामस्वरूप उनका विकस संभव हो सका। प्रतीक की प्राचीनता के संबंध में डॉ. प्रभात ने अपने विचार इस तरह व्यक्त किये हैं- 'मानव अभिव्यक्ति का जन्म ही प्रतीकीकरण के साथ हुआ, जिसने लाखों वर्षों के अंधकार-युग से निकाला और उसकी यात्रा की दिशा बदल दी।'

संसार के सबसे प्राचीनतम ग्रंथ 'वेद' इस बात के पुष्ट प्रमाण हैं, इनके साहित्य के प्रणयन-काल से ही भारतीय वाङ्.मय में प्रतीकों का प्रयोग प्रारंभ हो गया था। वेदों में प्रतीकों के प्रयोग का मूल उद्देश्य जहाँ एक ओर गम्भीर विषयों एवं प्रसंगों की सहज अभिव्यक्ति था, वहीं दूसरी ओर इसका उद्देश्य वेदों में वर्णित आध्यात्मिक एवं रहस्यवादी विषयों में गम्भीरता का समावेश करना भी था। उपनिषदों तक आते-आते संहिताओं के गूढ़ प्रतीकों में कुछ सरलीकरण की प्रवृत्ति दिखायी देने लगी। जीवात्मा और परमात्मा की व्याख्या ऋग्वेद में एक स्थान पर प्रतीकों के माध्यम से इस प्रकार की गयी है- 'दो सुंदर पंख वाले, एक साथ रहने वाले और परस्पर मित्रता रखने वाले पक्षी एक ही वृक्ष पर निवास करते हैं। एक स्वादयुक्त फल को खाता है और दूसरा बिना खाये ही चैतन्य रहता है।' इसमें वृक्ष शरीर (जगत) का प्रतीक है और स्वादयुक्त फल को खाने वाला पक्षी परमात्मा जीवात्मा का तथा बिना कुछ खाये चैतन्य रहने वाला पक्षी का प्रतीक है। वैदिक काल में एक वस्तु के लिये एक ही प्रतीक का प्रयोग नहीं होता था और भी बहुत से प्रतीक थे। देश काल के भेद से इस युग के प्रतीकों के स्वरूप और लक्ष्यार्थ बदल गये हैं। वैदिक -काल के कुछ प्रतीक इस प्रकार हैं-

ज्योति	-	प्रकाश, सूर्य, अग्नि, प्राण।
वायु	-	प्राण।
स्वस्तिक	-	मांगलिक चिह्न, जिसमें देवताओं का निवास माना जाता है।

अग्नि	-	तेज, प्रकाश।
गुहा	-	बुद्धि और हृदय।
हंस	-	ईश्वर और जीव का प्रतीक।

आगे चलकर पौराणिक युग में प्रतीक के प्रयोग पर और अधिक बल दिया गया। पौराणिक साहित्य में देवी-देवता संबंधी अनेक गुण एवं क्रिया-कलापों को प्रतीकों के माध्यम से व्यक्त किया गया। पौराणिक युग के प्रतीकों के संदर्भ में डॉ. नित्यानंद शर्मा का कथन है कि 'पुराणों में वर्णित आध्यात्मिक रहस्यों का उद्घाटन करने हेतु एवं इन्हें सर्वसाधारण सुलभ बनाकर उन्हें सामाजिकता प्रदान करने के लिए प्रतीकों में इन आख्यानों को रखा गया है, जिससे सर्वसाधारण इनकी रोचकता के कारण इस ओर आकृष्ट हों। पर समय के प्रभाव से इनकी प्रतीकात्मकता इतनी जटिल एवं अस्पष्ट हो गयी है, कि सामान्य बुद्धि वाले लोग न तो इन्हें समझ ही पाते हैं और न समझने की चेष्टा करते हैं। जबकि पुराण साहित्य ने उदात्त मानसिक चेष्टाओं और विराट् आध्यात्मिक चेतना को प्रतीकात्मक कहानियों, आख्यानों का स्वरूप देकर रोचकता एवं मनोरंजकता प्रदान की है। पौराणिक साहित्य में ब्रह्मा चारों वेद एवं प्रचुर ज्ञान के, विष्णु व्यापकत्व के तथा शिव प्रलय के प्रतीक हैं। सरस्वती विद्या एवं कलाओं की प्रतीक है। विष्णु के हाथ में शंख, चक्र, गदा और पद्म क्रमशः - उज्ज्वलता, भय, मृत्यु, कोमलता या निर्लिप्तता का प्रतीक है, अंधकार प्रलय का प्रतीक है। इन्द्र ऐश्वर्य, पराक्रम और शक्ति का प्रतीक है। विष्णु का वाहन गरुड तीव्र गति का प्रतीक है। पौराणिक साहित्य में वर्णित सारे आख्यान, पात्र एवं देवी-देवता प्रतीकात्मक हैं।

संस्कृत साहित्य में अलंकार बहुलता एवं वर्णात्मकता के कारण प्रतीकों का प्रयोग कुछ मन्द गति से हुआ, फिर भी जो प्रयोग हुआ वह अति प्रभावोत्पादक है। संस्कृत साहित्य का सूक्ष्म अवलोकन करने पर ज्ञात होता है कि संस्कृत की अन्योक्ति पद्धति में प्रतीकात्मकता की पूर्ण छाप है। फिर भी शुद्ध संस्कृत साहित्य में प्रतीकों का प्रयोग कुछ कम दिखायी पड़ता है। 'भ्रमर' इस युग में प्रेमी प्रिय का और वंचकता का प्रतीक बनकर आया है। कुबेर को ऐश्वर्य का प्रतीक माना गया है। कालिदास के साहित्य में प्रतीकों के प्रचुर उदाहरण प्राप्त होते हैं। महाकवि ने लता और विटप के मिलन को प्रेयसी-प्रिय मिलन के रूप में तथा लहरों से आलोड़ित नदियों को मद- विह्वल कामिनियों के प्रतीक रूप में चित्रित किया है। प्राकृत साहित्य के प्रतीकों में व्यापक व्यंजनाशक्ति एवं अर्थबोध का बहुआयामी रूप नहीं मिलता। रंभा मंजरी में 'पईज' (प्रतीक) तथा पइप्पईयन (प्रति-प्रतीक) अंग, अवयव तथा प्रत्यंग के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। संस्कृत साहित्य में भी प्रतीक के लिये अंग, अवयव या उपलक्षण का प्रयोग किया गया है। संस्कृत साहित्य की भाँति प्राकृत युग में भी भ्रमर को लम्पट नायक के रूप में ही प्रयुक्त किया गया है। मालतिकलिका सुकुमारी अल्पवयस्का नायिका का प्रतीक है। ऐसे बहुत से अन्य प्रतीक 'गाथा सप्तशती' में देखे जा सकते हैं। उल्लेखनीय है कि संस्कृत साहित्य की अन्योक्ति पद्धति ही प्राकृत साहित्य के प्रतीक- विधान में भी सक्रिय रही।

इतने विवेचन के बाद निष्कर्षतः कह सकते हैं कि - वैदिक काल से लेकर प्राकृत-युग तक प्रतीकों की महत्ता किसी न किसी रूप में विद्यमान रही है। आगे चलकर प्रतीक धीरे-धीरे साहित्य में अभिव्यक्ति एवं प्रभावोत्पादक भाव- बोध के लिये अनिवार्य हो गया । आदिकालीन साहित्य में सिद्ध-संतों की रचनाओं में प्रतीकात्मकता के दर्शन होते हैं। इन सिद्ध संतों के अधिकतर प्रतीक रहस्यवादी या फिर यौगिक क्रियाओं से संबंधित संकेतात्मक हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार- 'रहस्यवादियों की सार्वभौम प्रवृत्ति के अनुसार ये लोग अपनी बानियों के सांकेतिक दूसरे अर्थ बताया करते थे।' इनके अतिरिक्त इस युग के अन्य कवियों की रचनाएँ प्रशस्तिपरक एवं वर्णनात्मक है। अतिश्योक्ति की बहुलता के कारण ऐसी रचनाओं में प्रतीक विधान की पूर्ण व्याख्या नहीं हो पायी। अतएव कह सकते हैं कि वीरगाथात्मक साहित्य ने प्रतीकों के क्षेत्र में आदिकाल को विशेष कुछ नहीं दिया।

पूर्व मध्यकाल की प्रत्येक शाखा में प्रतीकों का प्रयोग हुआ है। भक्तिकाल की सगुण भक्ति में गोस्वामी तुलसीदास जी के प्रतीक सरल एवं सहज हैं। ये प्रतीक परम्परागत होकर भी अपनी अभिव्यक्ति में भाव-प्रवण हैं। सूरदास जी के प्रतीक भक्तिमूलक एवं सांख्यमूलक हैं, किन्तु सूरदास के कूट पदों के प्रतीक रूढ़ और परम्परागत होकर भी क्लिष्ट और गूढ़ हैं।

मुद्राओं में अंकित प्रतीक

डॉ. जगन्नाथ दुबे

भारतीय मुद्राओं पर प्रारम्भिक काल से प्रयुक्त प्रतीकों के अङ्कन में धार्मिक पृष्ठभूमि सहायक रही है। प्राचीन मुद्राओं के पुरो एवं पृष्ठ भाग पर अङ्कित चिह्न विभिन्न धार्मिक विश्वासों एवं आस्थाओं के प्रतीक माने जा सकते हैं। रेप्सन ने वर्षों पूर्व प्राचीन धार्मिक इतिहास के निर्माण में मुद्राशास्त्र के साक्ष्य के महत्त्व की ओर संकेत किया था। मुद्राओं पर अङ्कित चिह्नों के उद्‌गम के विषय में विद्वानों में मतवैभिन्य है। मनुष्यों, पशुओं, वृक्षों और अन्य चिह्नों को विभिन्न भारतीय धार्मिक सम्प्रदायों ने इन्हें अपने उद्देश्य की पूर्ति हेतु अपनाया है। प्राचीन भारतीय आहत मुद्राएँ (प्रारम्भिक जनपदीय मुद्राएँ) चाँदी और ताँबे की धातु से निर्मित हैं। ये मुद्राएँ वर्गाकार, आयताकार अथवा अनियमित आकार की हैं, जिन पर विविध प्रकार के चिह्न अङ्कित हैं। तत्पश्चात् सुनिश्चित आकार-प्रकार की मुद्राएँ प्रचलित हुई हैं। इन पर व्यवसायियों द्वारा उनकी प्रामाणिकता हेतु चिह्न अङ्कित किये गये। ये मुद्राएँ चौथी सदी ईसा पूर्व में प्रचलित थी, तथा इनका नामकरण भी आहत मुद्रा किया गया।

वैक्ट्रिया और पार्थिया के यूनानी राजाओं ने जब उत्तर-पश्चिम भारत पर अपना अधिकार कर लिया तो भारतीय संस्कृति के प्रभाव के कारण वहाँ की मुद्राओं पर अङ्कित चिह्नों का प्रयोग उन्होंने भी अपनी मुद्राओं पर किया।

परमेश्वरीलाल गुप्त ने अमरावती से प्राप्त चाँदी की आहत मुद्राओं पर लगभग तीन सौ चिह्नों की पहचान की है। डी.बी. स्पूनर ने चाँदी की आहत मुद्राओं पर अङ्कित कतिपय प्रतीकों को बौद्ध धर्म से सम्बद्ध बतलाया है। उदाहरणार्थ सूर्य को धर्मचक्र एवं वृक्ष को

बोधिवृक्ष का प्रतीक कहा है। कालान्तर में उन्होंने अपना मत परिवर्तित कर इन्हें पर्शियन प्रतीक जैसे सूर्य को मिथ्र और वृक्ष चिह्न को होमा वृक्ष का प्रतीक दर्शाया है। डी.आर. भाण्डारकर ने इन्हें सात रत्न–हस्ति, अश्व, रत्न, मणि, स्त्री, गृहपति और परिणयक को चक्रवर्तित्व का द्योतक प्रतीक माना है। बाबू दुर्गाप्रसाद ने इन चिह्नों को तांत्रिक प्रतीकों के रूप में वर्णित किया है। जे.एन. बेनर्जी ने कई चिह्नों को वैदिक धर्म से सम्बद्ध बतलाया, जैसे चक्र चिह्न को सूर्य देव, वृक्ष को स्थल वृक्ष अथवा चैत्य वृक्ष का प्रतीक और सचन्द्र त्रिकूट को शैव धर्म का प्रतीक कहा है। अधिकांशत: विद्वानों ने प्राचीन भारतीय मुद्राओं पर अङ्कित विविध चिह्नों को धार्मिक प्रतीक इंगित किया है।

ए. कुमारास्वामी के मतानुसार आहत मुद्राओं पर अङ्कित चिह्न भारतीय मूर्तिकला के विकास का एक सुनिश्चित क्रम बतलाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि ब्राह्मण, बौद्ध व जैन- समस्त धार्मिक सम्प्रदायों ने एक ही स्रोत से एक समान प्रतीकों को अपने उद्देश्य की पूर्ति हेतु अपनाया। प्राचीन भारतीय निवासियों द्वारा कई शताब्दियों पूर्व इन प्रतीकों को प्रचलित किया गया था, तथा वे पशु–पूजा एवं बहुदेववाद में दृढ़ विश्वास रखते थे।

बाख्त्री–यवन आक्रमण और उसकी विजयों के फलस्वरूप यूनानी धार्मिक विचारों का प्रभाव भारत पर पड़ा। द्वितीय एवं प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व में काबुल और पंजाब पर शासन करने वाले यूनानी शासकों की मुद्राओं पर मौलिक रूप से यूनानी देवी–देवताओं का अङ्कन किया गया। कपिशा के नगर तथा पुष्कलावती के नगर देवताओं का मुद्राओं पर अङ्कन भौगोलिक एवं धार्मिक इतिहास की दृष्टि से अत्यधिक उल्लेखनीय है। यह आकर्षक है कि यूनानी शासक अगथुक्रेयस की कतिपय मुद्राओं पर भारतीय देवताओं बलराम–कृष्ण व अन्य प्रतीकों जैसे चैत्यवृक्ष व सचन्द्र–त्रिकूट का अङ्कन है। मिनेन्डर की मुद्राओं पर चक्र का चिह्न, जिसे बौद्ध धर्म के धर्मचक्र का प्रतीक कहा गया है, चित्रित है। मिलिन्दपञ्ह से भी मिनेन्डर का बौद्धधर्म की ओर झुकाव स्पष्टत: प्रकट होता है।

कुषाण शासकों के सिक्के धार्मिक दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। प्रथम कुषाण शासक कुजुल कद्फिस के सिक्कों पर 'सत्य धर्म स्थित' आलेख है। विम कद्फिस के सिक्कों पर मानवीय रूप में शिव का नंदी सहित अङ्कन तथा उसकी उपाधि 'माहेश्वर' अर्थात् शिव का परमोपासक उल्लिखित है। कनिष्क के सिक्कों पर भगवान बुद्ध का अंकन क्रांतिकारी रूप में बौद्ध धर्म के महायानी सम्प्रदाय का मार्गदर्शक तत्त्व मान्य कर सकते हैं। साहित्यिक साधन–स्रोतों से भी इस प्रमाण की पुष्टि होती है कि वह बौद्ध धर्मावलम्बी हो गया था। कनिष्क और हुविष्क के सिक्कों पर पृष्ठ भाग में यूनानी, ईरानी, पारसिक और ब्राह्मण धर्म से सम्बन्धित देवी–देवताओं का अङ्कन है। इन देवी–देवताओं का अङ्कन उनके विस्तृत साम्राज्य के विभिन्न प्रदेशों में निवास करने वालों के धार्मिक विश्वासों एवं आस्थाओं के प्रतीक हैं। वासुदेव प्रथम के सिक्कों पर शिव तथा पर्शियन देवी आरदोक्षो के साथ ही वैष्णव धर्म के देवता वासुदेव का नाम व चित्रण उल्लेखनीय है। परवर्ती कुषाण शासकों ने भी अपने सिक्कों पर साधारणत: शिव का ही अङ्कन किया है।

सातवाहन और शक–क्षत्रप शासकों के सिक्कों पर अङ्कित चिह्नों से उनके शासन काल के धार्मिक इतिहास की स्वल्प विश्वसनीय जानकारी प्राप्त होती है। सातवाहन शासकों के नासिक और नानेघाट अभिलेखों से उनके द्वारा किये गये वैदिक यज्ञों की परम्परा ज्ञात होती है। यद्यपि बौद्ध धर्म के प्रति भी उनका दृष्टिकोण उदार था। सातवाहन शासकों की मुद्राओं पर अङ्कित चिह्न आहत व ढली मुद्राओं पर अङ्कित चिह्नों की परम्परा में ही दिखाई देते हैं। क्षहरात भूमक के सिक्कों पर चक्र का अङ्कन बौद्ध धर्म से सम्बद्ध किया जा सकता है। चष्टन ने सचन्द्र त्रिकूट चिह्न सिक्कों पर प्रयुक्त किया, यह सातवाहन सिक्कों के अनुरूप है। यह अनुमान किया जाता है कि यह चित्र शैव धर्म का प्रतीक है, क्योंकि शक–क्षत्रप शासकों का नामाभिधान भी इस प्रकार का है, जैसे- रुद्रदामन, रुद्रसिंह और रुद्रसेन।

नाग वंश के शासकों के सिक्कों पर मयूर, त्रिशूल, नंदी,

सिंह आदि के लाञ्छन इन्हें शिव का परम भक्त घोषित करते हैं। भवनाग ने शिव के रूप की परिकल्पना को पूर्ण किया। शिव का वाहन नंदी पार्वती का वाहन सिंह, स्कन्द का वाहन मयूर, शिव का परमास्त्र त्रिशूल और ऋषि परशुराम का परशु नागवंश के शासकों के सिक्कों पर अंकित है।

इस युग में त्रिशूलधारी और चक्रपाणि विष्णु की भक्ति एक दूसरे की पूरक थी। अनेक नागराजा विष्णु भक्त भी थे। अहिच्छत्रा के अच्युत का नाम ही विष्णु पूरक है। भवनाग, व्याघ्रनाग और देवनाग राजाओं के सिक्कों पर भी चक्र का चिह्न अंकित है, यह विष्णु के चक्र का प्रतीक है।

गुप्तवंशीय साम्राज्यवादी सम्राटों ने अपने अधिकांश सिक्कों पर ब्राह्मण धर्म से सम्बन्धित देवी-देवताओं का ही प्राय: अंकन करवाया। समुद्रगुप्त और कुमारगुप्त प्रथम की स्वर्ण मुद्राओं से यह ज्ञात होता है कि उन्होंने चिरकाल से परित्यक्त अश्वमेध यज्ञ का पुन: आयोजन किया। गुप्त सम्राटों का व्यक्तिगत धर्म वैष्णव धर्म था। उनके सोने और चाँदी के सिक्कों पर वैष्णव धर्म के प्रतीक गरुड़ एवं चक्र का अंकन है। सोने के सिक्कों के पृष्ठ भाग पर प्राय: विष्णुप्रिया लक्ष्मी का अंकन है। चन्द्रगुप्त द्वितीय के चाँदी के सिक्कों पर उसकी उपाधि परम भागवत और साथ ही वैष्णव धर्म के प्रतीक गरूड़ चिह्न का अंकन है। यह चिह्न उसके विष्णु के परमोपासक होने का संकेत करते हैं। गुप्त सम्राटों के सिक्कों पर कतिपय प्रसिद्ध देवी-देवताओं तथा विष्णु का चक्र स्वरूप तथा कार्त्तिकेय का अंकन भी पाया जाता है। समुद्रगुप्त के वीणा वादन (ललित-गन्धर्व) प्रकार के सिक्कों के पृष्ठ भाग पर कमलासना विद्यादेवी सरस्वती के अंकन की संभावना व्यक्त की गई है। उसके व्याघ्र निहन्ता सिक्कों के पृष्ठ भाग पर मकर पर खड़ी देवी को गङ्गा कहा गया है। चन्द्रगुप्त द्वितीय के सिंहनिहन्ता प्रकार के सिक्कों के पृष्ठ पर अंकित देवी की पहचान शिवपत्नी दुर्गा से की गई है। कुमारगुप्त प्रथम के सिक्कों के पुरोभाग पर देवताओं के सेनापति कार्तिकेय का मूर्तन किया गया है। स्कन्दगुप्त के पश्चिमी भारत व मध्यदेशीय चाँदी के सिक्कों पर शिव के वाहन वृषभ (नंदी) का अंकन किया गया है। गुप्त सम्राटों के अभिलेखों से भी यह प्रकट है कि वैष्णव और शैव धर्म के साथ ही बौद्ध और जैन धर्म भी उनके साम्राज्य में समृद्धिशाली थे।

मध्यदेश में हूण शासक तोरमाण व मिहिरकुल ने चाँदी और सोने की मुद्राएँ प्रचलित कीं थीं। अ.स. अल्तेकर ने प्रिन्स ऑफ वेल्स म्यूजियम, मुम्बई में तोरमाण की मुद्राओं का परीक्षण किया था। तोरमाण की चाँदी की मुद्राओं के पृष्ठभाग में चक्र का अङ्कन है। मिहिर कुल की चाँदी की मुद्राओं के पुरोभाग में नंदी का अंकन व पृष्ठ भाग पर पहरेदारयुक्त अग्निवेदी लघु आकारित चाँदी की मुद्राओं पर नंदी के सम्मुख त्रिशूल व लेख 'जयतु वृषध्वज' अङ्कित है। ताँबे की मुद्राओं के पृष्ठ भाग में विष्णुप्रिया लक्ष्मी का अङ्कन है। हूण शासकों की स्वयं की कोई मुद्रानीति नहीं है। भारतीय मुद्राओं के प्रतीकों का उन्होंने अनुकरण किया है।

गुप्तसाम्राज्य के पतन के पश्चात् और भारत पर मुस्लिम विजय के मध्य (पूर्वमध्यकाल) काल में उत्तरी भारत में कतिपय शासकों की मुद्राएँ मिलती हैं। गुर्जर-प्रतिहार शासकों की चाँदी की मुद्राओं के पुरोभाग पर विष्णु के वराह अवतार और पृष्ठ भाग पर दो पहरेदार युक्त अग्निवेदी का अङ्कन अथवा मोटे नागरी अक्षरों में लेख 'श्रीमदादिवराह' अङ्कित है। इससे यह प्रकट होता है कि ये वैष्णव धर्मावलम्बी थे। बङ्गाल के पाल शासक देवपाल की स्वर्ण मुदाओं के पुरोभाग में कमलासना लक्ष्मी का अङ्कन है। ओहिन्द के षाहि शासकों ने ककुदमान वृषभ (शिव का वाहन) तथा अश्वारोही प्रकार की मुद्राएँ प्रचलित कीं। इन मुद्राओं के अनुकरण पर तोमरवंशी शासकों में सल्लक्षणपाल, अनंगपाल और महिपाल, गहड़वाल वंश के मदनपाल और चाहमान वंश की रानी सोमलदेवी, सोमेश्वर देव तथा पृथ्वीराज ने अपनी अश्वारोही वृषभ प्रकार की मुद्राएँ प्रचलित कीं।

त्रिपुरी के कलचुरि शासक गाङ्गेयदेव की तीनों धातुओं स्वर्ण, रजत व ताँबे की मुद्राओं पर चतुर्भुज पद्मासना लक्ष्मी व उनके कई प्रतीकों का सर्वथा नवीन अङ्कन है। गाङ्गेयदेव की लक्ष्मीप्रकार की स्वर्णमुद्राओं का अनुकरण मालवा के परमार

वंश के शासक उद्यादित्य व नरवर्मन, जेजाकभुक्ति के चन्देल शासक कीर्तिवर्मन, सल्लक्षणवर्मन, मदनवर्मन, परमर्दि व त्रैलोक्यवर्मन आदि। गहड़वाल शासक गोविन्दचन्द्रदेव, राजस्थान के चाहमानवंश के शासक अजयदेव, बयाना के यदुवंशी शासक अजयपाल, कुमारपाल और महिपाल तथा दिल्ली के सुल्तान मोहम्मद विन-साम, जो मोहम्मद गोरी के नाम से अधिक प्रसिद्ध है, ने लक्ष्मीप्रकार की मुद्राएँ प्रचलित कीं।

दक्षिण भारतीय मुद्राओं के सूक्ष्म अध्ययन से वहाँ के शासित विभिन्न वंश के शासकों की मुद्राओं पर अङ्कित विविध प्रकार के अङ्कित राज्यचिह्नों से उनकी पहचान होती है। कतिपय प्रमुख राजवंश के शासकों के वंश-लाञ्छन इस प्रकार हैं- जैसे चालुक्य वंश का प्रतीक वराह, राष्ट्रकूट का प्रतीक वृषभ (शिव का वाहन), कलचुरि वंश का प्रतीक गरुड़ (विष्णु का वाहन) एवं वृषभ, कदम्ब वंश का राज्यचिह्न हनुमान, यादववंश का प्रतीक गरुड़, होयसल का चीता, गङ्गवंश का वृषभ, मैसूर का राज्यचिह्न हस्ति व शिव-पार्वती, पल्लव शासकों का सिंह तथा वृषभ, चेर का राज्यांक धनुष, पाण्ड्य का मत्स्य और चोल वंश का राज्यांक चीता मुद्राओं पर अङ्कित है। मुद्राओं पर अङ्कित इन विविध प्रतीकों से ऐसा प्रतीत होता है कि दक्षिण भारत के राजवंश विभिन्न धर्मों के प्रति आस्थावान थे। वराह अवतार भगवान विष्णु के दशावतार में से एक है। वृषभ- शिव का वाहन (शैव-धर्म), गरुड़- विष्णु का वाहन (वैष्णव धर्म), हनुमान-रामचन्द्र के भक्त, सिंह-शिवप्रिया दुर्गा का वाहन, हस्ति (ऐरावत हाथी) देवाधिदेवइन्द्र का वाहन है। परन्तु कविपय वंश -लाच्छन (प्रतीकों) का संतोषजनक सुस्पष्ट रूप से कुछ कहना कठिन है, जैसे- चीता, मत्स्य, धनुष का कोई धार्मिक प्रयोजन नहीं रहा होगा। शासक के शौर्य, प्रताप व विजय हेतु चीता का अङ्कन, शासक द्वारा सामुद्रिक विजय का प्रतीक मत्स्य तथा युद्ध में तत्पर शासक का प्रतीक धनुष प्रतीत होता है।

जनजातीय प्रतीक

डॉ. अर्जुनदास केसरी

जनजातियों का एक अलग संसार है, जिसमें अगणित आस्थाएँ और विश्वास हैं। उन सबका आधार धर्म है। धर्म हमें आचरण की पवित्रता का पाठ पढ़ाता है। उस आचरण के आधार हैं- देवी-देवता। तैंतीस कोटि देवी-देवताओं की बात शास्त्रानुमोदित है। उनमें वैदिक देवों की गण्य संख्या के अतिरिक्त नगण्य संख्या आदिवासी देवी-देवताओं की है। वैसे ही जनजातियों की संख्या की गणना भी आसान नहीं है।

हम एक सीमित क्षेत्र की बात करें, तो विंध्य और कैमूर की उपत्यकाओं में सदियों, सहस्राब्दियों से विकसित जनजातियों की संख्या भी कम नहीं है। रोहतास पलामू, सीधी, सरगुजा, मिर्जापुर, सोनभद्र जनपद, बिहार, मध्यप्रदेश, छत्तीसगढ़, उत्तरप्रदेश के चतुष्कोण पर स्थित है, जहाँ अगरिया, असुर, उराँव, कंवर, करूस, किसान, कोरकू, कोरबा, कोल, खड़िया, खंजर, खरवार, गोंड, घेसिया, चेरो, धरकार, पठारी, पनिका, परहिया, बादी, बिन, बियार, बिरजिया, बिरहोण, बैसवार, बैगा, भील, भूइयां, भुरतिया, माई, मुण्डा, मुसहर आदि जनजातियाँ अथवा जनजाति वर्गजन निवास करते अथवा करते रहे हैं। इनमें से कतिपय पलायित, विस्थापित अथवा विलुप्त प्राय हैं। तथापि इनके देवी-देवता कथमपि विलुप्त नहीं इनके देवी-देवताओं, पूजा पद्धतियों और आस्थाजन्य प्रतीकों की चर्चा वस्तुस्थिति निम्न हुए हैं।

अगरिया-धरतीमाता, सूरज, चन्द्रमा, अग्नि, बड़ादेव, दूल्हादेव, गंलहेर, गोरइया, धमसान, वनसत्ती, इन्द्रासनी के अतिरिक्त वृक्ष, पशु, नागदेवता की पूजा विविध प्रकार से करते हैं। यहाँ स्पष्ट कर देना उचित होगा कि सभी देवी-देवताओं की पूजा सभी जनजातियों द्वारा लगभग एक ही विधि से की जाती है। जैसे धरती की पूजा गुड़-घी का हवन कर के, सूर्यदेव की पूजा जलांजलि

देकर की जाती है। नागदेवता की पूजा दूध-मावा चढ़ाकर की जाती है, तो अन्य देवी-देवताओं की पूजा भी अलग-अलग विधि से की जाती है, जिसका विवरण यथा-प्रसंग दिया जायेगा। प्राय: हर देवी-देवता की पूजा स्त्री-पुरुष, बाल-वृद्ध सम्मिलित होकर नृत्य संगीत के आयोजन के साथ करते हैं।

उरांव जात्रा पर्व बड़े हर्षोल्लास के साथ मनाते हैं। प्राय: अनंत चतुर्दशी अथवा अन्य अवसर पर या वैसे भी प्रतिदिन गोतुल -गृहों में करमा नृत्य करने की परंपरा रही है, जहाँ कदम्ब वृक्ष की पूजा करते युवक और युवतियाँ एकत्र होकर, छक कर मद्यपान करके और नाचते-गाते हैं। नाचते-गाते युवक और युवती के पांवो के अंगूठों का स्पर्श हो जाने पर कामदेव को साक्षी मानकर विवाह की प्रक्रिया भी सम्पन्न हो जाती है। इस अवसर पर भाई-बहन के सिर पर पगड़ी बाँधता है, ताकि संकट के समय वह भाई की रक्षा कर सके।

इसी प्रकार कंवर जंगल, पहाड़, गाँव, गोशाला के देवी-देवताओं की पूजा गुड़-घी, दारू चढ़ाकर करते हैं। दूल्हादेव, महादानी और पछिमहा इनके मुख्य देवता हैं। इनके विश्वास के अनुसार दूल्हादेव किसी पहाड़ पर रहते हैं, जिन्हें विवाहोत्सव के अवसर पर प्रसन्न रखना अनिवार्य होता है। महादानी सम्भवत: शिवबाबा ही हैं, जो दूध, लड्डू पाकर प्रसन्न होते हैं। करूस विंध्याचली, ज्वालामुखी, मैहर, इन्द्रासनी, बंसरा, मनियां भवानी की पूजा में विश्वास करते हुए उन्हें बलि इलायची, दान, चुनरी, नारियल, रौली से प्रसन्न करने का प्रयास करते हैं। नवरात्र के अवसर पर ये मूड़ मुड़ाकर समूह में देवियों के धाम में बाजे-गाजे के साथ जाते और झूमकर नाचते-गाते हैं।

सूर्य किसानों के सर्वश्रेष्ठ देवता हैं। स्त्रियाँ अर्घ्य देकर इनकी पूजा करती हैं। ऐसा करके वे अपने पति-पुत्रों के दीर्घायु की कामना करती हैं और चाहती हैं कि सूर्य जैसा तेजस्वी पुत्र प्राप्त हो। ये लोग सूर्य के अलावा पृथ्वी, चन्द्रमा, वृक्ष, नदी, आकाश, पशु, नाग-बिच्छू आदि की पूजा भी करते हैं। वनदेवता, वनदेवी, ग्रामदेवता, गोरैया, बघउत, धमसान, इंद्रासनी और पितृदेव की पूजा भी ये यथावसर करते हैं। जो काम कोई देवता नहीं कर सकता, घमसान उसे कर दिखाता है, जिसके चलते लोकोक्ति बन गई है -

बिन घमसान कवन बोरे तपनी।

कोरकू और कोरवाओं के मुख्य पर्व हैं- रक्षाबंधन, होली, पोला, नागपंचमी, गुड़ी-पड़वा, मेघनाद, देवधानी, जिरोती, डुगैली, तीज। इनके समाज में ओझाई-देवाई, टोना-टोटका का बड़ा महत्त्व है। ये मानर, ढोलक, खंजड़ी, झांझ, डफ, डमरू, टिमकी, तुमड़ी, चंग, किंकड़ी आदि वाद्य बजाकर देवी-देवताओं को प्रसन्न करते हैं। खुरिया रानी की पूजा खुरिया पहाड़ी पर जाकर करते हैं और उन्हें प्रसन्न करने के लिये जानवरों की बलि चढ़ाते हैं। ये बड़ा देव या ठाकुरजी की पूजा ये फसल तैयार हो जाने पर खलिहान में करते हैं। उस अवसर पर बैगा को पूजा कराने के बदले खरवन पताई के रूप में गल्ला का एक अंश दिया जाता है। महामारी से बचने के लिये नीम और पीपल की पूजा की जाती है।

कोलों के मुख्य देवता बड़ा देव (शिव) हैं। डहिबाबा, ब्रहनबाबा को प्रसन्न करने के लिये मुर्गा, सूअर अथवा बकरे की बलि चढ़ाते हैं। ये पड़िहा और दखिनही की भी पूजा करते हैं और मानते हैं कि सेवरी, जिसके यहाँ श्रीराम ने जूठी बेर खायी थी, बेरम्ही (ब्रह्मा की स्त्री) देवी की पुत्री थी।

खड़िया या खड़खड़िया कोयल नदी के आसपास रहते और उसे अपनी माता की-सी श्रद्धा देते हैं। ये धरती माता की पूजा बलि अथवा मिष्ठान्न चढ़ाकर करते हैं। खंजर हिन्दुओं की तरह दुर्गामाता की पूजा बलि, रोट, मिष्ठान्न चढ़ाकर करते हैं, तो

पितृपूजा में भी विश्वास करते हैं। इसके अलावा वनदेवता, ग्रामदेवता, पृथ्वी, आकाश, सूर्य और चंद्रमा की पूजा करते हैं। खरवार-बघउत, बनसत्ती, दुल्हादेव, घमसान, शिव, दुर्गा, हनुमान, बंसरा, मनियां भवानी के अलावा वृक्षों में सेमल, पीपल, नीम की तथा जंतुओं में नाग-बिच्छू और जानवरों में बाघ और गाय की पूजा करते हैं। ये गुड़, घी, सावां, जौ, चावल का शाकला बनाकर आहुति देते हैं। सत्यनारायण भगवान् की कथा गेहूँ का चूर्ण चढ़ाकर करते हैं। दैवी आपदाओं से बचने के लिये ये डिहवार, गंवहरे की पूजा निकारी करके करते हैं। निकारी पूजा की एक विशेष विधि है, जिसमें वे बैगा के साथ सिर के बाल मुड़ाकर, लाल रंग के झण्डे हाथ में लेकर, नंगे बदन कंधें पर गड़ासा रखकर गाँव की परिक्रमा करके अपने देवी-देवताओं का आह्वान करते हुए करते हैं।

गोंड सबसे पुरानी और श्रेष्ठ जनजाति है। इस जाति के लोग धरती, सूरज, चंद्रमा, वृक्ष और पहाड़ों की पूजा करते हैं। कर्मदेव और करमा देवी की पूजा कदम्ब की डाल को प्रतीक मानकर उसके चारों ओर वृत्त या अर्द्धवृत्त बनाकर करते हैं।

घसिया ज्वालामुखी, बघउत, वनसत्ती, शारदा देवी, नीलकण्ठ, महुआरी की पूजा में विश्वास करते हैं। ये मांदल, निशान वाद्य बनाते हैं और उनकी पूजा भी करते हैं। इनके यहाँ भी बलिप्रथा मान्य है। चेरों और बैगा पुजारी वर्ग की जनजातियाँ हैं, जो आदिवासी वर्ग की सभी जनजातियों के देवी-देवताओं की पूजा करते हैं। ये उनका शोषण भी करते हैं। ये भी इन्द्रासनी, गंवहेर, वनसत्ती, बघउत, घमसान आदि की पूजा करते हैं। प्राय: इनके आँगन में ही देवस्थान होता है, जहाँ मिट्टी या पत्थर का पिण्ड बना होता है और नीम का वृक्ष भी होता है। वहाँ बाँस, झण्डा, त्रिशूल गड़ा होता है। ये खड़ (करदून) से टोना-भूत-बाधा भी दूर करते हैं। देवस्थान को गोबर से लीप-पोत कर शुद्ध रखना अनिवार्य है, जो पर्यावरण की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। घमसान की महिमा इन पंक्तियों में व्यक्त है -

भले रे घमसान देश-देश में चौरा बन्हाये।
भले रे घमसान चौरा ऊपर खंभा गड़ाए।
खंभा ऊपर धजा फहराए, सिंहासन बोंकरा कराए।
रकत की नारी बहि जाए, गूड़ का सिकरा लइ जाए।

धरकारों के देवता सामान्य हैं। बाँस से जीविका चलने के कारण ये बाँस की भी पूजा शहनाई, डफला, निशान वाद्यों के रूप में करते हैं। इसके अलावा देवनाथ, अगरमरी भवानी, चिरतिया और दूल्हादेव की पूजा भी करते हैं। पठारी भी पुजारी वर्ग की ही जनजाति है। ये मुख्य रूप से तुर्किन की पूजा करते हैं, जो स्त्रीपूत हैं और सोननद के दक्षिण रहकर व्याधियों से रक्षा करती हैं। वरबर इनकी दूसरी संतान है, जो आड़ी पहरी पर रहती है। वह इनके वंश और पशुओं की रक्षा करती है। ये दोनों आपस में भाई-बहन हैं और सब पर शासन करते हैं। ये मुआम्लेच्छ, डिहवार, सेमल, पीपल, नीम, बाँध और नाग की भी पूजा करते हैं। पनिका जनजाति के बारे में कहावत है -

पानी से पनिका भये, बूंदन से शरीर।
आगे-आगे पनिका भये, पाछे दास कबीर।।

ये निर्गुणी हैं, अत: परमपिता परमेश्वर पर विश्वास करते हैं और उसकी सत्ता को कण-कण में व्याप्त मानते हैं, तब भी ये प्रमुख देवी-देवताओं के प्रति आस्थावान हैं। परहिया धरती माता, डिहवार, गंवहरे, वनसत्ती, इंद्रासनी, बघउत, घमसान की पूजा करते हैं। ये सफेद बकरे की बलि चढ़ाकर उसका प्रसाद घर-घर में बाँट कर प्रसन्न होते हैं। ये गाय और गौशाले में गोरइया की पूजा करते हैं। अपने कराह बाबा को ये कराह चढ़ाते हैं, जिसका प्रसाद खीर के रूप में प्राप्त करते हैं। लोरिक को भी ये देवरूप में मानते हैं। बादी दुर्गा, शिव, ज्वालामुखी में अटूट विश्वास रखते

हैं। हिन्दुओं के बाबा विश्वनाथ, बैजनाथ, काशीबाबा की पूजा विशेष विधि-विधान से करते हैं और पितृदेव, ग्रामदेव, वनदेवी में इनका अटूट विश्वास है। धरती की पूजा मुर्गा-सूअर की बलि चढ़ाकर करते हैं। इसी प्रकार बियार धरती, दखिनहीं सेंवरिया, नकटा बाबा, बघउत, वनसत्ती की पूजा के अलावा लाखन कोलेदर, ग्रामदेवता, नीम, पीपल, सेमर, बहेड़ की पूजा में भी विश्वास करते हैं। इनके देवगीत की पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं -

आने दिनेवां कहं दूं देव, मोरे गाहे दिनवां बुझबइ
मोर बरुआ संगवां ना।
देउ मोर पछवा देखावइ हो गाहे दिनवां ना
नकिया त देखल मोर देउ, सुगना कठोरवा
आंखिया हो तोहरी ना
जइसे अमवां फंकिया ना।।

अर्थात् मेरा देवता बलशाली है। वह व्याहिता करमा से रक्षा करेगा। तोते की तरह नाक तथा आम की फाँक की तरह आँखों वाली, नववधू को वह दुःखी देख ही नहीं सकता। बेंसवारों के देवी-देवता हैं- गंवहरे, नागदेवता, गोरइया, ज्यूतिया, तलहीछठ, दूल्हादेव, बघउत, वनसत्ती, इन्द्रासनी- जिनकी वे पूजा करते हैं तो बैगा शालवृक्ष, बड़ादेव, दूल्हादेव, साँप, बिच्छू, बंका पहाड़ी पर स्थित महारानी, दानवदेव, कोरारानी, मृगारानी, ज्वालामुखी, डिहवार, काली, बरम, वरहिया, घमसान की पूजा भी करते हैं। नाग-पूजा की तीन पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं -

नाथली नाग भइया, बरदन क लेखा नाहीं,
बछावन के कवन भरोसा, नाघा ले माल बाघ।
जोतउ कहंइ हमके, खोदी दिहली जदाबदा।।

अर्थात् नाग को तो नाथ दिया, बैलों-बछड़ों का क्या भरोसा, इधर-उधर खोर दिया तो वे भाग जाएँगे। मतलब कि हल जोतने वाला पैना रूपी नाग हल के बैलों को नियंत्रित करता है। उसे नाथ देंगे तो गड़बड़ हो जाएगा।

भीलों के प्रतिनिधि देवता हैं- महादेव, कालीराम, खेतरपाल और हनुमान। ये बिल्ली, वृक्ष, सर्प, पृथ्वी, सूर्य और चन्द्रमा की भी पूजा करते हैं तथा पितृपूजा में विश्वास करते हैं। भुइयां धरती माता को मुख्य देवी मानते हैं। मुण्डा धरती, सूरज, चन्द्र, जल, आकाश, वृक्ष, पशु, वसूली, गोंगा, जाहरगोंगा, चांदीगोंगा की पूजा खेती-बारी की सुरक्षा के लिये करते हैं।

इस तरह हम देखते हैं कि आदिवासी समाज में वनदेवता, ग्रामदेवता, आकाशदेवता, जलदेवता, वृक्षदेवता, पशु-पक्षी तथा जीवों की पूजा में पूरी निष्ठा है। इनके अलावा यत्र-तत्र सर्वत्र अंवरा भगवती, अमिला भवानी, आकाशमोहिनी, कंगालिन, बन्हदूत, ग्वालिन, जिरही, डीह, तुलसी, तरहा, दन्नैत, निमोवगिया, परिहार, विसम्भर, रइया, सोनाइच आदि की पूजा भी मान्य है। स्वस्तिक, ओद्दम, घण्टा, कमल, गुरदम, मोरपंख, नारियल, पान इनके पूजा-प्रतीक हैं। पत्थर को ये देवता मान बैठते हैं और विश्वास प्राप्त हो जाने के बाद उसी की पूजा करने लगते हैं। अनगढ़ पत्थर इनका पूजा-प्रतीक बन जाता है। बाघ की शक्ल का पत्थर है तो बघउत हो गया, नाग की शक्ल का पत्थर नाग देवता हो जाता है। इसी प्रकार टिका हुआ विश्वास ही इनका देवता है, जिनसे इन्हें लाभ मिलता है, वही इनका देवता है।

आदिवासियों की आस्था के बारे में प्रायः यह धारणा बनी हुई है कि वे अंधविश्वासी हैं, किन्तु आस्था-विश्वास भीतर की भावना है। समाज, व्यक्ति चाहे जितना विकास कर ले, विज्ञान तथा पाश्चात्य संस्कृति उसे भले नकार दे, अन्तर्मन कभी नकार नहीं सकता, आदिवासी समाज तो नास्तिक कभी भी नहीं हो सकता।

जनजातीय संस्कृति में मांगलिक प्रतीक

डॉ. आदित्यप्रसाद सिन्हा

झारखण्ड में निवास करने वाली तैंतीस जनजातियों में नौ अल्पसंख्यक आदिम जनजातियाँ हैं, जो अभी भी आदिम धर्म और संस्कृति से जुड़ी हुई हैं। अन्य बहुसंख्यक जनजातियों में भी आदिम संस्कृति के परिष्कृत रूप मिल जाते हैं। वृहत् समुदाय की जनजातियों में संताल, मुंडा, हो, खड़िया, खरवार, उरांव आदि आते हैं तो आदिम जनजातियों में असुर, बिरहोर, कोरवा, सवर आदि जनजातियाँ आती हैं। सभी जनजातियाँ अपने पारम्परिक आदिधर्म, लोकविश्वास पर आधारित सांस्कृतिक परम्पराओं को मानती हैं। जनजातीय धर्म को डॉ. रामदयाल मुण्डा जैसे विद्वान् विशेषज्ञ आदिधर्म, जीववादी धर्म, प्रिमिटिव रिलिजन, एवोरिजिनल, ऐलिजन सरना धर्म, बोंगाइज्म आदि के रूप में मानते हैं।

मूल रूप से आदिवासी धर्म जीववादी धर्म (एनिमिज्म अथवा एनिमिस्टिक रिलिजन) माना जाता है, जिसके सिद्धांत या मान्यता के अनुसार प्रकृति के प्रत्येक तत्त्व वन, पर्वत, नदी, झरना, पेड़-पौधे आदि में एक परमसत्ता अदृश्य रूप में विराजमान है जिसके अलग-अगल नाम हैं और जो अपनी पराशक्ति से समस्त जीवों की उत्पत्ति, भरण पोषण और संहार का कारक बनती है। इन पराशक्तियों को जनजातीय समुदाय बेगा, देवतामा परमेश्वर, एरा (देवी) और रोआ या मुआ (प्रेत शक्ति) के रूप में पूज्य मानता है।

जनजातीय धार्मिक व्यवस्था के तीन प्रमुख तत्त्व माने गये हैं- दर्शन या सिद्धांत पक्ष, अनुष्ठान अथवा कर्मकाण्ड और व्यवस्था या संगठन पक्ष। विवेचना की दृष्टि से ये तीनों पक्ष अलग-अगल दिखते हैं, परन्तु ये तीनों आपस में संयुक्त और एक दूसरे के पूरक हैं।

डॉ. रामदयाल मुण्डा ने तीनों पक्षों के अन्योन्याश्रय संबंधों को दर्शाते हुए अपनी पुस्तक 'आदिधर्म' में इसे सम्पुष्ट किया है। उनके अनुसार आदिवासी के धर्म और संस्कृति के केन्द्र में सिड़बोगा या परमेश्वर है। उसके पश्चात् क्रमानुसार प्रकृति (सृष्टि), ऋतुचक्र (समयावृत्ति), अभितंत्र (कृषि-आखेट), पूर्व-संस्कार (अनुष्ठान) और कलाभिव्यक्ति, नृत्य, गीत, संगीत आदि आते हैं, जो जनजातीय जीवन की सम्पूर्णता के द्योतक हैं। डॉ. मुण्डा ने इसे वृत्तों के माध्यम से प्रस्तुत किया है-

आदिवासी समुदाय का सम्पूर्ण जीवनचक्र इन सभी तत्त्वों से जुड़ा है और वे उसे अपना धर्म, संस्कृति और सामाजिक दायित्व मानते हैं। वे विभिन्न अवसरों- जन्म से मरण तक, पर्व-त्योहार, कृषि कार्य, आखेट, जतरा-मेला आदि के सन्दर्भ में भिन्न-भिन्न प्रकार के शगुन-अपशगुन के लोकविश्वास को दृढ़ता से मानते हैं। अपशगुन या किसी दैवीक शक्ति या प्रेतबाधा से बचने के लिये वे अवसरानुकुल धार्मिक एवं मांगलिक प्रतीकों का अनुष्ठानपूर्वक प्रयोग करते हैं। इन प्रतीकों का प्रयोग कर वे हर प्रकार के अनिष्टकारी बाधा-व्यवधान को दूर कर अपने अभीष्ट कार्य या अनुष्ठान को पूरा करते हैं।

जनजातीय समुदाय में मांगलिक प्रतीकों के विविध रूप पाये जाते हैं, जिनका उपयोग अवसरानुकूल किया जाता है। ये प्रतीक ठोस पदार्थ- लोहा, लकड़ी, पत्थर, मिट्टी आदि से बनाये जाते हैं। इनके अतिरिक्त विभिन्न वृक्षों की डाल, फूल, अंकुरित अन्न, भित्तिचित्र, अल्पना (खोंड), शरीर पर गोदना (टेंटू) आदि मांगलिक प्रतीक के रूप में प्रस्तुत किये जाते हैं।

डॉ. रामदयाल मुण्डा ने अपनी 'आदि धर्म' पुस्तक में विभिन्न धार्मिक एवं मांगलिक प्रतीकों को प्रस्तुत किया है। इसके अतिरिक्त डॉ.एन. मजुमदार, एस.सी. राय आदि विद्वानों ने भी इन प्रतीकों को जनजातीय धर्म एवं संस्कृति का महत्त्वपूर्ण अंग माना है। डॉ. मुण्डा ने जीवनचक्र से संबंधित विभिन्न संस्कारों के अवसर पर प्रयुक्त किये जाने वाले मांगलिक प्रतीकों को सूत्र रूप में प्रस्तुत किया है।

(क) जीवन वृत्त

सुतामवोल बोंगा (गर्भस्थिरीकरण) - गर्भवती के गर्भ की सुरक्षा के लिये यह अनुष्ठान सम्पन्न किया जाता है। इस अवसर पर आँगन को गोबर से लीपकर, उस पर चौकोर अल्पना चावल के आटे से बनायी जाती है। उस पर पीठा रखकर, गर्भवती को नया वस्त्र पहनाकर पूर्वाभिमुख बैठाया जाता है। पाइन उत्तराभिमुख बैठकर, मंत्र पाठ कर, गर्भ को स्थिर करने हेतु ओड़ा बोंगा (गृह देवता) से निवेदन करता है-

होड़ो मोकोरे: मेना इआ,
होन साआड. लो: मेना: इआ।

× × ×

ने कुड़ि होना: सानाड.
आले सीबेन को आ: आसारूए:
भीरा कान ताइनो: का।

अर्थात् यह शरीर से भारी है और संतान की इच्छुक है। इस स्त्री की इच्छा और हम सभी की आशा स्थिर बनी रहे।

कहा जाता है कि इस मांगलिक अल्पना पर बैठकर मंत्रपाठ से गर्भवती के गर्भपात की संभावना नहीं रहती है।

तुकुइः लुतुर बोंगा (कर्णवेध)- वृत्ताकार अल्पना के समक्ष शिशु को लेकर माँ पूर्वाभिमुख बैठकर उसका कर्ण छेदन करवाती है। इस संस्कार के बाद ही वह सामाजिक जीवन में शामिल माना जाता है।

आड़ादि बोंगा (विवाह) - विवाह के निमित्त वर-कन्या के चयन हेतु जाते समय निम्नांकित शकुन का विशेष महत्त्व है, जो निर्विघ्न विवाह सम्पन्न होने का मांगलिक संकेत या प्रतीक माना जाता है।

गाय का बछड़े को दूध पिलाना, पानी से भरा घड़ा लेकर स्त्री का दर्शन, जंगली जानवर द्वारा रास्ते से किनारे-किनारे चला जाना (रास्ता नहीं काटना), पक्षी का मिलन एवं कलरव इत्यादि। विवाह के मंडप को साल वृक्ष की डाल से बनाकर मंडप में वेदी के बलि में खूँटा गाड़कर उसमें महुआ, बाँस, भेलवा और ओतरो की लताओं को बाँधा जाता है, जो दीर्घ जीवन, समृद्धि

और शुचिता का प्रतीक है। मंडप में वेदी के पास एक गोल फूलदार अल्पना सफेद, लाल और काले रंगों से बनायी जाती है, जिसे 'डंडा कट्टा' कहते हैं। यह देवताओं को आमंत्रित करने और दुष्ट प्रेतों को दूर रखने में सहायक एक प्रमुख मांगलिक प्रतीक माना जाता है। यह मुख्य रूप से उरांव जनजाति का मांगलिक प्रतीक है।

संताल जनजाति में इसे 'खौद्र' कहा जाता है। इस अल्पना के चौकोर भाग के दोनों ओर वधू और वर को बैठाया जाता है और बीच में जल से भरा कलश रखा जाता है। बिरहोर आदिम जनजाति में विवाह के अवसर पर चावल के आटे का चौकोर अल्पना या चौक पूरा जाता है, जिसके चारों भागों में तीन-तीन लकीरें और मध्य भाग में चारों कोणों को तीन-तीन लकीरों से जोड़ दिया जाता है। इसे लाल और काले रंग से रंगा जाता है। इसे दाम्पत्य जीवन को सुखी रखने और वंशवृद्धि (संतानोत्पत्ति) में सहायक माना जाता है।

मुण्डा एवं हो जनजाति में विवाह के बाद कन्या वधू के रूप में जब ससुराल के लिये विदा होती है, तो गाँव की सीमा पर अवस्थित आम के वृक्ष को नये धागे से बाँध देती है, जिसे 'उलि साखी' कहते हैं। इसे अपने गाँव से बिछुड़ने का प्रतीक माना जाता है। वह ग्रामदेवी से ससुराल में सुखी रहकर पुनः वापस आकर उनकी पूजा करने का वचन देकर उनका आशीर्वाद लेती है। आम जनजातीय समुदाय में संतानोत्पत्ति का कारक माना जाता है। इस मनोकामना से भी 'उलि साखी' (आम्रवृक्ष को साक्षी बनाना) का महत्त्व है।

कोहबर संस्कार - विवाह के बाद वर-वधू को जिस कक्ष में कतिपय लोकाचार में रखा जाता है, उसे 'कोहबर' कहा जाता है। कोहबर वाले कमरे को रंगाई-पुताई के बाद कई मांगलिक प्रतीकों वाले भित्तिचित्रों से सजाया जाता है। इनमें मुख्य रूप से घोड़ा, केले का वृक्ष, इन्द्रधनुष, सर्प, पुष्प, गोत्र प्रतीक आदि के चित्र प्राकृतिक रंगों से उकेरे जाते हैं जो मुख्य रूप से प्रजनन आदि के प्रतीक होते हैं। कोहबर के मांगलिक प्रतीकों का प्राचीनतम नमूना शैलचित्रों या गुफाचित्रों में मिलता है। हजारीबाग जिले की सती पहाड़ी में आदिम काल के अनेक चित्र कोहबर कलाचित्र के रूप में आज भी मौजूद हैं।

गोनाए: पारोमेन बोंगा (मृत्यु) - मृत्यु होने पर जनजातीय समुदाय के लोग मृतक को गाड़ते हैं और कहीं-कहीं दाह संस्कार भी करते हैं। जहाँ जलाया जाता है वहाँ अस्थि अवशेषों को मिट्टी में गाड़ देते हैं, जिसे जड.तोपा कहा जाता है। उनमें यह लोकविश्वास प्रचलित है कि मृतक के शरीर के किसी अंश को धरती के भीतर गाड़ देने से उसका पुनर्जन्म अवश्य हो जायेगा। मृतक के कब्र के पास पवित्र प्रतीक के रूप में एक पत्थर गाड़ देते हैं, जिसे 'ससन दिरि' (श्मशान शिलापट) कहते हैं।

उनके घरों में एक पवित्र स्थान होता है, जिसे अडिंग या अदिंग कहते हैं। यह पूर्वज प्रेतों का पवित्र आश्रय स्थल माना जाता है। प्रत्येक मृतक की आत्मा को विशेष धार्मिक अनुष्ठान के साथ पूर्वज प्रेतों में शामिल कर लिया जाता है। उनमें मृतक की आत्मा को घर के अडिंग में ही रखने का विधान है, और प्रतिदिन उन्हें पका हुआ खाना अर्पित किया जाता है और पर्व-त्योहार, विवाह आदि अवसरों पर अन्य देवी-देवताओं के साथ-साथ उनकी भी पूजा की जाती है।

(ग) पर्व-त्योहार - मुण्डा, हो, उरांव, संताल आदि जनजातियों में ऋतुचक्र के अनुसार कृषि कार्य एवं आलेख से जुड़े कई पर्व मनाये जाते हैं। इन पर्व-त्योहारों के अवसर पर घर- आँगन की लिपाई-पुताई कर कई प्रकार के परम्परागत पवित्र, आकर्षक तथा मांगलिक चित्रों, खोंड आदि से घरों को सजाया जाता है। इसमें चित्रों के साथ-साथ कई पवित्र माने जाने वाले वृक्षों एवं फूलों का भी उपयोग होता है।

बा, बाहा, जांकोर, खद्दी या सरहुल - इन सभी का अर्थ पुष्प होता है, ये वसंतागमन के प्रतीक हैं। ये सभी पर्व जनजातीय क्षेत्र में फाल्गुन पूर्णिमा से वैशाख पूर्णिमा के मध्य मनाये जाते हैं। इस अवधि में सालवृक्ष लच्छेदार फूलों से भर

जाते हैं। यह नये वर्ष के आगमन का सूचक भी है और सूरज और धरती के विवाह का प्रतीक भी माना जाता है। इसे मनाने के लिए सरना स्थल या नहेर भान को लीपकर पूजा हेतु तैयार किया जाता है, जहाँ पाहन (पुजारी) दो नये घड़ों को या नदी के पवित्र जल से भरकर रखता है और नये सूत से दोनों को बाँधा जाता है। यह एक तरह से धरती और सूरज के गठबंधन का प्रतीक माना जाता है। पूजास्थल पर परमेश्वर, धरती और जल देवता के लिये तीन रेखाएँ तथा पंच पूर्वजों के लिये पाँच रेखाएँ पाहन द्वारा खीचीं जाती हैं। इसके बाद वह क्रमशः परमेश्वर (सिद्ध बोंगा), पृथ्वी (धरती एंगा), पहाड़ी देवता (बुरन बोंगा), जल देवता (नरो एरा), ग्रामदेवता (देशावली बोंगा) और पूर्वजों (गोत्र ऐना) को संबोधित मंत्रपाठ करता है और उन्हें प्रसन्न करने के लिए मुर्गे-मुर्गी की बलि देता है। इसमें सरई या साल वृक्ष की डाल और फूल का प्रयोग किया जाता है और पवित्र डियंग (चावल का हंडिया) का प्रयोग किया जाता है। बा या बाहा (वसंत पर्व) पर प्रस्तुत गीत की पंक्तियाँ इस पर्व के महत्त्व को दर्शाती हैं-

सगेनतना सगेनतना सुडा सगेनतना,
बा पोराब हो हुजुः आकना सुडा सगेनतना।।

× × × ×

दरू बोंगा दरू रे मनइः बुरू बोंगा मरंग बुरू रे
नगे एरा पुकरि-गाड़ा हतु हतु रे देशा उलि।
सबिन को सेवा सड़ाम लगिड् नोगोड् बसंत, हुजुः आकना।
बा पोरोब दो हुजुः आकना सुड़ा सुड़ा सगेनतना।

अर्थात् वृक्षों (साल) में नई कोपलें निकल आयी हैं और बा (वसंत पर्व) आ गया है। वनदेवता वृक्षों पर, पहाड़ी देवता पहाड़ पर, जलदेवता या देवी तालाबों में और देशांउलि देवता गाँव में हैं। सभी की पूजा आराधना के लिये वसंत पर्व आ गया है।

(घ) करम पर्व - यह पर्व बीजवपन, अंकुरण और कृषि संवर्धन का पर्व है, जिसे भाद्र मास की एकादशी तिथि को मनाया जाता है। इसमें करम वृक्ष की डाल को करम देवता के मांगलिक प्रतीक के रूप में पूजास्थल पर गाड़ा जाता है। इस अवसर पर पूजास्थल को लीप-पोतकर एक सप्ताह पूर्व जव या वाई को अंकुरण हेतु बालू में रखा जाता है। पर्व के दिन सत्कर्म और अपकर्म के फलाफल पर आधारित धर्मगाथा को लोग सुनते हैं। करमा को अपकर्म का तथा धरमा को सत्कर्म का प्रतीक माना जाता है। दूसरे दिन करम देवता के प्रतीक करम की डाली को समारोहपूर्वक नदी या तालाब में विसर्जित कर दिया जाता है।

धान बुआई के समय मुंडा और हेरो जनजाति द्वारा 'हरो' पर्व मनाया जाता है, जिसे सृजन का पर्व माना गया है। इस अवसर पर कहीं-कहीं दीवार पर मिट्टी से नारी की आकृति बनाकर उसे सजाया जाता है। एक लोककथा के अनुसार आदिकाल में चार भाइयों द्वारा निर्मित इस मूर्ति में सिड.बोंगा द्वारा प्राण डालकर एक सुंदर युवती का रूप दे दिया गया था।

सोहराई या गोटेर बोंगा (गोहाल देवता) - यह पर्व कृषि कार्य में अपना बहुमूल्य योगदान देने वाले मवेशियों के सम्मान का पर्व है, वे 'गुंडीअरी' (गाय) को लक्ष्मी का प्रतीक मानते हैं। यह पर्व दीपावली और गोधन पर्व के क्रम में मनाया जाता है। इस पर्व में मवेशियों के आवास (गोहाल) को लीप-पोत कर साफ किया जाता है। महिलाएँ द्वार पर चावल के आटे से सुंदर अल्पना बनाती हैं, जो लक्ष्मी के स्वागत का मांगलिक प्रतीक माना जाता है। गोटेर बोंगा (गोहाल देवता) का पाहन या दिउरी (पुजारी) द्वारा मंत्रपाठ कर आवाहन किया जाता है और दीप प्रज्वलित कर उनका स्वागत किया जाता है। सभी गाय-बैलों को नहला कर, उनको विभिन्न रंगों और फूलों से सजाकर, उनकी पूजा कर हरे घास के साथ पका हुआ खाना (चावल, दाल आदि) भी उन्हें खिलाया जाता है। गोरखिया या चरवाहा को भी सम्मानित किया जाता है। इस अवसर पर संताल द्वारा अपने घर की दीवार पर घोड़ा, फूल, पत्ता, सूर्य, चन्द्रमा, मोर, पिरामिड आदि के चित्र मांगलिक प्रतीक के रूप में विभिन्न रंगों से बनवाते जाते हैं।

फागू सेन्टरा बोंगा (फगुआ आखेट) – आखेट या शिकार जनजातीय समुदाय के कबीलाई जीवन की प्राचीन परम्परा का नया रूप है। इसे 'राजा शिकार' या सामूहिक शिकार भी कहते हैं। अब इसने सामाजिक एकता का प्रतीक बनकर आनुष्ठानिक रूप ले लिया है। इसे सफल बनाने के लिये तथा वन एवं शिकारी देवता (बीर बोंगा) को प्रसन्न करने के लिये कई प्रकार के अनुष्ठान किये जाते हैं। शिकार पर जाने के पूर्व मार्ग में सेमल की डालियों को गाड़कर उनके पास पुआल रख दिया जाता है। पूजास्थल पर शिकार में व्यवहृत सभी अस्त्र-शस्त्रों को एकत्रित कर पाहन द्वारा पूजा की जाती है। शिकार के लिये जाते समय अपने हथियारों से गाड़े गये सेमल की डालों को काटकर वहाँ रखे पुआल में आग लगा दी जाती है। यह शिकार में सफल होने का प्रतीक माना जाता है।

फागू या फागुआ पर्व – असुर जनजाति के लोग चैत्र मास में इस पर्व को मनाते हैं। इस अवसर पर मांगलिक प्रतीक के रूप में लोहे की नेहाई (एनबिल) और संड़सी की पूजाकर मुर्गे की बलि देते हैं। वे पाट देवता, चोर देवां आदि की पूजा भी करते हैं।

बिरहोर मांगलिक प्रतीक – बिरहोर जादुई धर्म को मानने वाले हैं। आदिम काल से उनका संबंध शिकार, कन्दमूल संग्रह आदि से रहा है। घुमन्तू (नोमैड) होने के कारण अपने मांगलिक प्रतीकों को एक 'जादुई पेटी' में सुरक्षित रखते हैं। इनकी पूजा-अर्चना वे शादी-विवाह, पर्व-त्योहार आदि अवसरों पर करते हैं। उनके मुख्य प्रतीक निम्नांकित हैं –

मरंग बुरू – बोकारो जिले में अवस्थित लुगू पहाड़ को वे अपना मूल स्थान मानते हैं और उसका प्रतीक बनाकर पूजा करते हैं।

हनुमान बीर – हनुमान वीर को शिकार का देवता मानते हैं, जिसका प्रतीक 'त्रिशूल' की तरह होता है। शिकार में वे इसे साथ ले जाते हैं।

ओड़ा बोंगा (मनीता भूत) – यह उनके घर के पूज्य प्रेत का नाम है। वे यथेष्ट संख्या में मिट्टी के गोले बनाकर उसे ओड़ा बोंगा का प्रतीक मानकर पूजते हैं। ये उनकी रोग आदि से रक्षा करता है।

दूधा माई– दूधा माई गर्भवती महिला तथा नवजात शिशु की रक्षा करती है। वे 'तीर' के आकार का उसका प्रतीक बनाकर गर्भधारण करने, शिशु जन्म के समय तथा शुद्धीकरण संस्कार के समय इसकी पूजा करते हैं।

सवर जनजाति – सवर भी आदिम जनजाति में आती है। इनका प्रव्रजन उड़ीसा के मयूरभंज से हुआ है और मुख्य रूप से पूर्वी सिंहभूम में वे रहते हैं। 'मोर' पक्षी को अपना पवित्र गोत्र प्रतीक मानकर उसका चित्र पूजा आदि के अवसर पर दीवारों पर बनाते हैं। किवाड़ों पर हाथी आदि की आकृति को भी शुभ प्रतीक मानते हैं।

जतरा-मेला के मांगलिक प्रतीक – ऊरांव वार्षिक जतरा का आयोजन करते हैं, जो पड़हा पंचायतों के द्वारा आयोजित की जाती है। पड़हा प्रमुख 'राजा' कहलाता है। हर पड़हा का अपना प्रतीक 'झंडा' होता है। पड़हा राजा को लकड़ी के घोड़े या हाथी पर बैठाकर जतरा स्थल पर ले जाया जाता है। जतरा पेड़ या मेला स्थल पर एक लकड़ी का स्तम्भ (खूंटा) गड़ा रहता है, जिसे भगवान् शिव का प्रतीक मानकर पूजा जाता है। इसको पूरे पड़हा क्षेत्र का रक्षक माना जाता है।

गोदना (टैटू) – शरीर के विभिन्न अंगों (कलाई), बांह, गला, छाती, ललाट आदि पर गोदना को महिलाओं (किशोरियों) द्वारा रेखांकित करवाना शुभ, मंगलकारी तथा एक सांस्कृतिक पहचान माना जाता है। इसे सौन्दर्यवृद्धि के साथ-साथ रोगनिरोधक भी मानते हैं। जनजातीय समुदाय में यह लोकविश्वास है कि 'गोदना' मरणोपरान्त भी साथ जाता है। गोदना में गोत्र प्रतीक, फूल, सर्प, खोंउ, बिच्छू आदि की आकृति बनवायी जाती हैं।

निष्कर्ष के रूप में यह माना जा सकता है कि जनजातीय धर्म एवं संस्कृति के विविध रूपों में उनके पवित्र एवं मांगलिक प्रतीकों का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

उत्तराखण्ड के मांगलिक प्रतीक

प्रो. देवसिंह पोखरिया
डॉ. रंजना शाही

संस्कृति का स्वरूप बहुआयामी होता है। संस्कृति मानव-जीवन का वह उदात्त तत्त्व है, जो निरंतर परिष्कार के द्वारा आत्मकल्याण और मानव कल्याण की प्रतिष्ठा करता है। उत्तराखण्ड की संस्कृति अनेक छोटी-छोटी, नयी -पुरानी जातीय संस्कृतियों का मिला-जुला रूप है। इसमें वैदिक, अवैदिक, पौराणिक, जनजातीय एवं जनजातीयेत्तर संस्कृतियों के तत्त्व मिलते हैं। विभिन्न धार्मिक अनुष्ठानों षोडश संस्कारों, सामाजिक परम्पराओं, दैनिक जीवन के शिष्टाचारों, अभिचार और बलि-विधान विविध लोकाचार, संबोधन-अभिवादन तथा लोकसाहित्य और लोककलाओं के विविध व्यक्त रूपों में उत्तराखण्ड प्रदेश की सांस्कृतिक परम्पराएँ बहुविध रूप में परिलक्षित होती हैं।

अन्य क्षेत्रों की भाँति ही उत्तराखण्ड का लोक-मानस भी विभिन्न शुभ और अशुभ संकेतों और प्रतीकों पर विश्वास करता है। लोक-मानस मंगल की कामना से युक्त तो होता ही है, किन्तु अमंगल की आशंका भी उसमें कम नहीं होती है। मंगल और अमंगल का प्रारंभ कब और कैसे हुआ, इस संबंध में निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। हाँ, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि मंगल-अमंगल की संकल्पना के मूल में घटना संयोग ही प्रधान रहा होगा। किसी कार्य को करते हुए उस अवधि में कार्यानुकूल सफलता मिलने पर उसका संबंध मंगल या शुभ के साथ जुड़ गया होगा और इसके विपरीत असफलता मिलने की दशा में अमंगल या अशुभ भाव जुड़ गया होगा। जब यही बात कई बार व्यक्ति के सम्मुख उसी रूप में मंगल या अमंगलकारक घटना बनकर सम्मुख आयी होगी। तो उस कार्य के प्रति व्यक्ति की मंगल या अमंगल की धारणा स्थिरता को प्राप्त हुई होगी। प्रकृति अथवा किसी अदृश्य शक्ति

के द्वारा कार्य के विषय में मंगल और अमंगल के संकेत अनुकूल अथवा प्रतिकूल रूप में सम्मुख आने की दशा में मांगलिक या अमांगलिक घटनाएँ एवं तज्जन्य विषय सम्मुख आये होंगे। इसी आधार पर प्रकृति और उसके विविध उपादान–वनस्पतियाँ, पशु–पक्षी एवं मानवीय क्रिया–कलाप एक प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति देने लगे होंगे और ये विशिष्ट प्रतीक विविध रूपों में उन समाजों में प्रचलित हो गये होंगे।

उत्तराखण्ड की सांस्कृतिक परम्परा में स्वीकृत प्रतीक दोनों ही प्रकार के हैं। इनमें मांगलिक प्रतीक हैं और अमांगलिक प्रतीक भी। एक ही प्रतीक कभी मांगलिक होता है और अमांगलिक भी होता है। यहाँ की लोकपरम्परा में इन मांगलिक प्रतीकों को निम्न रूपों में देखा जा सकता है–

वस्तुओं से संबंधित – अन्य प्राचीन समाजों की भाँति उत्तराखण्ड में भी विभिन्न वस्तुओं से संबंधित मंगलभावनाएँ जुड़ी हुई हैं। जल से भरा पात्र सर्वत्र मंगल तथा शुभकारक होता है। जल से भरा घड़ा, पंखा, चँवर आदि का दर्शन यात्रा पर जाने या यात्रा से आने में मंगलकारक माना जाता है।

घटनाओं एवं क्रियाकलापों से संबंधित – इस वर्ग के अन्तर्गत प्रकृति और मानव समाज में घटित होने वाली ऐसी घटनाएँ और क्रिया–कलाप आते हैं, जो मंगलकारक माने जाते हैं– जैसे आग की लपटों का दायीं ओर प्रवाहित होना शुभ माना जाता है।

शरीर के अंगों से संबंधित क्रियाओं में स्त्री के बायें तथा पुरुष के दायें भाग (आँख, बाँह, पाँव आदि) का फड़कना मंगलकारक माना जाता है।

शरीर के विभिन्न अंगों के फड़कने से संबंधित कुछ मंगलकारी प्रतीक इस प्रकार हैं– माथे का फड़कना भूमिलाभ और धनवृद्धि, भृकुटि का फड़कना प्रियजन से मिलन, पैर के ऊपरी भाग का फड़कना उत्तम स्थान की प्राप्ति, पैर के तलवे अथवा हथेली का फड़कना धनलाभ या यात्रा के प्रतीक माने जाते हैं।

सारस, मोर आदि पक्षियों का दायीं और होना और बोलना मंगल का प्रतीक माना जाता है। विभिन्न जीव–जन्तुओं के असामान्य व्यवहारों और क्रिया–कलापों आदि को प्राचीन काल में शकुनशास्त्र कहा गया है, जिसमें शुभाशुभ प्रतीकों पर विचार किया गया है।

यात्रा से संबंधित – उत्तराखण्ड की सांस्कृतिक परम्परा में कहीं किसी स्थान विशेष की यात्रा करने तथा आने–जाने के संबंध में कुछ शुभ और कुछ अशुभ लोक विश्वास प्रतीक रूप में परम्परित हैं। इनमें एक ही प्रतीक भिन्न समय स्थान और स्थिति में शुभ भी माना जाता है और अशुभ भी। यात्रा करते समय सफेद फूल, जल से भरा घड़ा, किसी शव का सामने आना, गाय, हाथी, घोड़ा, देवता की मूर्ति, जलती हुई आग, दूब, ताजा गोबर, घी, दही, दूध, राख, अक्षत, शहद आदि मंगलकारक माने जाते हैं। बादलों का गंभीर रूप से गरजना, मोर का मधुर स्वर, बैल, घोड़ा, शेर, बिल्ली और गधे का दायीं ओर से बायीं ओर निकलना मंगलसूचक माना जाता है। इसी प्रकार कौवे का मधुर स्वर में बोलना, उसकी चोंच में किसी अपवित्र पदार्थ का दिखायी देना तथा कुत्ते के मुँह में जूता या मांस का होना आदि मंगलसूचक प्रतीक हैं।

वस्तुत: मांगलिक और अमांगलिक प्रतीक पुराण साहित्य में सर्वाधिक रूप से उल्लिखित हैं। यात्रा आरंभ से संबंधित लोकविश्वास और तत्संबंधी प्रतीकों की संख्या बहुत अधिक है। इनमें गाय का रंभाना, साँप का दायीं ओर से बायीं ओर जाना, पीठ पीछे छींकना, गर्भवती महिला, शिशु को स्तनपान कराती स्त्री, हरी घास का गट्ठर, फलों से भरी हुई टोकरी का दर्शन, घी–गुड़ खिलाया जाना, मुँह मीठा किया जाना, माथे पर तिलक अथवा दही –चावल लगाया जाना, वस्त्रों का उज्ज्वल रहना, यात्रा के लिये बनाये जाने वाले चबेने की पाक का ठीक रहना मांगलिक माना जाता है।

वनस्पतियों एवं जीवजन्तुओं से संबंधित – घर की छत पर कांटेदार या किसी नागफनी आदि पौधे का लगाया जाना मंगलकारक माना जाता है, जो वज्र व अनिष्टकारक तत्त्वों से घर की रक्षा करता है। चीड़ या पद्म वृक्ष की लम्बी टहनी पर टंगा हुआ ध्वज मंगलकारक माना जाता है। विभिन्न प्रकार के फूल, बंदनवार से बँधे आम, पीपल, वट के पत्ते, हल्दी की गाँठ आदि

शुभ प्रतीक माने जाते हैं। घर के आगे तुलसी का पौधा लगाया जाना मंगलकारक माना जाता है। इसी प्रकार पशु-पक्षियों और उनसे संबंधित विभिन्न क्रियाकलाप मांगलिक प्रतीक के रूप में उत्तराखण्ड के लोकमानस में स्वीकृत हैं। बिल्ली का घर में आना, लक्ष्मी का आगमन माना जाता है। फाख्तों की जोड़ी का दिखायी पड़ना, सिद्धिदायक प्रतीक है। इसी प्रकार कौवे के दाहिनी ओर होने, सांप के बायीं ओर होने घर में साँप की केंचुली मिलने, लाल खुरों वाले पशुओं के दिखायी देने, अमावस्या के दिन पशु के प्रसव होने, धान के खेत में चूहे द्वारा बच्चा देने, बछड़े को दूध पिलाती गाय, घर के अंदर छछून्दर के होने, भौंरे के दायें कान के पास गुनगुनाने, मधुमक्खी के सिर पर मंडराने तथा सुरमाली (एक कीट) द्वारा घर के भीतर छत्ता बनाये जाने को मंगलकारक माना जाता है।

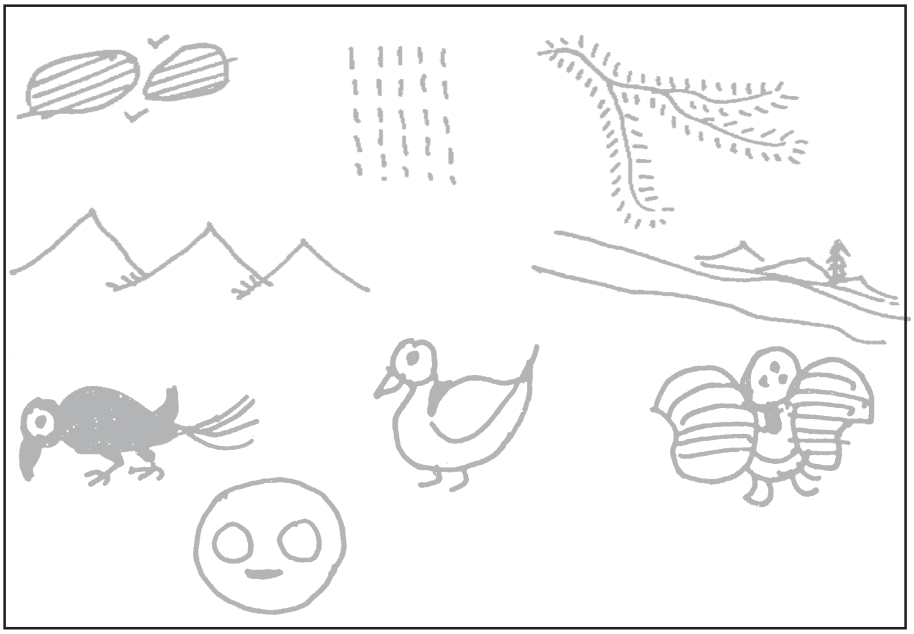

उत्तराखण्ड की चित्रकला में त्रिभुज, आयत, वर्ग आदि के साथ ही विभिन्न वनस्पतियों तथा जीव -जन्तुओं को भी रेखांकित किया जाता है। वनस्पतियों और जीव-जन्तुओं के ये रेखांकन मांगलिक प्रतीक के रूप में लोकजीवन में परंपरित हैं। रेखांकनों को ऐपण कहा जाता है, इसमें विभिन्न फूलों और बेलों के धरातलीय आलेखन, रंगीन बेल, बूंदों द्वारा निर्मित अल्पनाएँ, विभिन्न प्रकार के पट्टे आदि अंकित किये जाते हैं।

विवाह आदि मांगलिक अवसरों पर धूलि -अर्घ्य चौकी के दोनों ओर हरे तोतों का अंकन किया जाता है और उसके चारों ओर बेल बनायी जाती है। दो पक्षियों का यह प्रतीक और बीच में खिला हुआ कमल का फूल, प्राचीन काल से ही मांगलिक प्रतीक माना जाता है। इसी प्रकार सूंड में माला धारण किये दो हाथी मंगलकारक माने जाते हैं। अल्पनाओं में कृष्ण जन्माष्टमी तथा गोवर्धन के पट्टों पर हिरण, बछड़े, कालिया नाग का दमन करते श्रीकृष्ण, बछड़ों को खाना देते श्रीकृष्ण, बाघ, घुरड़, नृसिंह अवतार, मत्स्यावतार, चकोर, मोर, मछली, वराह, घोड़े आदि का अंकन मिलता है, जो मांगलिक माना जाता है।

विभिन्न ज्यामितीय प्रतीक त्रिभुज, वर्ग, चक्र, षट्कोण, स्वस्तिक, बिन्दु, हिमालय आदि प्रतीक भी मांगलिक माने जाते हैं। इनमें कुछ प्रतीक तांत्रिक अनुष्ठानों में भी बनाये जाते हैं। जहाँ ब्रह्मा, विष्णु और महेश का प्रतीक है वहीं तीन देवियों- लक्ष्मी, सरस्वती और काली के भी प्रतीक हैं। कमल, शंख, चक्र, विष्णु के प्रतीक हैं। लक्ष्मी, कलश, हिमालय रिद्धि-सिद्धि के प्रतीक हैं और स्वस्तिक मंगल और शुभ का प्रतीक है। चावल के गीले आटे में हाथ की मुट्ठी से अंकित थापे, जिनको 'पौ' कहा जाता है, लक्ष्मी के चरणचिह्नों के प्रतीक हैं। इसी प्रकार वृत्त के मध्यभाग में अंकित सूर्य, अष्टदल कमल सौभाग्य का प्रतीक माना जाता है। सात भुजाओं में अंकित तारे 'सप्त ऋषियों' के प्रतीक माने जाने हैं।

इन रेखांकनों में नौ ग्रहों का भी विशिष्ट योग रहता है। सूर्य, चन्द्र, तारे आदि का रेखांकन शुभ माना जाता है और विभिन्न संस्कारों के अवसर पर इनका आलेखन किया जाता है। इसी प्रकार बूंद-बूंद से निर्मित जो 'बारा' (अल्पना) बनती है, उसका

भी अपना महत्त्व है। बूंद इस असार-संसार का सार है और लोक की इकाई भी है, जिसके एक दूसरे के साथ मिलने से मांगलिक सृष्टि का निर्माण होता है।

पौराणिक देवी-देवताओं- कृष्ण, राधा, गोपियाँ, शिव-पार्वती, राम-लक्ष्मण, सीता, ब्रह्मा, विष्णु, लक्ष्मी, महेश, गणपति, गणेश, षोडश जीवमात्रिकाएँ आदि के साथ ही अन्यारी-उज्यारी देवियों तथा अन्य स्थानीय लोक देवी-देवता भी मांगलिक प्रतीकों के रूप में अल्पनाओं में आलेखित किये जाते हैं। इन आलेखनों का जन्म से लेकर विवाहपर्यन्त विविध शुभ-मांगलिक प्रतीकों के रूप में आलेखन होता है। ये मांगलिक प्रतीक चित्रकला के अलावा काष्ठकला, हस्तकला, वास्तुकला आदि में भी परिलक्षित होते हैं।

ऊपर यह स्पष्ट हो गया कि मंगल-अमंगल विषयक ये प्रतीक यहाँ के लोकजीवन में विविध रूपों में व्याप्त हैं। सांस्कृतिक जीवन की विविधता के अनुरूप इन प्रतीकों के द्वारा विभिन्न धारणाएँ और मन:स्थितियाँ अभिव्यंजित होती हैं। लोकजीवन का आचार और विश्वास इन प्रतीकों पर निर्भर करता है। नर-नारी शरीर, कन्या आदि के शुभाशुभ निर्णय में भी इन प्रतीकों की विशिष्ट भूमिका होती है। यहाँ तक कि विभिन्न अंक, विभिन्न दिन वार, विभिन्न स्वप्नपरक मान्यताओं में भी मांगलिक और अमांगलिक प्रतीक मिलते हैं। घर लौटने का दिन नवें व तेरहवें के अलावा शुभ प्रतीक माना जाता है। दान हेतु दी जाने वाली दक्षिणा 11, 21, 101 अंक की मंगलकारक मानी जाती है। 5 का अंक मांगलिक माना जाता है। किसी की मृत्यु पर संवेदना व्यक्त करने के लिए उसके घर जाने का दिन मंगल व शनि शुभ माना जाता है, जबकि अन्य दिनों ये दोनों वार अमंगलकारक माने जाते हैं।

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि यहाँ के लोकमानस ने इन मांगलिक और अमांगलिक प्रतीकों के साथ अपना पूर्ण साहचर्य स्थापित कर लिया है। इनके मंगल अथवा अमंगल रूप की कल्पना वस्तुत: इन प्रतीकों से संबंधित घटना, रूप अथवा आकृति रही है। परम्परागत धारणायें भी इनमें निहित प्रतीकार्थ को व्यंजित करती रही हैं। ये प्रतीक यहाँ के लोकजीवन के विभिन्न लोकविश्वासों, आस्थाओं, धारणाओं और मान्यताओं को व्यक्त करते हैं। उत्तराखण्ड के सामाजिक जीवन के विभिन्न विधि-निषेध और ग्रहण-वर्जन ने इनमें शुभाशुभ का निक्षेप कर इनके मांगलिक और अमांगलिक स्वरूप को स्थिर किया है। लोकजीवन में बद्धमूल ये मांगलिक प्रतीक उसकी आस्था, विश्वास, सहजता, जिजीविषा को सुदृढ़ करते हैं।

संदर्भ

1. कुमाउनी भाषा, साहित्य और संस्कृति, प्रो. देवसिंह पोखरिया, 1995, श्री अल्मोड़ा बुक डिपो, अल्मोड़ा
2. कुमाउनी भाषा और संस्कृति, प्रो. के.डी. रुवाली, 1994, श्री अल्मोड़ा बुक डिपो, अल्मोड़ा
3. उत्तराखण्ड लोकसंस्कृति और साहित्य, प्रो. देवसिंह पोखरिया, 2009, नेशनल बुक डिपो, ट्रस्ट, इंडिया दिल्ली
4. उत्तराखण्ड का लोकजीवन एवं लोकसंस्कृति, प्रो. डी.डी. शर्मा, 2010, अंकित प्रकाशन, हल्द्वानी
5. उत्तराखण्ड की लोककलाएँ एवं शिल्प कौशल, प्रो. डी.डी. शर्मा, 2009, अंकित प्रकाशन, हल्द्वानी
6. ऐपण, विश्वंभरनाथ शाह 'सखा' 2006, ज्ञानोदय प्रकाशन, नैनीताल
7. कुमाउनी लोककला संस्कृति और परंपरा, कृष्णा बैराठी, सत्येन्द्र कुश, 1992, श्री अल्मोड़ा बुक डिपो, अल्मोड़ा
8. कुमाऊँ का इतिहास, बदरीदत्त पांडे, 1973, देशभक्त प्रेस, अल्मोड़ा

लोकमंगल के प्रतीक - भित्तिचित्र

डॉ. पीसीलाल यादव

मानव अपने अंतरमन की भावनाओं को गीत-संगीत, कविता-कहानी के माध्यम से व्यक्त करता है। इसके लिये शब्द और भाषा की जरूरत पड़ती है। भाषा तो मनुष्य को बहुत बाद में मिली। उसके पास जब भाषा नहीं थी, शब्द नहीं थे, तब वह संकेतों के माध्यम से अपने भावों को अभिव्यक्ति देता था। लेकिन इस अभिव्यक्ति से पहले भावोद्‌गार के लिये उसके पास चित्रों की भाषा थी। यही चित्रों की भाषा आज हमारे सामने भित्तिचित्र या चित्रकला के माध्यम से उपस्थित है।

आदिमानव ने जब अपने शरीर की पुष्टता के लिए भोजन की व्यवस्था कर ली, तब उसने अपने मस्तिष्क की रिक्तता को भरने के लिए अपनी अंगुलियों के माध्यम से उपक्रम किया। सर्वप्रथम उसने रेत व मिट्टी (धूल) पर अपनी अंगुलियों को फिरा कर कुछ आकृतियों का निर्माण किया। पर ये आकृतियाँ मिट जाती थीं। तब उसने गुफाओं की दीवारों पर खड़िया या गेरू से कुछ रेखाएँ खीचीं, कुछ आकृतियाँ बनायीं। आदिमानव तो गुफाओं में रहता था। यह सत्य आज भी हमारे सामने शैलचित्रों के रूप में विद्यमान है, जहाँ आदिम अवस्था में रह रहे मानव का कलाप्रेम उसको पशु-पक्षी के चित्रों व उनके शिकार के चित्रों के रूप में चित्रित है। यही चित्रकला का प्रारंभ है। चित्रकला का, यही स्वरूप अपने आदिम रूप में आज लोकजीवन की कलाप्रियता का साक्षी है। छत्तीसगढ़ में लोकचित्रों की बड़ी सुदीर्घ परम्परा है, जो हमारे तीज-त्योहारों व मांगलिक अवसरों पर चित्रित होती है। ये लोकचित्र जिनमें लोकमंगल की भावनाएँ समाहित रहती हैं, इन्हें भित्तिचित्र, हाथा और चौक के नाम से वर्गीकृत किया जा सकता है।

भित्तिचित्र

भित्तिचित्र बड़े सहज और सरल होते हैं, किन्तु प्रतीक रूप में ये बड़े अर्थवान होते हैं। भित्तिचित्रों के निर्माण के लिये न महंगे रंगों की जरूरत पड़ती है और न ही तूलिका की। लोक की यही खासियत है कि वह स्थानीय सुलभ साधनों से अपनी कला का प्राण बनाता है। भित्तिचित्र लोक की अभिव्यक्ति है, इसलिये लोक की संकल्पना, उसकी आस्था और विश्वास इनमें मुखरित होते हैं।

सवनाही

सावन माह प्रारंभ होने के पूर्व छत्तीसगढ़ में ग्रामीण महिलाएँ अपने घरों व कोठा की बाहरी दीवार पर 'सवनाही' का अंकन करती हैं। सवनाही क्यों? यह एक विचारणीय प्रश्न है। हम सभी जानते हैं कि सावन आने तक खूब बारिश हो जाती है। नदी नालों का पानी दूषित हो जाता है, जिससे संक्रामक बीमारियाँ फैलने का अंदेशा रहता है। ऐसी भी लोकमान्यता है कि इसी समय दुष्प्रवृतियाँ जैसे टोनही, भूत-प्रेत आदि सक्रिय होते हैं। अत: लोग इनसे बचने के लिए 'सवनाही' लिखते हैं। सवनाही के रूप में महिलाएँ गोबर लेकर अपनी अंगुलियों से सारे घर की दीवारों में रक्षा कवच के रूप में मोटी लकीर खींचती हैं तथा पुतलियों व पशुओं के चित्र बनाती हैं।

पुतलियाँ कुछ और नहीं, इनका चित्रांकन प्रतीक रूप में हमारी संतान (बेटे-बेटियों) की मंगल कामना से तथा पशु का चित्र पशुधन की रक्षा के निमित्त बनाया जाता है। संतान सुख ही तो मनुष्य का सबसे बड़ा सुख है। संतान नहीं तो धन-दौलत, सगे-संबंधी सारी दुनिया बेकार है। यह संतान की सुख-समृद्धि की कामना का प्रतीक है। छत्तीसगढ़ कृषि प्रधान राज्य है। यहाँ की कृषि पशुधन पर ही आधारित है। अत: उसका भी स्वस्थ रहना आवश्यक है। सावन में प्रथम सोमवार को सवनाही बरोया जाता है, जिसमें दुष्ट आत्माओं को गाँव की सीमा में प्रवेश न करने का लोक-उपक्रम किया जाता है। इसमें पूजा-प्रार्थना के माध्यम से सम्पूर्ण गाँव समाज के मंगल की कामना की जाती है। अत: सवनाही लोकमंगल की भावना से प्रेरित भित्तिचित्र है।

आठे कन्हैया

छत्तीसगढ़ में जन्माष्टमी का पर्व 'आठे कन्हैया' के रूप में मनाया जाता है। इस दिन आबालवृद्ध नर-नारी उपवास रखते हैं। यह तो सर्वविदित है कि भाद्र कृष्णपक्ष की अष्टमी को भगवान् श्रीकृष्ण का जन्म हुआ था। जन्माष्टमी का पर्व बुराई पर अच्छाई की जीत का पर्व है। श्रीकृष्ण ने अत्याचारी कंस के संहार के लिये अवतार लिया था।

आठे कन्हैया के दिन छत्तीसगढ़ के प्रत्येक घर में भित्ति-चित्र के रूप में आठ पुतलियों का अंकन किया जाता है। ये चित्र चूड़ी रंग, स्याही, भेंगरा पत्तियों के रंग से बनाये जाते हैं, जो अष्टमी तिथि के साथ ही देवकी की आठों संतानों के प्रतीक हैं। संतान किसी की भी हो, उसके सुखद जीवन की कामना करना लोक का स्वाभाविक गुण है। कहीं-कहीं इन आठों चित्रों को हाथ जोड़े एक साथ नाव में खड़े चित्रित किया जाता है। साथ ही सर्प व बिच्छू का भी अंकन किया जाता है। सर्प के प्रति भी लोक की आस्था है। अत: लोककल्याण की भावना से यह भी प्रेरित जान पड़ता है। आठे कन्हैया के चित्रों को वर्गाकार या आयताकार खाने में बनाया जाता है। ये चित्र सहज और सरल होते हैं। अनगढ़ होने के बाद भी ये कलात्मक और लोक उद्देश्य को पूर्ण करते हैं।

देवारी का हाथा

छत्तीसगढ़ में दीपावली का विशेष महत्त्व है। यह सुख-समृद्धि का त्योहार है। इस समय यादव जाति के लोग गायों को सोहई बाँधते हैं और गोवंश तथा अपने स्वामी की हित कामना के

दोहे पढ़ते हैं। इसी समय राउत की पत्नी मालिक के घर कोठी (अन्नागार) व कोठा में भित्तिचित्र लिखती है। यह भित्तिचित्र बड़ा ही कलात्मक होता है। इसे वह चूड़ी रंग, स्याही, भेंगरा पत्ती या सेमी की पत्तियों से रंग निकालकर बनाती है। शाम को राउत जब गाय-भैंस को सोहई बाँधने आता है, तब गृहस्वामिनी द्वारा दान दिये अन्न में गोबर की बड़ी गोली बनाकर उसमें अन्न मिश्रित कर राउताइन द्वारा लिखे भित्तिचित्र में निम्न दोहा उच्चारित कर प्रक्षेपित करता है-

हरियर चक्रचंदन, हरियर गोबर भिना,
गाय-गाय कोठा भरे, बरदा भए सौ तिनाँ।

एक सेवक द्वारा मालिक की सुख-समृद्धि की कामना लोक की उदात्त भावना का परिचायक है। कोठी और कोठा तो लोकसमाज का जीवन रक्षक है। क्योंकि उसके सपने, उसकी आशाएँ यहीं प्रतिफलित होती हैं। इस प्रकार कोठी और कोठा में अंकित भित्तिचित्र भी लोकमंगल की भावना का चित्रांकन है।

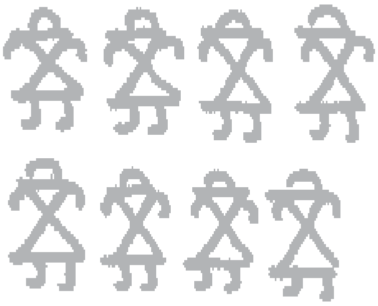

विवाह में अंकित भित्तिचित्र

विवाहसंस्कार में भी भित्तिचित्र की बड़ी मान्यता है। छत्तीसगढ़ में जाति के अनुसार अपनी लोक परम्पराओं और नेगों के साथ विवाह सम्पन्न होते हैं। विवाह के समय जिस दिन 'माय-मौरी' का नेंग होता है, उस दिन देवतहा घर (जिस घर में देवता स्थापित रहता है) में, जिसे माई घर भी कहा जाता है, के प्रवेश द्वार के दोनों ओर एक-एक पुतली का चित्र बनाया जाता है ये चित्र सुवासिनें बनाती हैं। इस पर कमची की कील ठोंक कुश की बनी टाटी लगायी जाती है। माता-पिता द्वारा उसकी पूजा की जाती है। ये भित्तिचित्र भी वर-वधू की सुख-समृद्धि और उनके दाम्पत्य जीवन की मंगलकामना के लिये बनाये जाते हैं, जो चूड़ी रंग या स्याही से निर्मित होते हैं।

निषाद जाति का भित्तिचित्र

छत्तीसगढ़ में निषाद जाति के लोग रहते हैं, जिन्हें स्थानीय भाषा में केवट कहा जाता है। ये कृषि के साथ-साथ मछली मारने का कार्य करते हैं। केवट जाति का संबंध श्री रामचन्द्र से है। श्री रामचन्द्र जी को केवट ने ही गंगा नदी से नाव में चढ़ाकर पार किया था। इस जाति के लोग इसे अपना गौरव मानते हैं। इसी कला से संबंधित भित्तिचित्र इनके घरों में मिलते हैं। ये चित्र सुंदर लगते हैं और लोकचित्र हैं। इन चित्रों को चितेरा लोग बनाते हैं। चितेरा निषादों के राव-भाट होते हैं, जो उस परिवार का यशोगान करते हैं।

चितेरों द्वारा निषादों के घर निर्मित चित्रों में राम, लक्ष्मण व सीता को केवट द्वारा नाव में बैठाकर गंगा पर करना, मछली मारते जाल लिये हुए केवट व मछली के साथ पेलना के चित्र प्रमुख हैं। हालांकि ये भित्तिचित्र जाति आधारित या व्यवसाय आधारित हैं। किन्तु ये भित्तिचित्र के आकर्षक नमूने हैं। यहाँ भी राव-भाट द्वारा परिवार की मंगल कामना दिखायी पड़ती है।

जंवारा जोत और भित्तिचित्र

छत्तीसगढ़ी लोकजीवन की धर्म के प्रति बड़ी आस्था है। यहाँ चैत्र बसंती नवरात्र व क्वार शारदीय नवरात्र में शीतला मंदिर, देवी मंदिर, अन्य देवालयों व घरों में जँवारे बोये जाते हैं, अखण्ड ज्योति जलायी जाती है। तब जंवारा व ज्योति कलश वाले कमरे की दीवारों, खप्पर व बाहरी दीवार में बाना लंगूरे के चित्र बनाए जाते हैं। ये धार्मिक आस्था से उपजे चित्र हैं। यहीं पर शेर का भी चित्र दर्शित होता है। लंगूरे तो माँ के सेवक हैं, इनकी उपस्थिति में ही माँ की पूजा-प्रार्थना और सेवा निर्विघ्न सम्पन्न होती है। लोक का यहाँ रेखांकन भी मंगलकामना का सूचक है।

गोवर्धन का प्रतीक

दीपावली के समय छत्तीसगढ़ में गोवर्धन पूजा का पर्व बड़ी धूम-धाम से मनाया जाता है। इस दिन पशुधन को नहला कर पूजा की जाती है। कोचई- कुम्हड़ा की सब्जी बनाकर उन्हें खिचड़ी खिलायी जाती है। यह सब सम्पन्न करने के लिये घरों में गोबर की मूर्ति बनायी जाती है। उसे सिलयारी, मेमरी, धान की

बाली, फूलों आदि से सजाकर मंगलकलश सजाये जाते हैं। गोबर की मूर्ति क्यों बनायी जाती है? दरअसल गोबर की यह मानवाकृति मूर्ति कृष्ण भगवान् का प्रतीकात्मक रूप है, जिसके हाथ में गोवर्धन पहाड़ बना होता है। यह प्रतीकात्मक रूप में श्रीकृष्ण द्वारा इन्द्र के कोप से ब्रजवासियों को बचाने के लिये गोवर्धन पर्वत को उठाये जाने का दृश्य है। गोवर्धन पूजा का यह प्रतीक छत्तीसगढ़ की कृषिसंस्कृति को प्रतिबिम्बित करता है।

मांगलिक कार्यों में हाथा

छत्तीसगढ़ के लोकजीवन में मांगलिक कार्यों में हाथा देने की परम्परा विद्यमान है। विवाह, गृहप्रवेश, मंदिर प्राण प्रतिष्ठा, कुँआ प्रतिष्ठा (पूजन) व अन्य मांगलिक कार्यों में महिलाओं द्वारा आटा, हल्दी मिश्रित लेप से पाँच हथेलियों का अंकन किया जाता है, फिर चंदन का टीका लगाया जाता है। यह कार्य बेटियाँ सम्पन्न करती हैं। हाथा का अंकन पंच परमेश्वर का प्रतीक है, जिनके सान्निध्य में यह मांगलिक कार्य सम्पन्न होता है। यह हाथा भी लोक भित्तिचित्र का उदाहरण है।

चौक पूरना

छत्तीसगढ़ में चौक पूरने की अपनी विशिष्ट परम्परा है। चौक के माध्यम से अतिथि अथवा देव आवाहन कर उन्हें आसन देने की मनोभावना प्रकट होती है। जहाँ देव विराजते हैं, वह स्थान पवित्र हो जाता है। अत: चौक पूरने का उद्देश्य पवित्रता से भी है। चौक पूरने की कला से नारी के मनोभावों द्वारा उसके सौंदर्यबोध का गुण भी उजागर होता है। तभी तो लोक गीतों में यह गाया जाता है–

आओ आओ बिरजो हो महादेव
लोट म माढ़े है पानी
सुरहिन गइया के गोबर मंगायेंव।
मोतियन चौक पुरायेंव।
रूप के बाती लगायेंव हो।।

चौक पूरना केवल साज–सज्जा का आधार नहीं है, बल्कि यह भक्ति भाव, धार्मिक निष्ठा की अभिव्यक्ति है। चौक पूरने में विभिन्न आकृतियों का निर्माण किया जाता है। इसके लिए आटे का प्रयोग किया जाता है। लोकसंस्कृति हो या विवाह संस्कृति, चौक शुभ का प्रतीक है। चौक धरती माँ की गोदी है, जहाँ बैठकर सुख मिलता है। चौक वर्गाकार या आयताकार पंक्तियों के माध्यम से बनाया जाता है। ये आकार सम्पूर्णता के प्रतीक हैं। विवाह मंडप या पूजा में चौक पूरकर ही कार्य सम्पन्न किये जाते हैं। पितृपक्ष में ओरवाती लीपकर, चौक पूरकर फूल बिछाकर पितरों को आसन दिया जाता है। ऐसा भी लोक विश्वास है कि बिना चौक पूरे कोई मांगलिक कार्य फलदायी नहीं होता है।

रंगोली

रंगोली भी अपने सौंदर्यबोध और कलात्मक अभिरुचि को प्रकट करने की एक कला है। चूंकि इसमें आधुनिक रंगों का प्रयोग किया जाता है और इसकी परम्परा लोक समाज की अपेक्षा शिक्षित समाज में अधिक पायी जाती है। अत: लोकचित्रकला से यह भिन्न कला है। लेकिन समाज में रंगोली की तरह बिन्दु, रेखा, त्रिकोण व विभिन्न कोणों के माध्यम से लोकचित्र का अंकन किया जाता है। ये लोकचित्र जमीन पर आटे के घोल या चूने के घोल से तैयार किये जाते हैं। सातिया (स्वस्तिक), कमल पुष्प, पत्तियाँ, वृक्ष, त्रिशूल, सूर्य, चन्द्रमा, पदचिह्न, सर्प, बिच्छू, शंख, दीप आदि का अंकन प्रमुखता से होता है।

स्वस्तिक या सातिया हिन्दू संस्कृति में मंगल का सूचक है। इसकी चार भुजाएँ चारों दिशाओं एवं उसके देवताओं अग्नि, वरुण, इन्द्र और सोम, चार पुरुषार्थ– धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्रतीक हैं। ये चार वेदों के भी पर्याय हैं जिसमें लोकमंगल की भावनाएँ शामिल हैं। कमलपुष्प सौंदर्य का प्रतीक है। वृक्ष, पत्तियों पशु–पक्षियों का चित्रांकन हमें प्रकृति प्रेम के लिये प्रेरित करता हैं। त्रिशूल दुष्प्रवृत्तियों के संहार का सूचक है तो सूरज और चन्द्रमा प्रकाश के प्रतीक हैं। पदचिह्न पवित्रता का, शंख पवित्र

उद्घोषक और दीप अंधकार से प्रकाश की ओर चलने का संकेत करता है। लोकचित्रों में सर्वत्र मंगलकामना की भावना छत्तीसगढ़ के लोकजीवन की उदारता का परिचायक है।

छत्तीसगढ़ में तीज-त्योहारों व व्रत-उपवासों के अवसर पर ये लोकचित्र नारी के कोमल हाथों से जमीन पर उतरकर यहाँ की सभ्यता और संस्कृति को जीवन्त करते हैं। देवउठनी (प्रबोधनी एकादशी) के दिन छत्तीसगढ़ का घर-आँगन लोकचित्रों से सज-सँवर जाता है। तुलसीविवाह के इस लोकपर्व पर महिलाएँ पदचिह्न, गाय के खुर आदि का चित्रण करती हैं। यादव जाति की महिलाएँ अपनी संस्कृति के अनुरूप तुलसीचौरा के समीप 'खोड़हर' का अंकन कर उसमें फांदी बनाकर लाठी चित्रित करती हैं। ये लोकचित्र चरवाहा संस्कृति से संबंधित होते हैं। बिन्दुओं व रेखाओं के माध्यम से भी लोकचित्र गढ़े जाते हैं, जिनमें लोकसौंदर्य की आभा छलकती है।

अगहन माह में अगहन बृहस्पति का उपवास रखा जाता है। महिलाएँ अगहन माह के प्रत्येक बृहस्पतिवार (गुरुवार) को व्रत रखती हैं और लक्ष्मी जी का पूजन करती हैं। इस समय छत्तीसगढ़ में धान की फसल पककर तैयार हो जाती है। चारों तरफ सुख-समृद्धि का वातावरण होता है। तब मन में लक्ष्मी जी के प्रति श्रद्धा और भक्ति का भाव उमड़ने लगता है। व्रत के दिन महिलाएँ आँगन को गोबर से लीपकर अपनी कोमल अंगुलियों में रुई के फाहें लेकर चूना से लोकचित्र बनाती हैं। ये स्वस्तिक, सूरज, दीप, चन्द्रमा, वृक्ष, पत्तियाँ, कमल पुष्प, सर्प, शंख आदि के रूप होते हैं। सीता चौक भी बनाया जाता है, जिसमें लक्ष्मी के पाँव का अंकन होता है। बस्तर अंचल में 'लक्ष्मी जगार' का पर्व मनाया जाता है। यहाँ भी लोकचित्र बनाने की परम्परा है।

लोकचित्र लोकपरम्पराओं के पोषक हैं। इन लोकचित्रों में छत्तीसगढ़ के लोकजीवन की सहज अभिव्यक्ति अपनी सम्पूर्णता के साथ होती है। ये लोकचित्र धार्मिक आस्था और विश्वास से जुड़े होने के साथ-साथ मनोभावों को प्रकट करने के साधन हैं।

गोबर से बने पूजा प्रतीक

डॉ. वन्दना जोशी

गोबर के पूजा प्रतीक समस्त कामनाओं को पूर्णता प्रदान करते हैं। गाँव-गाँव और घर-घर में इन प्रतीकों की पूजा-अर्चना होती है। इन प्रतीकों का अपना संयोजन, रूपाकृतियाँ और वैष्णव (हिन्दू) समाज से सामंजस्य है। वार-त्योहार, घर-आँगन सभी जगह गोबर का प्रयोग होता रहता है। यह पवित्रता, सात्विकता और समृद्धि देने वाला है। कुछ प्रतीक उदाहरण सहित प्रस्तुत हैं-

आरणे छाणे - यह मेवाड़ी शब्द है। अरण्य शब्द के साथ लोगों ने जनभाषिक छाणा शब्द जोड़ दिया है। जंगल में कहीं गाय गोबर करती है और उसे कोई प्राणी छूकर उसकी प्रकृति प्रदत्त आकृति में बदलाव नहीं करता है, तब वह वहीं पर सूख जाता है। उसे ज्योषर्विदों ने आरणे छाणे की संज्ञा प्रदान की है। आरणे छाणे हवन-यज्ञ आदि में उपयोगी होते हैं।

गोबर में गाय की विशिष्ट गंध का समावेश होता है। हवन में गोबर के आरणे छाणे से अग्निहोत्र किया जाता है। उसके फलस्वरूप पर्यावरण के अदृश्यमान हानिकारक कीटाणु नष्ट होते हैं और पर्यावरण शुद्ध होता है। वैदिक काल से इनका अपना महत्त्व चला आ रहा है। वायु के शुद्धीकरण में, पर्यावरण को सुधारने में और सौम्य वातावरण की आकांक्षा में हवन हेतु आरणे छाणे का प्रयोग किया जाता है। जिस प्रकार से कामधेनु समस्त कामनाओं को पूर्ण करने की प्रतीक है ठीक उसी भांति आरणे छाणे से फैली वासना, मन, आत्मा और श्वास को सकारात्मक ऊर्जा प्रदान कर सुखमय जीवन देती है।

सकरातड़ो - मकर संक्रान्ति के दिन गोबर से गोल थापड़ी जैसी बड़ी आकृति बनायी जाती है। उस पर सूर्य की भाँति किरणें दिखाकर, विविध प्रकार की मुखाकृति बनाते हैं। द्वितीय प्रहर पूर्व उसकी पूजा-अर्चना कर ली जाती है। तत्पश्चात् अत्यधिक सहज कर सुरक्षित रखा जाता है। सूर्यदेव प्रथम दृश्यमान देवता हैं, साथ ही आरोग्यवर्धक भी। मकर संक्रान्ति से ही सूर्यदेव उत्तरायण होते हैं, जिसे हिन्दू दर्शन में शुभकर माना है।

घरों में औरतें सकरातड़े की पूजा कर सूर्यदेव से घर और स्वयं के लिये धन और समृद्धि की आकांक्षा करती हैं। सूर्यदेव दक्षिणायन से उत्तरायण होते हैं और अपनी किरणों की प्रखरता, ओजस्विता को बढ़ाने का उपक्रम रचते हैं। वही आकांक्षा सौभाग्यकांक्षिणियों की रहती है कि दु:ख, दर्द, शीतमय दिन समाप्त हों और जीवन में उष्णता प्रविष्ट होकर सुख-समृद्धि चहुँओर प्रसारित हो।

सकरातड़े को सम्हाल कर रखने का उद्देश्य यह होता है कि अच्छे और खुशहाल दिन लम्बे समय तक चलते रहें, फलस्वरूप जीवन सुचारु व्यतीत हो।

बडुल्ये – गोबर के बने गोलाकार दो या तीन इंच व्यास वाले होते हैं, जिनके बीच में छिद्र होता है। फलत: उन्हें सूतली (सण से बना धागा) में पिरोकर माला बनायी जा सकती है । बालिकाएँ इन्हें विभिन्न आकृतियों के भी बनाती हैं, जैसे कोई पीपल के पत्ते जैसी, ईंट जैसी, तो कोई सकरपारे जैसी चतुर्भुजाकार आकृति का निर्माण करके मध्य में छिद्र करते हुए माला के मनके (बडुल्ये) बनाती हैं।

बडुल्ये बनाकर होलिका को अर्पित करने के पीछे चाह यह होती है कि उन्हें स्वर्णिम गहने नित्य नये मिलते रहें। होलिका की भाँति बडुल्ये चढ़ाने वाली बालिका भी अपने पितृपक्ष हेतु तन-मन-धन से समर्पित रहे। साथ ही उन्हें शृंगार के साजो सामान समय-समय पर उपलब्ध होते रहें और सौभाग्यवती रहें। उनमें होलिका सी दैत्य प्रवृत्ति प्रविष्ट न होने पाये और अपनों के प्रति सहिष्णु भाव रहे।

नारियल – इसे मेवाड़ी भाषा में नारेल बोलते हैं। यह भी गोबर का ही बनाया जाता है। दीपावली पर जलाये गये दीपक को लेकर नारियल का निर्माण करते हैं। दो दीपक के बीच में सवा रुपया, खांड व चने रखकर कच्चे सूत में दीपक को बाँधा जाता है। तत्पश्चात् उस पर गोबर का लेप चढ़ाया जाता है। शनै:-शनै: उसे नारियल का रूपाकार देते हैं। इसी नारियल को होलिका की गोदी में भेंट किया जाता है। यह श्रीफल नारियल का ही प्रतीक होता है तथा इसकी वही रूपाकृति होती है। रक्षाबंधन पर बहनें राखी बाँधने के साथ-साथ भाई-भतीजों को नारियल भी भेंट करती है। होलिका अपने भतीजे प्रह्लाद को गोदी में लेकर बैठती है और साथ में उसे नारियल भेंट करती है, ताकि सभी कुछ शुभ हो, होता भी यही है कि बुआ का आशीर्वाद भतीजे को मिलता है, लेकिन बुआ होलिका स्वाहा हो जाती है। जलते हुए स्वर्णिम नारियल भक्तगण घरों में लाते हैं, इस विश्वास के साथ कि विडम्बनाओं में भी भाई-भतीजों की रक्षा सम्भव हो और होलिका की चुनरी उनका रक्षा कवच बन जाय।

संझ्या (संज्ञा) – इसे भाद्र की पूर्णिमा से लेकर आसोज की अमावस्या तक मनाया जाता है। कन्याएँ दीवार पर गोबर से सांझी का चित्रांकन उत्कीर्ण कर सोलह दिन तक उसकी पूजा कर नैवेद्य चढ़ाती हैं, आरती उतारती और गीत गाती हैं। अच्छे सुयोग्य घर वर की कामना में पितरों से आशीर्वाद मांगती हैं। असल में सांझी संध्या की पूजा है। सांझ का पितृपक्ष के सन्दर्भ में प्राकृतिक एवं मानवीय देवी के रूप में अंकन है। संध्या अंकन और व्रत पूजन में ब्रह्मा की मानसी कन्या संध्या की पौराणिक कथा, कौमार्यव्रत की परम्परा को दर्शाती है। सांझी की आकृतियों में जहाँ लड़कियों को अच्छा घर तथा अच्छा वर मिलने के शकुन सुगंधाये रहते हैं, वहाँ प्रत्येक आकृति में कोई न कोई प्रतीकात्मक रहस्य छिपा दृष्टिगोचर होता है। छठी को हमारे यहाँ विधाता माता आकर बालक का भाग्यांकन करती है, तो छठ को बनने वाली सांझी का भी यही अर्थ समझा जाता है। सांझी की आकृतियाँ भिन्न-भिन्न जातियों, संस्कारों और भावनाओं से प्रभावित होती हैं।

गोबर से बनायी गयी संझ्या का अंकन केवल संझ्या बनाने, चित्रित करने-करवाने तक ही सीमित नहीं है। इससे जहाँ सांझी की यादगार ताजी होती है, वहीं बालिकाओं की कलादृष्टि को विकसित तथा व्यवस्थित आयाम मिलते जाते हैं।

गोवर्धन पूजा – कार्तिक शुक्ल प्रतिपदा अर्थात् दीपावली के दूसरे दिन मंदिरों, घरों में प्रात:काल यह पूजा की जाती है। भगवान कृष्ण ने इन्द्र का मानमर्दन करने के लिये गोवर्धन पर्वत उठाकर ब्रजवासियों को संरक्षण प्रदान किया था। ब्रजवासियों ने तब उनकी पूजा की थी। इसी दिन अन्नकूट होता है, तरह–तरह की सामग्रियों से श्री गिरिराज की पूजा की जाती है। मुख्य द्वार पर गोबर के गोवर्धन देवता बनाकर विधिवत् पूजा–अर्चना करते हैं।

गोबर से बनी रूपाकृति को फूल–पत्तों से अलंकृत कर खाद्य सामग्री की संगति से पूर्णता प्रदान करते हैं। पौराणिक कथानुसार श्रीकृष्ण ने गोवर्धन पर्वत को ही उठा लिया था। शब्दार्थ प्रकट करता है कि पर्वत पूजनीय हैं। इस पूजा से गोसेवा और गोवर्धन को प्रश्रय मिला। जहाँ गोवर्धन होगा वहाँ दूध, दही की नदियाँ बहेंगी और सुख–समृद्धि छलकेगी। फलत: गोबर से बने गोवर्धन की पूजा कर सम्पदा वृद्धि की मनोकामना की जाती है।

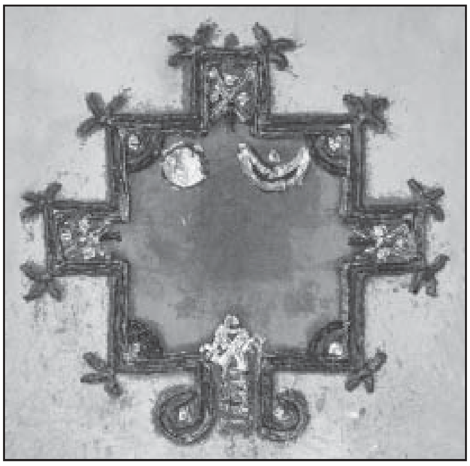

बछ बारस – भाद्रपद मास की कृष्णपक्ष की द्वादशी को बछ बारस मनायी जाती है। लकड़ी के पटिये पर गोबर का बछड़ा और गाय बनाकर उसकी पूजा–अर्चना की जाती है। लोककथानुसार बहू अपनी सास के आदेशानुसार बछड़े को काटपीट कर चूल्हे पर चढ़ा देती है तथा वह पक भी जाता है। शाम को जब गाय रम्भाती हुई आती है, तो अत्यधिक दु:खी होती है और पारिवारिक जनों को शाप देती है। इसमें सास अनजान होती है और बहू भी सास की आज्ञापालन में आबद्ध । किन्तु गाय की हत्या के फलस्वरूप पारिवारिक स्थितियाँ अत्यधिक कष्ट झेलती हैं। बदलती परिस्थितियों में गाय के गोबर और बछड़े की उस घर में पूजा होने लगती है, तो पुन: सुख–समृद्धि का घर में वास होने लगता है। बहू पुत्रवान् और धनधान्य की वृद्धि होती है। साबुत मूंग, मोठ और चने से (बिना कटे नाज से) इनकी पूजा– अर्चना कर इन आकृतियों को अलंकृत किया जाता है।

इन समस्त प्रतीकों के माध्यम से यह ज्ञात होता है कि मात्र गोबर के प्रतीक ही इतने समृद्धिदायक हैं, तो गाय का महत्त्व तो कहीं अधिक है। वास्तव में गौ माता पूजनीय है और कामनाओं को पूर्णता देती है।

हमारे समाज में ये प्रतीक मानसिक विकास और स्वयं की अभिव्यंजना को सम्प्रेषित करते हुए प्रागैतिहासिक मानव के पश्चात् विकसित कृषि सभ्यता और प्रतीक चिह्नों से अपना सम्बंध स्थापित करते हैं।

हमारे अंधविश्वास, विविध परम्पराएँ, धार्मिक अनुष्ठान और सांस्कृतिक रीति–रिवाज को चित्रांकन की पद्धति से रूपायित करते हुए पूजा–अर्चना के साथ हम अलंकृत करते जाते हैं। ये मात्र रेखा का प्रवाह और रंगों का सामंजस्य ही न होकर वैष्णव समाज के हृदय में अंतस से निकले भावों का झंकृत रूप है।

मांगलिक प्रतीक- शहनाई

डॉ. मनोरमा शर्मा

भारत के प्रहरी हिमालय पर्वत के हिमाच्छादित शैल शिखरों एवं उपजाऊ तराइयों में बसा हिमाचलप्रदेश विभिन्न भौगोलिक, राजनैतिक एवं सांस्कृतिक प्रभावों के परिणामस्वरूप बहुरंगी संस्कृति का दर्पण है। यहाँ भाषा, लिपि, धर्म, दर्शन, साहित्य, कला, वेशभूषा एवं रहन-सहन के विभिन्न आयामों में भी विविधता दृष्टिगत होती है।

विभिन्न धर्मों के प्रभाव से हिन्दू-धर्म के प्रधान सम्प्रदाय यहाँ लोकप्रिय हुए। शैव, शाक्त एवं वैष्णव धर्म की अमिट छाप यहाँ की संस्कृति पर है। यहाँ के सीमान्त क्षेत्र पर बौद्ध धर्म का प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है। ईसाई धर्म के प्रभावस्वरूप दूरस्थ स्थानों पर भी गिरजाघरों का निर्माण हुआ। मुस्लिम धर्म की मस्जिदें, दरगाहें, पीर-फकीरों की मजारें, सिखों के गुरुद्वारे तथा अन्य तीर्थस्थल अपनी विशिष्ट भवन निर्माण शैली के प्रतीक हैं। ये सभी धर्म यहाँ की संस्कृति में पूर्णतया घुल-मिल गये हैं। प्रदेशवासियों की आस्था सभी पर है और सभी मिलकर एक दूसरे के मेलों, पर्वों, उत्सवों तथा अन्य आयोजनों में सम्मिलित होते हैं। इससे न केवल एक नये साहित्य का सृजन हुआ वरन् आयुर्वेदिक चिकित्सा और शिक्षा के क्षेत्र में सराहनीय प्रगति दृष्टिगत हुई है।

हिमाचलप्रदेश की संस्कृति का मुख्य अंग यहाँ का लोकसंगीत है। इस प्रदेश की प्रतिष्ठा देवभूमि के रूप में है। यहाँ प्रत्येक घर का एक कुलदेवता, गृहदेवता, ग्रामदेवता, कोठी का देवता और क्षेत्र का देवता है। स्थानीय रीति-रिवाज के अनुसार पूजा-अर्चना होती है। इस पूजा-अर्चना में विशेष मांगलिक प्रतीकों का सम्मिलित होना आवश्यक होता है। इन मांगलिक प्रतीकों में लोकवाद्यों का प्रमुख स्थान है। इन मांगलिक लोकवाद्यों में शहनाई वाद्य को मांगलिक प्रतीक के रूप में स्वीकार किया जाता है।

हिमाचलप्रदेश में वाद्यों का प्रयोग करने से पूर्व इनकी पूजा-अर्चना करना आवश्यक माना जाता है। ऐसे वाद्यमंदिर अथवा धार्मिक स्थलों पर रखे जाते हैं। यहाँ की लोकमान्यता के अनुसार मांगलिक वाद्ययंत्र केवल एक विशेष जाति के लोग ही बजाते हैं। यह जाति यहाँ 'मंगलामुखी' व्यावसायिक जाति के रूप में प्रतिष्ठित है। ये लोग परम्परागत रूप से पीढ़ी दर-पीढ़ी इन वाद्यों का वादन करते आए हैं। अत: वे अत्यंत सिद्धहस्त कलाकर होते हैं। पर्वों, मेलों, उत्सवों, विवाह, जन्म आदि शुभ अवसरों पर 'मंगलामुखी शहनाई' का वादन अत्यंत कुशलतापूर्वक करते हैं।

शहनाई भारत वर्ष के प्राय: सभी प्रदेशों में मांगलिक प्रतीक के रूप में प्रतिष्ठित है। सभी प्रदेशों में इसे मांगलिक सुषिर वाद्य माना जाता है। मांगलिक प्रतीक शहनाई को हिमाचल प्रदेश में भिन्न-भिन्न नामों से जाना जाता है। सोलन व शिमला क्षेत्र में इसे तुरी या तुरही, कुल्लू में शनाल, कांगड़ा में पीपणी, महासू क्षेत्र में सन्हाय, सिरमौर में सनाई, मण्डी, चम्बा और किन्नौर में इसे शहनाई नाम से जाना जाता है। सिरमौर तथा किन्नौर की शहनाई आकार-प्रकार में सामान्य शहनाई से भिन्न है। किन्नौर तथा प्रदेश के कुछ भागों में मांगलिक प्रतीक वाद्यों के वादकों को 'बजन्तरी' कहा जाता है। बजन्तरी व्यावसायिक वाद्य-वादक वर्ग है। ये अपने वाद्यों का निर्माण भी स्वयं ही करते हैं। किन्नौर के जनजीवन में 'बजन्तरी' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। मंदिरों और बौद्ध गोम्पाओं से ये वादक सम्बद्धि किये जाते हैं और पर्वों, त्योहारों और अन्य शुभ अवसरों पर 'बजन्तरी' की उपस्थिति अनिवार्य होती है। इस वर्ग को अत्यन्त आदर दिया जाता है।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

प्राचीन ग्रंथों में इसका वर्णन विभिन्न नामों से प्राप्त होता है। ऋग्वेद में शहनाई के समान वाद्य को 'तुणव' कहा गया है। मतंगमुनि कृत बृहद्देशी में इसे 'महुवरि' या 'महुरी' के नाम से वर्णित किया गया है। पं. शार्ङ्गदेवकृत 'संगीतरत्नाकर' में तूर्य प्रकार के वाद्यों में काहल, तुण्डकिणी और चक्का वाद्यों का वर्णन प्राप्त होता है। तूर्य का अपभ्रंश ही तुरही के रूप में प्रचार में आया। अत: शहनाई को तूर्य श्रेणी के वाद्यों के अंतर्गत ही माना जाता है। जम्मू कश्मीर में इसे 'सुरनाई', राजस्थान में 'सुनाई', महाराष्ट्र में 'पीपणी' और सुन्दरी, उत्तरप्रदेश में शहनाई, बिहार में 'पेन्द्रे' और शहनाई, उड़ीसा में 'मोहुरी', उत्तर भारत में 'नफीरी, रोशन चौकी या नौबत', पश्चिम बंगाल में 'शनाई', तमिलनाडु में 'नागस्वरम्' या 'मुखवीणा' अहोबलकृत संगीतपारिजात ग्रंथ में 'सुनादी' का वर्णन शहनाई वाद्य के स्वरूप के समान प्राप्त होता है। सुंदर नाद उत्पन्न करने वाला वाला वाद्य सुनादी है।

तानसेनकृत 'संगीतसार' में भी शहनाई को 'सुनादी' कहा गया है। इस ग्रंथ में शहनाई की निर्माण कला के सम्बंध में विशद वर्णन प्राप्त होता है। 'अष्टछाप के वाद्ययंत्र' पुस्तक में भी शहनाई का वर्णन प्राप्त होता है। इस ग्रंथ में शहनाई के आकार-प्रकार का विस्तृत वर्णन किया गया है।

लोकसंगीत वाद्य वादन में शहनाई का प्रयोग सर्वोच्च स्थान रखता है। भारत के अन्य प्रदेशों में भी शहनाई का प्रयोग प्रमुख रूप से होता है। दक्षिण भारत के कर्नाटक, केरल तथा उड़ीसा में प्रचलित पंचवाद्यों में कोम्बू, शंख, मुखवीणा, मेहुरी, ढोलक, तिमिला, इडिक्का, झांझ, तालम् आदि वाद्यों का प्रयोग होता है। मुखवीणा तथा मोहुरी से तात्पर्य शहनाई से ही है। कर्नाटक का लोकनाट्य 'कारगामेलम्' और तमिलनाडु का 'नाथनन्दीमेलम्' इस प्रकार के वाद्य वादन के लिए सुप्रसिद्ध हैं, जिनमें शहनाई को मांगलिक प्रतीक के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त है। मंदिर की वाद्य वादनपरम्परा में 'कुवप और अष्टदश' वाद्य वादन की परम्परा का पालन भी होता है, इनमें नागस्वरम् और मुखवीणा प्रमुख वाद्य हैं। इसी प्रकार मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र और आंध्रप्रदेश की गोंड जनजातियों के प्रमुख मांगलिक अवसरों तथा अन्य शुभ अवसरों पर जो वाद्य बजाये जाते हैं, उनमें शहनाई, नागस्वरम् और पेररे (शहनाई जैसा जनजातीय वाद्य) वाद्य बजाये जाते हैं।

वादन की शैली– जनपदीय सांस्कृतिक परम्परा में हिमाचलप्रदेश के लोकसंगीत में शहनाई वादन में चार वाद्यों का सम्मिलित वादन होता है। मुख्य शहनाई, एक आधार स्वर प्रदान करने वाला वाद्य, नगाड़ा और दुक्कड़ (हिमाचलप्रदेश में दुक्कड़ को भी नगाड़ा ही कहा जाता है)। इन चारों के सम्मिलित वादन से ही शहनाईवादन पूर्ण होता है। शहनाई के साथ संगत के लिये जो आधार स्वर प्रदान करने वाला वाद्य बजाया जाता है उसे भी शहनाई ही कहा जाता है। अंतर केवल इतना है कि उस पर अंगुलियों के लिये स्वर उत्पन्न करने वाले छिद्र नहीं होते हैं। यह वाद्य केवल आधार स्वर ही प्रदान करता है। लोकसंगीत में शहनाई के समान ही एक वाद्य सुंदरी या नफीरी के नाम से भी प्रसिद्ध रहा है। नागस्वरम्, शहनाई, सुंदरी और नफीरी की वादन शैली, वादन प्रक्रिया और वाद्यनिर्माण की तकनीक एक समान है, अंतर केवल आकार में है। सामान्य रूप से देखने पर ये चारों वाद्य एक जैस ही लगते हैं। नागस्वरम् सबसे लम्बा, शहनाई मध्यम आकार तथा सुंदरी और नफीरी छोटी लम्बाई वाले सुषिर वाद्य हैं।

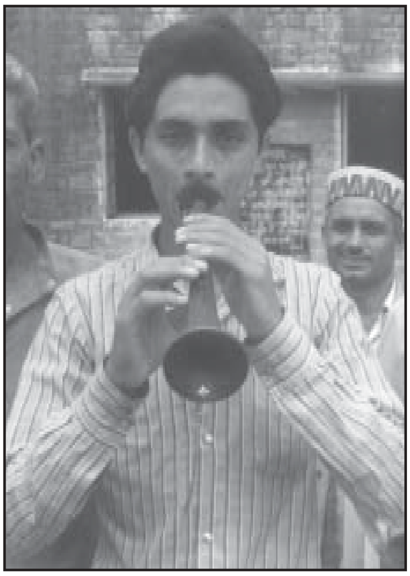

मध्यकालीन वाद्य वादन में 'नौबत' का वर्णन प्राप्त होता है, जिसमें तीन शहनाई वादक, एक नक्कारा वादक तथा पाँच अन्य वाद्य वादक होते थे। इसे शाही वाद्य वादन के रूप भी मान्यता प्राप्त थी। कभी–कभी हाथी पर भी ये वादक जुलूस की अगवानी किया करते थे। मंदिरों में भी नौबत वादन की परम्परा थी। शाही महलों के मुख्य द्वार पर और ऊँची अटारियों पर भी नौबत वादन का प्रचलन था। इन अटारियों को नौबतखाना या नक्कारखाना भी कहा जाता है। 'आइने अकबरी' में अबुल फजल ने अकबर के समय के नौबतखाने का विस्तृत वर्णन किया है। उनके अनुसार नौबत में नौ वाद्यों का प्रयोग होता था। इन वाद्यों में सुषिर वाद्य कर्णा, सरना, नफीरी और सींग, घनवाद्य झांझ, मंजीरा और दमामा, दुक्कड़ तथा नक्कारा अवनद्ध वाद्यों सहित नौ वाद्यों का समवेत वादन होता था। सुरना और नफीरी शहनाई के समान ही वाद्य हैं। अकबरकालीन विशाल नक्कारखाना था, जिसमें नक्कारे की बीस जोड़ियाँ और सत्तर विभिन्न वाद्य थे। अकबरकालीन नौबत और नक्कारखाना सम्पूर्ण उत्तरप्रदेश में प्रचलित था। प्रचार में उस समय तक सुरना वाद्य शहनाई के रूप में विकसित और प्रचलित हो चुका था।

आधुनिक मांगलिक लोकवाद्य शहनाई का ऊपरी भाग अत्यंत छोटी ट्यूब से होता हुआ दूसरे छोर पर चौड़ा धतूरे के आकार का होता है। इस भाग को प्याला भी कहा जाता है। पूरी नलिका में सात छिद्र होते हैं। इस वाद्य को फूँक के नियंत्रण से बजाया जाता है। अंगुलियों से छिद्रों पर दबाव बनाने से भिन्न–भिन्न स्वरों की उत्पत्ति होती है। शहनाई की संगत में इसी प्रकार के सुषिर वाद्य का प्रयोग होता है, परन्तु उस पर अंगुलियों के लिये छिद्र नहीं होते। यह वाद्य केवल आधार स्वर स्वरित प्रदान करता रहता है। शहनाई की नलिका पर सात छिद्र होते हैं। लोकवाद्य के रूप में इसे मान्यता प्राप्त है। शहनाई की नलिका की लम्बाई मुखरन्ध्र से प्याले तक 50 से 51 सेंटीमीटर होती है।

निर्माण तथा वादनकला

शहनाई का निर्माण मुख्यत: बर्मा टीक, सागवान या विजयासार की लकड़ी से किया जाता है। प्राचीन ग्रंथों में चंदन की लकड़ी के प्रयोग का भी विवरण मिलता है। इस वाद्य का आधार स्वर स्वरित हारमोनियम की पहली काली पट्टी पर माना जाता है। इस वाद्य पर सुगमता से डेढ़ अथवा पौने दो सप्तक तक विस्तार किया जा सकता है। कुछ पारंगत संगीतज्ञ दो सप्तक तक का विस्तार भी कर पाते हैं। सभी स्वर सांस की फूँक द्वारा तथा अंगुलियों के रखाव से नियन्त्रित किये जाते हैं। इसके अतिरिक्त मींड, गमक, मुर्की आदि सांगीतिक तत्त्व जिह्वा, होंठ तथा अंगुलियों के विभिन्न और सही प्रयोग से प्राप्त किये जा सकते हैं।

शहनाई वाद्य की निर्माण कला के सम्बंध में तानसेनकृत 'संगीतसार' ग्रंथ में विशद वर्णन प्राप्त होता हैं। उसका कुछ अंश इस प्रकार है– 'रक्तचंदन के काठ को एक हाथ लम्बी पोली बांस के आकार में भोंखली लीजिये। ताको मुख धतूरा के फूल समान करिये। वाको बालिश्त को ऊपर लो भाग छोटी एक–एक अंगुल के अंतर सूं भोडी–जाड़ी और के बीज भावै या प्रमाण गोल आठ छेद कीजिए। मिहि नरसल की च्यारि अंगुल लम्बी भोंखली

कीजिए। तो भोंखली के मुख ऊपरि हातीदांत की या काठ की गोल चक्की लगावें। फेर वा भोंखली के मुख में एक नरसल की कलस लगावें। यह करमस मुख में ले के पवन भरिए।' स्पष्ट है कि लोकवाद्य शहनाई की निर्माणकला तथा वादनकला के विषय में परम्परागत वाद्यवादकों को भलीभाँति ज्ञान था। मांगलिक प्रतीक लोकवाद्य शहनाई परम्परागत रूप से विवाह समारोहों, पुत्रजन्म और मंदिरों में मंगलध्वनि के लिये प्रयुक्त होता है। हिमाचलप्रदेश के मंगलामुखी वादक विशेष रूप से इसकी वादनकला में पारंगत होते हैं। इस वाद्य पर योजनाबद्ध तरीके से आलापचारी करने के लिये कठिन परिश्रम और साधना की आवश्यकता होती है। शहनाई वादक गायन में भी प्रशिक्षण प्राप्त करते हैं, जिससे उनके वादन में परिष्कृत स्वर लगाव का समावेश हो पाता है। शहनाई वादन में गायकी अंग का समावेश वादन की मधुरता और सरसता बढ़ाने में भी सहायक होता है। ताल और लय नियंत्रण के लिये नक्कारा या दुक्कड़ पर संगत की जाती है। हिमाचलप्रदेश में शहनाई की संगत के लिये नगाड़ा का प्रयोग किया जाता है।

हिमाचलप्रदेश में देवस्थलों और मंगलकार्यों के आरम्भ में शहनाई पर 'बधाई' की विशेष धुन बजायी जाती है। इसकी संगत में नगाड़े पर भी विशेष 'बधाई ताल' बजाया जाता है। बधाई ताल अट्ठाइस मात्रा का ताल है। शहनाई की धुन भी इसी ताल में निबद्ध होती है। अन्य मांगलिक अवसरों पर विभिन्न तालों में निबद्ध शहनाई की धुनें बजायी जाती हैं। मंदिरों और देवस्थलों पर देवता को धूप-पुष्प अर्पित करते समय आठ मात्रा में शहनाई की विशेष धुन बजायी जाती है। आरती करते समय ताल तो आठ मात्रा का ही बजाया जाता है, परन्तु शहनाई पर आरती की विशेष धुन 'आरती' के नाम से बजायी जाती है। इसी प्रकार जब देवता को देवसम्मेलन में सम्मिलित करने के लिये कोठी से पालकी में निकाला जाता है, तो आठ मात्रा का विशेष ताल नगाड़े पर बजाया जाता है और शहनाई पर भी विशेष धुन, जो इसी विशेष अवसर के लिये होती है, बजायी जाती है। देवकार्य शहनाईवादन के बिना सम्पन्न नहीं होते ।अन्य मांगलिक अवसरों पर अवसरानुकूल विशेष धुनें बजायी जाती हैं। ये धुनें विशेष नामों से जानी जाती हैं। बारात चढ़ने के समय चार मात्रा का ताल नगाड़े पर बजाया जाता है तथा शहनाई पर 'बारात' धुन बजायी जाती है। विवाह अवसर पर 'सप्तपदी' के समय सात मात्रा के ताल में निबद्ध शहनाई पर 'लावां' धुन बजायी जाती है। विवाह अवसर पर विदाई के समय सोलह मात्रा की ताल में निबद्ध शहनाई पर 'मुकलावा' धुन बजायी जाती है। विवाह सम्पन्न होने पर जब बाराज वापस जाती है, तब रास्ते में कुछ समय रुक कर देवता की पालकी को नचाया जाता है। उस समय नगाड़े और ढोल पर दो मात्रा के ताल पर निबद्ध शहनाई पर 'जंग' धुन बजायी जाती है।

हिमाचलप्रदेश का सुप्रसिद्ध लोकनाट्य 'करियाला' भी शहनाई वादन के बिना आरम्भ नहीं किया जाता। 'करियाला' के आरम्भ में नगाड़े और ढोल पर चौदह मात्रा का करियाला ताल बजाया जाता है, जिसकी संगत में शहनाई पर भी चौदह मात्रा में निबद्ध 'करियाला' धुन बजायी जाती है। करियाला में ही 'निरतकारी' धुन आठ मात्रा के ताल में निबद्ध बजायी जाती है। करियाला में ही स्वांग के समय दो मात्रा के ताल में निबद्ध 'लुड्डी' धुन शहनाई पर बजायी जाती है।

बच्चे के जन्म के अवसर पर शहनाई पर 'बधाई' की धुन पूरे परिवेश में शुभ सूचना का कार्य करती है। अन्य शुभ और मांगलिक अवसरों पर भी अवसरानुकूल विशेष मांगलिक धुनें शहनाई की स्वर लहरियों पर पर्वतों के अंचल में गुंजायमान होती हैं। यहाँ तक कि खेतों में निराई-गुड़ाई के समय नगाड़े और ढोल की संगति में शहनाई पर 'गुड़ाई' धुन सुनते ही कृषक उत्साहपूर्वक कृषि कार्यों में जुटे रहते हैं। शहनाई की मंगलध्वनि जनमानस में नवजीवन का संचार करती रहती है। हिमाचलप्रदेश धर्मभीरू और देवभूमि प्रदेश है, जहाँ का जनजीवन मांगलिक प्रतीकों और आस्थाओं पर आधारित है। दैनिक कृत्य भी इन्हीं के इर्द-गिर्द सम्पन्न होते रहते हैं। आधुनिकता की चकाचौंध से यद्यपि हिमाचलप्रदेश भी अछूता नहीं रहा है। पारम्परिक मांगलिक शहनाई वादन के स्थान पर आज डिस्को का प्रचलन बढ़ रहा है, तथापि हिमाचल का लोकमानस आज भी इन मंगलामुखी कलाकारों और मांगलिक प्रतीकों को सर्वोपरि मानता है। जनपदीय सांस्कृतिक परम्परा में मांगलिक प्रतीकों की अत्यंत महत्त्वपूर्ण भूमिका है।

संदर्भ

1. अहोबल, संगीत पारिजात (पुनर्मुद्रित), संगीत कार्यालय, हाथरस 2. कस्तुआर जयंती (सं.), वाद्य दर्शन, संगीत नाटक अकादमी, दिल्ली

3. कोठारी के.एस., इंडियन फोक म्यूजिकल, इंस्ट्रूमेंटस, संगीत नाटक अकादमी, दिल्ली 4. तानसेन, संगीतसार, (पुनर्मुद्रित) संगीत कार्यालय, हाथरस

5. देव बी.सी. म्यूजिकल इंस्ट्रूमेंटस, नेशनल बुक ट्रस्ट, दिल्ली 6. मिश्र लालमणि, भारतीय संगीत वाद्य, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली

7. शर्मा मनोरमा, लोकमानस के सुरीले स्वर, सांई बुक हाऊस, शिमला 8. शर्मा मनोरमा, म्यूजिक इंडिया, आशीष पब्लिशिंग कारपोरेशन, दिल्ली

9. शेष चुन्नीलाल, अष्टछाप के वाद्य यंत्र, संगीत कार्यालय, हाथरस

चरण चिह्नों की मांगलिकता

मायापति मिश्र

मानव सभ्यता में अभिव्यक्ति की प्रारम्भिक भाषा प्रतीकात्मक थी। प्रतीक ही रूढ़ हो जाने पर चिह्न का रूप धारण कर लेते हैं। प्रतीकों में अर्थोद्‌बोधन के साथ-साथ व्यापकता होती है। अर्थोद्‌बोधन में तीव्रता समाप्त हो जाने पर प्रतीकों का अस्तित्व समाप्त हो जाता है। अर्थबोध एवं भावबोध की तीव्रता के कारण प्रतीकों के कारण प्रतीकों ने मांगलिक एवं आध्यात्मिक महत्त्व के विषयों में अपनी उपस्थिति अधिक दर्ज करायी है। विषय की जटिलता और थोड़े में अधिक कहने की आभिव्यक्ति की कला के रूप में प्रतीक एक उपयुक्त माध्यम बन गये। सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक, धार्मिक एवं दार्शनिक प्रतीकों के अतिरिक्त प्रणय एवं आनंद के साथ-साथ विषादमूलक प्रतीकों का भी अस्तित्व प्रकाश में आया। लोकजीवन में जन सामान्य को स्वीकार प्रतीकों में सहजता देखने को मिलती है। लोकजीवन अपनी आवश्यकता के अनुरूप मिथक गढ़ता है। उन मिथकों में प्रतीकात्मक कथाओं एवं घटनाओं का समावेश रहता है। लगातार प्रयोग के कारण लोकजीवन के प्रतीकों की तीव्रता शिथिल पड़ जाती है और वे रूढ़ से लगने लगते हैं। ऐसी स्थिति में भी लोकजीवन के मंगलकारी प्रतीक अपनी प्रभावोत्पादकता नहीं खोते, अत: इनका विशेष महत्त्व बना रहता है।

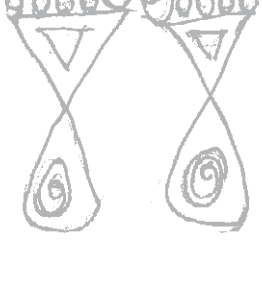

मांगलिक प्रतीकों में प्रभु के चरणों की वंदना में अनेक उपमाएँ दी जाती हैं। इसी प्रकार गुरू के चरण वंदन की भारतीय जनमानस में सुदीर्घकालीन परम्परा है। चरणों की कोमलता, पवित्रता एवं सुंदरता के लिये कमल सबसे उपयोगी प्रतीक माना गया है। कमल का ईश्वर के समान मांगलिक महत्त्व भी है, अत: वह प्रभुचरणों की बराबरी करने में सक्षम है। चरण पखारने से शुद्ध हो जाता है तो कमल जल में

खिलने से शुद्ध ही रहता है, ऐसी लोकमान्यता है। विभिन्न कवियों ने बार-बार कमल का प्रतीक प्रयोग में लिया है। लोककवि तुलसी को लोकनायक राम के चरण वंदन के प्रसंग में कमल बहुत प्रिय हैं। गुरू वंदन में भी कमल की उपमा उन्हें प्रिय थी-

चरन कमल बंदऊँ तिन्ह केरे। पूखहुँ सकल मनोरथ मेरे।।

मानस/ बालकाण्ड /13/3

बन्दऊँ गुरु पद पदुम परागा। सुरुचि सुबास सरस अनुरागा।।

मानस/ बालकाण्ड /05/01

बन्दऊ गुरु पद कंज, कृपा सिंधु नररूप हरि।
महामोह तम पुंज, जासु वचन रविकर निकर।।

मानस/ बालकाण्ड / 05 /05

बन्दऊँ पद सरोज सब केरे। जे बिनु काम राम के चेरे।।

मानस/ बालकाण्ड /17/04

भगवान राम के अतिरिक्त लक्ष्मण, भरत एवं शत्रुघ्न का चरणवंदन गोस्वामी जी ने किया है-

प्रनवउँ प्रथम भरत के चरना। जासु नेम व्रत जाइ न वरना।।
रामचरन पंकज मन जासू। लुबुध मधुप इव तजइ न पासू।।
बंदऊ लछिमन पद जल जाता। सीतल सुभग भगत सुख दाता।।
रिपुसूदन पद कमल नमामी। सूर सुसील भरत अनुगामी।।

मानस/ बालकाण्ड / 16/3-5,7

वंदनीय चरणों की वंदना करने वाला प्रत्येक जीव भी वंदनीय है-

रघुपति चरन उपासक जेते। खग मृग सुर नर असुर समेते।।
बन्दउँ पद सरोज सब केरे। जे बिनु काम राम के चेरे।।

मानस/ बालकाण्ड/ 17/3-4

जनक सुता जग जननि जानकी। अतिसय प्रिय रुनानिधान की।।
ताके जुगपद कमल मनावउँ।। जासु कृपाँ निरमल मति पावउँ।।

मानस/ बालकाण्ड/ 17/7-8

सज्जन एवं दुर्जन सभी वंदनीय हैं, सभी की गोस्वामी जी ने चरण वंदना की है-

बदउँ संत असज्जन चरना। दुखप्रद उभय बीच कछु बरना।।
बिछुरत एक प्रान हर ले हीं। मिलत एक दुख दारुन दे ही।।

मानस/ बालकाण्ड/ 04/3-4

बंदउँ प्रथम महीसुर चरना। मोहजनित संसय सब हरना।।

मानस/ बालकाण्ड/ 1/3

इस प्रकार हम देखते हैं कि वंदना में गोस्वामी तुलसीदास जी को महारत हासिल थी। यह उनकी महानता का द्योतक है कि उन्होंने बार-बार मांगलिक प्रतीक के रूप में चरणों की वंदना की है। रामवनगमन के पश्चात् भरत द्वारा चित्रकूट में उन्हें वापस चलने के लिये तैयार न कर पाने पर भरत जी भगवान् श्री रामचन्द्र जी की चरणपादुका लेकर अयोध्या वापस लौट आये। अयोध्या में उन्होंने राजसिंहासन पर भगवान् राम की चरणपादुकाएँ स्थापित कर राजकाज छोड़, नन्दीग्राम में चले गये। चरण चिह्नों की मांगलिकता का ही प्रभाव था कि उसे राजसिंहासन पर प्रतिष्ठित किया गया। यह सबसे बड़ा मांगलिक प्रतीक है कि चरणपादुकाओं के सहारे चौदह वर्ष तक अयोध्या का राजकाज चला -

सुनि सिख पाइ असीस बड़ि, गनक बोलि दिनु साधि।
सिंहासन प्रभु पादुका बैठारे निरुपाधि।।

मानस/ अयोध्याकाण्ड/ 323

गोस्वामी तुलसी जी की भाँति भक्त सूरदास जी ने भी भगवान् श्रीकृष्ण के चरणकमलों के मांगलिक प्रतीक की रचना की है। चरण में उन्होंने लिखा है -

बन्दउँ चरण कमल हरि राई
जाकी कृपा पंगु गिरि लंघे अंधे को सब दरसाई
बहरा सुने मूक पुनि बोले रंक चले सिर छत्र धराई
बन्दउँ चरण कमल हरि राई

भक्त कवि रहीम ने भी प्रभु चरणों की रज की महिमा में मांगलिक प्रतीक गढ़े हैं -

धूरि धरत निज सीख पर कहु
रहीम केहि काज
जेहि रज मुनि धरनि तरी तेहि
ढूँढत गजराज

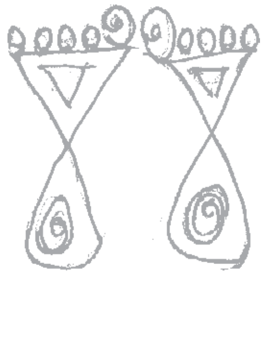

भगवान राम के चरणों की जिस धूल कण से मुनिपत्नी अहिल्या तर गयी, उसी राजकण को खोजता हुआ विशाल काया वाला हाथी अपनी सूंड से रास्ते की धूल को अपने सिर पर फेंकता हुआ चलता है। वह सोचता है– पता नहीं कौन सा रजकण भगवान के चरणों का हैं?

देवी का चरणचिह्न – भारत की अंतिम दक्षिणी सीमा पर स्थित कन्याकुमारी एक अंतरीप है। इक्यावन शक्तिपीठों में गिना जाने वाला कन्याकुमारी का दिव्य स्थान भक्तों एवं पर्यटकों के आकर्षण का केन्द्र रहा है। यहीं पर समुद्र में स्थित एक शिला पर विवेकानन्द ने ध्यान किया था। स्वामी विवेकानंद की स्मृति में रामकृष्ण मिशन ने एक विशाल मंदिर इसी शिला पर बनवाया है। लोग इसे विवेकानंद शिला के नाम से जानते हैं। इसी शिला पर एक मंदिर ऐसा है जिसमें देवी के चरणचिह्न स्थापित हैं। लोककथा के अनुसार भगवान शिव से विवाह की इच्छा से यहीं पर देवी ने घोर तपस्या की थी जिससे उनका शरीर गल गया और चरण मात्र शेष रह गये। पौराणिक कथानुसार देवी की तपस्या के पश्चात् भी देवताओं ने भगवान् शिव को उन तक नहीं पहुँचने दिया। कन्याकुमारी से कुछ दूरी पर स्थित शुचीन्द्रम् नामक स्थान पर शंकर जी स्थाणुरूप में स्थित हैं। देवी अभी तक कुमारी रूप में तपस्यारत ही हैं। शिव के न पहुँच पाने पर बाणासुर देवी के समक्ष विवाह का प्रस्ताव लेकर पहुँचा तो देवी ने उसका वध कर दिया। यही देवताओं की योजना थी, जिसके कारण उन्होंने भगवान् शिव को शुचीन्द्रम् से आगे देवी तक नहीं पहुँचने दिया था। तपस्यारत क्वारी कन्या देवी भगवती के मांगलिक प्रतीक स्वरूप स्थापित कन्याकुमारी का चरणचिह्न बहुत ही पवित्र एवं पूज्य माना जाता है।

चैतन्य महाप्रभु के चरण चिह्न –मत्स्य पुराण में एक स्थान पर मार्कण्डेय मुनि प्रयाग का माहात्म्य समझाते हुए धर्मराज युधिष्ठर से कहते हैं–

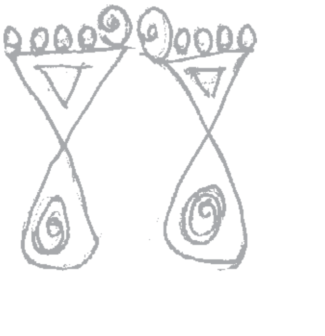

तथा सर्वेषु लोकेषु प्रयागं पूजयेद् बुध:।

पूज्यते तीर्थराजस्तु सत्यमेव युधिष्ठर।

ब्रह्मापि स्मरेत् नित्यं प्रयागं तीर्थमुत्तमम्।।

मत्स्यपुराण /109/14–15

हे युधिष्ठर! इस जगत् में तीर्थराज प्रयाग सचमुच पूजनीय है। प्रयाग को उत्तम तीर्थ मानकर ही ब्रह्मा जी नित्य ही इसका स्मरण करते हैं। इस सृष्टि के अधिष्ठाता भगवान ब्रह्मा द्वारा प्रयागराज को नित्य स्मरण करने का मुख्य कारण यह है कि सृष्टि के कल्याण हेतु उन्होंने प्रयाग में यज्ञ किया था।

पवित्रमृषिभिर्जुष्टं पुण्यंपावनमुत्तमम्।
गंगायमुनयोतीर संगमं लोकविश्रुतम्।।
यत्रायजत भूतात्मा पूर्वमेव पितामह:।
प्रयागमिति विख्यातं तस्माद् भरतसत्तम।।

लोकमान्यता अनुसार ब्रह्मा ने प्रयाग में दश अश्वमेध यज्ञ किये, जिसकी स्मृति स्वरूप पुण्य सलिला गंगा के एक पावन तट का नाम प्रयाग में दशाश्वमेध घाट पड़ गया। कहते हैं इसी दशाश्वमेध घाट पर अपने यज्ञों की स्मृति को स्थायी बनाने के निमित्त जगन्नियन्ता ने जगत् के संहारक भगवान् भोलेनाथ का एक शिवलिंग विधिविधान से स्थापित किया है। यह शिवलिंग आज भी दशाश्वमेध घाट के महादेव मंदिर में विद्यमान है। यह मंदिर भगवान् विष्णु वेणीमाधव के मंदिर के सामने पड़ने वाले दशाश्वमेध घाट के बीच में है। अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु और महेश की स्मृतियाँ एक साथ हैं। तभी तो कहा गया –

प्रयागं निवसन्त्येते ब्रह्माविष्णुमहेश्वरा:

मत्स्यपुराण – 111/4–10

अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु और महेश तीनों प्रयाग में निवास करते हैं। भगवान् विष्णु को तो प्रयाग वैकुण्ठ से भी अधिक प्रिय है। वे यहाँ ग्यारह माधव के नाम से निवास करते हैं जिसमें वेणीमाधव उनका मुख्य रूप है–

वेणीमाधवरूपी तु भगवांस्तत्र तिष्ठति

मत्स्यपुराण / 111/4–10

गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी वेणीमाधव की पूजा लोगों द्वारा किये जाने का बखान किया है–

पूजहि माधवपद जलजाता। परसि अखय हरषहिं गाता।।

मानस / बालकांड / 43/3

भगवान् श्रीराम ने भी प्रयाग में ब्रह्मा की भाँति शिवलिंग बनाकर आराधना की थी, परन्तु उनकी शिवलिंग की संरचना गंगा की रेती से निर्मित पार्थिव शिवलिंग की थी –

तब मज्जनु करि रघुकुलनाथा। पूजि पारथिव नायउ माथा।।

मानस / अयोध्याकांड / 102/1

ब्रह्मा द्वारा निर्मित एवं स्थापित दशाश्वमेध घाट का शिवलिंग ब्रह्मा के उत्कष्ट यज्ञों की आहुतियों का गवाह एवं चिर स्मृतियों का संरक्षक है। यही कारण है कि विभिन्न स्थानों से पधारे भक्त दशाश्वमेध घाट पर स्नान करके गंगाजल चढ़ाना नहीं भूलते। इस मंदिर में कितनी विभूतियाँ आयीं और आकर चली गयीं, यदि वापस नहीं गयी तो एक संत चैतन्य महाप्रभु की चैतन्यता। वे जब भी प्रयाग आये तो इस मंदिर में आकर श्रीकृष्णमय से शिवमय हो गये, माथा टेका और घंटों यहीं बैठकर भगवान् भोलेनाथ की शरण में भोले बच्चों के समान फूट-फूट कर रोये। चैतन्य महाप्रभु दशाश्वमेध मंदिर में बैठकर जहाँ साधना करते थे, उसी स्थान पर उनके पदचिह्नों का पाद-पीठ निर्मित करा दिया गया है। महापुरुषों के पदचिह्नों पर चलने के लिये उनके अनुयायी भक्त मांगलिक प्रतीक मानकर पदचिह्नों का स्थायी निर्माण करा करके आस्था स्वरूप पूजा करते हैं। ऋषियों, संतों एवं महापुरुषों के सन्मार्ग हमें उनके पदचिह्नों पर चलने के लिए प्रेरित करते हैं। ये चरणचिह्न एक दैवीशक्ति एवं ऊर्जादायी प्रेरणा प्रदान करते हैं। वैसे भी प्रयाग में ऋषियों-मुनियों का वास रहा है। माघ महीने में तो तैंतीस करोड़ देवताओं की निवासस्थली संगम का पावन तट मकर राशि में सूर्य के प्रवेश करते ही पुण्य की ज्योति से भासित हो जाता है–

माघ मकरगत रवि जब होई। तीरथपतिहि आव सब कोई
देव दनुज किन्नर नरश्रेनी। सादर मज्जहिं सकल त्रिबेनी।।

मानस/ बालकाण्ड/ 43/3-4

ऐसे में भला चैतन्य महाप्रभु की स्मृतियाँ कैसे अलग रह सकती थीं? जब देवता, दनुज, किन्नर और साधारण मनुष्य त्रिवेणी में स्नान करते हैं। लोकमानस का मांगलिक प्रतीक पदचिह्न पादानुराग के रूप में परिलक्षित होता है। प्रयाग जैसे आध्यात्मिक एवं वैचारिक पृष्ठभूमि वाले तीर्थस्थान में पदचिह्न को मांगलिक प्रतीक रूप में स्वीकार किया जाना लोकधारणा को बहुत बड़ा सम्बल प्रदान करके उसे स्थापित करने के तुल्य है। यदि यह तथ्य सत्य न होता तो प्रयाग की पांडित्य परम्परा कह सकती थी चैतन्य महाप्रभु के पद चिह्नों की क्या आवश्यकता है?

भरद्वाज मुनि बसहिं प्रयागा। तिन्हहिं रामपद अति अनुरागा।।

मानस/ बालकाण्ड/ 43/01

श्रीराम के चरणचिह्न – अयोध्या जहाँ भगवान् श्री रामचन्द्र जी का जन्म हुआ और जहाँ उनकी चरणपादुकाओं को सिंहासनासीन करके चौदह वर्षों तक राजकाज का संचालन किया गया, वहाँ चरणचिह्नों का एक अलग मांगलिक महत्त्व है। रामकथा के प्रसंगों में चरणकमलों की महिमा बार-बार गायी गयी है। जिन श्री चरणों को केवट ने पखारकर तथा अहिल्या ने स्पर्श करके पापों से मुक्ति पायी, जिसे भरत हृदय से लगाकर रखते थे, उन चरणों के चिह्न अयोध्या में अंकित होना स्वाभाविक है। अयोध्या में चरणपादुका नाम का एक मंदिर है। लोककथा के अनुसार भरत जी भगवान श्री रामचन्द्र जी की चरणपादुका लेकर चित्रकूट से जब अयोध्या वापस आये तो सर्वप्रथम उन चरणपादुकाओं को जहाँ रखा था, वहीं पर मंदिर निर्माण करके उसका नाम ही चरणपादुका मंदिर रख दिया। मंदिर में श्रीराम की चरणपादुकाएँ आज भी अंकित हैं। जितना लगाव भरत को श्रीराम के चरणों से था, उतनी अनुरक्ति सीता के चरणों से लक्ष्मण जी को भी थी। सीताहरण के पश्चात् उनकी मुद्रिका लक्ष्मण जी से पहचानने को कहा गया, तो उनका उत्तर था मैंने तो सीता माता के चरणों को ही देखा है, हाथ की मुद्रिका भला मैं कैसे पहचान सकता हूँ? यदि पैर का कोई आभूषण होता तो उसे पहचान भी लेता। धन्य है अयोध्या की चरण सेवा। तभी तो भक्त हनुमान की छोटी मूर्ति राममंदिर में भगवान राम के सामने स्थापित करके चरणदास की उपस्थिति की अनिवार्यता बतायी जाती है। दास हनुमान घुटनों के बल बैठी मुद्रा में अंकित किये जाते हैं। केवट के पाँव पखराई की तरह लोकजीवन में हिन्दू विवाहपद्धति में भी कन्यादान के समय

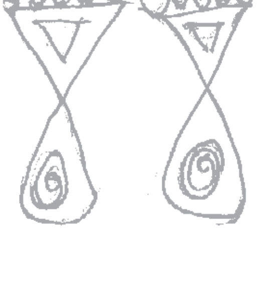

वर एवं कन्या के पाँव पखारे जाते हैं। यहाँ पाँवों को मांगलिक प्रतीक माना जाता है। अयोध्या में भगवान श्रीराम की चरण पादुकाओं को भरत जी ने अपनी अश्रुओं की धारा में पखार डाला था। हिन्दू समाज में साधु-संतों एवं महापुरुषों के आगमन पर घर के बड़े बुजुर्ग या मुखिया उनके पैर पखारते हैं। भारत में पादप्रच्क्षालन की परम्परा बहुत प्राचीन है। साष्टांग दण्डवत की भी परम्परा है। भगवान श्रीराम के चरणों पर साष्टांग लेटकर प्रणाम करते हुए भरत ने अपने अश्रुओं से उनके पैरों को धो डाला था। भगवान् श्रीराम के श्रीचरणों की महिमा तो अपरम्पार है। नारायण श्रीविष्णु भगवान् के श्रीचरणों को लक्ष्मी जी स्वयं क्षीरसागर में शेष शैय्या पर बैठकर दबाती हैं। नारायण के चरण पड़ने से पृथ्वी धन्य-धन्य हो जाती है। अयोध्या में तो नारायण ने स्वयं अवतार लेकर राजा दशरथ के आँगन में चहल कदमी की थी, इसलिए अयोध्या में भगवान श्रीराम के चरण चिह्न अति पवित्र एवं पतित पावन हैं। मथुरा में जहाँ नारायण ने श्रीकृष्ण रूप में लीलाएँ कीं थीं, वहाँ भी नारायण की चरणरज को लोग माथे से लगाते हैं। कई भक्त तो लेट-लेट कर गोवर्धन की परिक्रमा करते हैं कि कहीं न कहीं तो श्रीकृष्ण के पैरों की धूल छू ही जायेगी और वे कृतार्थ हो जायेंगे। मथुरा में अक्षय तृतीया के दिन बाँकेबिहारी के मंदिर में उनके पैरों के दर्शन किये जाते हैं। स्वयं अभिजित् मुहूर्त अक्षय तृतीया के कारण ही मंगलकारी भगवान श्रीकृष्ण एवं भगवान् श्रीराम के मांगलिक प्रतीकस्वरूप श्रीचरणों का दर्शन प्रत्येक घड़ी शुभ होता है।

तारादेवी के चरणचिह्न – सती का वामनेत्र पश्चिम बंगाल के रामपुर नामक स्थान पर गिरा था, जहाँ तारापीठ नाम का शक्तिपीठ स्थापित है। सती का दाहिना नेत्र बिहार के सासाराम में गिरा था, अत: वहाँ भी ताराचण्डी शक्तिपीठ है। परन्तु रामपुर पश्चिम बंगाल में सती का वाम नेत्र गिरने के कारण यह स्थान वाममार्गी अघोर साधकों की साधना का मुख्य केन्द्र हो गया। प्रसिद्ध अघोर साधक वामाक्षेपा ने अपनी कठिन अघोर साधना से इस स्थान को जाग्रत किया था। वाममार्गियों के लिए यह स्थान सबसे अधिक महत्त्व वाले स्थानों में एक है। इस मंदिर में माँ तारादेवी भगवती का स्थान है, जिसके

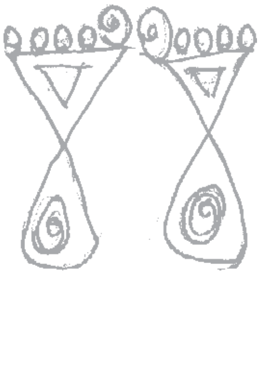

दर्शन एवं साधना के लिए देश भर से भक्त लोग आते हैं। मंदिर में प्रवेश से पूर्व भगवती के मांगलिक चरण-चिह्नों के दर्शन होते हैं। वाममार्गी साधना का केन्द्र होने के कारण पूर्व में यहाँ मुर्दे का मांस या प्रतीक रूप में उसके अधजले अंगों से हवन किया जाता था। मंदिर के पास ही नदी की धार प्रवाहित है और श्मशान भी स्थित है। लोकमान्यता के अनुसार यहाँ श्मशान में कोई भी मुर्दा (विशेषकर क्वारी कन्या की लाश) शत-प्रतिशत नहीं जल पाता और उसके अवशेष वाममार्गी भक्त साधक देवी के चढ़ावे एवं अपनी तंत्र साधना में उपयोग कर लेते हैं। इतना सब होते हुए भी लोगों की पहली आस्था माँ भगवती के मांगलिक चरणचिह्नों पर ही समर्पित होती है। इससे यह सिद्ध होता है कि अघोरपंथ में भी देवी के मांगलिक चरणचिह्न भी प्रतीक रूप में पूज्य हैं।

माँ भगवती के चरणचिह्न – महर्षि विश्वामित्र की तप:स्थली, परशुराम जी की साधना भूमि, भगवान् गौतम बुद्ध की उपासना स्थली ताड़का नामक राक्षसी एवं चण्ड नामक महिषासुर के दैत्य सेनापति की संहार भूमि का यह महत्त्वपूर्ण क्षेत्र कारुष प्रदेश के नाम से भी जाना जाता है। यहाँ हैहयवंशीय क्षत्रिय सहस्रबाहु के राज्य क्षेत्र की भी स्वीकारोक्ति है। कार्तवीर्य नामक हैहयवंशीय राजा माँ तारा चण्डी का अनन्य भक्त था। गुरु तेगबहादुर ने भी यहीं पास के गुरुद्वारे में रुक कर अपनी पत्नी के साथ माँ की साधना की थी। जिस कुण्ड स्थान पर परशुराम ने भगवती ताराचण्डी की उपासना की थी, उस कुण्ड को परशुराम कुण्ड के नाम से जाना जाता है, जो माँ ताराचण्डी भवानी के ठीक सामने स्थित है और भगवती के श्री चरणों को पखारा जाता है।

इतने महापुरुषों एवं ऋषियों द्वारा पूज्य माँ भगवती के मांगलिक चरणों की महत्ता युगो-युगो से चली आ रही है। देश भर से भक्त यहाँ आकर माँ के चरणों को पखारते हैं और धन्य हो जाते हैं। माँ श्रीचरणों के पखार का जल भक्त पात्रों में भरकर अपने घर भी ले जाते हैं। इक्यावन शक्तिपीठों में एक मुख्य शक्तिपीठ ताराचण्डी में सती का दाहिना नेत्र गिरा था, ऐसी मान्यता है। दाहिने नेत्र के साथ पादपीठ की अपनी अलग महत्ता है। हैहय वंशीय राजा सहस्रबाहु पर विजय प्राप्त करने लिए ही परशुराम ने यहाँ देवीरूपी कन्या के पाँव पखारे थे और इन्हीं मांगलिक चरणों के स्थान से ही भगवान् राम ने अपना पहला शरसंधान ताड़का वध का अभियान प्रारम्भ किया था। शक्तिवर्धक

एवं विजय का संदेश देने वाले ये मांगलिक चरणचिह्न सर्वथा पूज्य हैं।

जलाराम के चरणचिह्न – राजकोट से वेरावल (सोमनाथ) की यात्रा के मध्य एक रेल्वे स्टेशन वीरपुर के नाम से विख्यात है। यहाँ पर प्रसिद्ध सिद्ध संत बाबा जलाराम का आश्रम स्थित है। लोकजीवन में इस आश्रम के प्रति अटूट आस्था है, हो भी क्यों न? यह एक मात्र ऐसा धार्मिक स्थान है, जहाँ किसी प्रकार की भेंट, चढ़ावा, दान दक्षिणा स्वीकार नहीं की जाती है। नि:स्वार्थ संचालित इस आश्रम में सुबह– शाम भक्तों, आगन्तुकों, नि:शक्तों को नि:शुल्क भोजन प्रसाद भी प्रदान किया जाता है। आश्रम ट्रस्ट अपनी पूर्व जमा पूँजी के ब्याज से ही आश्रम का सकल संचालन कर लेता है और कहता है कि अब हमें और संग्रह की आवश्यकता नहीं है। अपरिग्रह के जीवंत उदाहरण के रूप में स्थापित इस आश्रम की शक्ति एवं सामर्थ्य के मूल में प्रभु के चरणचिह्नों की महिमा है, जो इस आश्रम में स्थापित हैं। भक्तजन इन्हीं चरणचिह्नों का मांगलिक सान्निध्य एवं दर्शन लाभ प्राप्त करने हेतु दूर–दूर से वीरपुर के संत जलाराम आश्रम में आते हैं। जब स्वयं प्रभु यहाँ पधार चुके हैं और अपने मांगलिक चरणों की छाप यहाँ छोड़ गये हैं तो भला भक्त क्यों नहीं पधारेंगे? स्थानीय लोककथा के अनुसार यहीं पर श्री जलाराम नाम के संत अपनी भार्या श्रीमती वीरबाई के साथ निवास करते थे। वे पत्नी के साथ नित्य भिक्षाटन के लिए निकलते और ढलते सूरज के साथ वापस अपनी कुटी में लौट आते। इस बीच उन्हें जो कुछ भी भिक्षाटन से प्राप्त होता, उससे वे अपना जीवन यापन करते। यदि कोई साधु–महात्मा या भूखा व्यक्ति उनकी कुटी में आ जाता, तो वे उसे भोजन अवश्य कराते। माँग कर देना, अभाव में भी भावों को समझना और उन्हें पूर्ण करना संत जलाराम की विशेषता थी। कहते हैं उनकी इस सदाशयता दया एवं मानव सेवा की परीक्षा लेने एक दिन भगवान् अंधे का रूप धारण करके संत जलाराम जी के आश्रम में पधारे। अपने कार्य की परीक्षा पास करने के पश्चात् ही मनुष्य अपने विषय का विशेषज्ञ माना जाता है। परीक्षा परिस्थितियाँ भी लेती हैं और संस्थाएँ भी। परन्तु महान् पुरुषों की परीक्षा लेने भगवान् स्वयं आते हैं। राजा दिलीप, हरिश्चन्द्र, मकरध्वज, कर्ण के साथ–साथ सीता एवं सती सावित्री की परीक्षा लेना नहीं भूले हैं। सूरदास के रूप में पधारे भगवान् ने याचक बनकर संत जलाराम से खाने की सामग्री माँगी। संत ने उन्हें सारी सामग्री उपलब्ध करा दी। सूरदास ने कहा– संत मैं तो अंधा हूँ, भला रसोई कैसे पका सकता हूँ? तुम यदि वास्तव में मेरा पेट भरना चाहते हो तो अपनी भार्या वीरबाई को भी मुझे दे दो। दानी संत जलाराम ने अपनी प्रिय पत्नी जीवनसंगिनी वीरबाई को याचक सूरदास जी को सौंप दी। संत की दया और त्याग देखकर भगवान् स्वयं प्रकट हो गये और बोले– संत जलाराम तुम वास्तव में परोपकारी हो, त्यागी–दानी हो, जिसने अपने जीवन की सबसे प्रिय अपनी भार्या को ही दान कर दिया, तुम धन्य हो, मानवता तुम्हें नमन करेगी। अपने आगमन से संत जलाराम जी का आश्रम कृतार्थ करते हुए प्रभु अंतर्ध्यान हो गये, परन्तु उनकी स्मृति स्वरूप उनके चरणचिह्न वहीं अंकित हो गये।

प्रभु के मांगलिक चरणचिह्नों को संत जलाराम जी के आश्रम में अनके आगमन एवं मानव सेवा को बढ़ावा देने के प्रतीक रूप में देखा और पूजा जाता है। संत जलाराम जी की कर्ण की तरह कोई वचनबद्धता नहीं थी कि जो मागों देंगे, और न ही युधिष्ठिर की तरह जुँए में हार की मजबूरी थी कि पत्नी याचक को सौंप देना अनिवार्य था। यह तो उनकी सदाशयता और त्याग था, कि कोई भूखा वापस न जाने पाये। मानव सेवा के इसी महान् उद्देश्य को आत्मसात् करते हुए संत जलाराम जी द्वारा स्थापित वीरपुर का यह आश्रम आज भी बिना कुछ दानदक्षिणा लिए प्रत्येक आगन्तुक को भोजन अवश्य कराता है। इस महान् एवं पवित्र उद्देश्य को कोटिश: नमन।

प्रभु ईसा मसीह ने जिस स्वर्ग राज्य की स्थापना की कल्पना की थी, उसमें नंगे को वस्त्र एवं भूखे–प्यासे को दाना पानी मिलने की महान् कल्पना की गयी थी। यदि प्रभु ईसा मसीह आज जीवित होते, तो नाजरेथ से वीरपुर अवश्य आते और संत जलाराम के इस स्वर्ग राज्य मानव सेवा आश्रम को वे जी भरकर देखते, मत्था टेकते और कहते –

यहाँ नंगे को पट चीर मिलता
भूखे–प्यासे को भोजन पानी
पिता जीव चराचर का यहीं
बसता
समता का संस्थापक धन्य है वह
प्राणी

भगवान् श्रीराम एवं सीता के चरणचिह्न

राम सज्जा – रायसेन जिला मुख्यालय के पास स्थित किले के पश्चिम किनारे की एक पहाड़ी पर रामसज्जा नामक रमणीक स्थान है। वर्षा ऋतु में तो यह स्थान दरी, मखमली चादरों से ढका हुआ लगता है। पहाड़ी पर भगवान श्रीराम के चरणचिह्न अंकित हैं। रायसेन तो साँची के प्रसिद्ध स्तूपों एवं मानव सभ्यता के प्रारम्भिक केन्द्र भीम बैठका को भी संजोये हुए है। ऐसे में भला भगवान श्रीराम के चरणचिह्न रायसेन से कैसे छूट जाते? जब माँ नर्मदा का सान्निध्य सदियों से बना हुआ है। स्थानीय जनमानस की आस्था का केन्द्र ये चरणचिह्न सदियों से पूज्य हैं और इन्हें लोग एक मांगलिक प्रतीक के रूप में स्वीकार करते हैं।

सीता तालाब – रायसेन में भगवान श्रीराम के साथ-साथ सीता माता के चरणचिह्नों का मांगलिक प्रतीक विद्यमान है। सीता तालाब नामक स्थान पर माता सीता के चरण अंकित हैं। माता सीता के चरणचिह्नों के कारण ही तालाब का नाम सीता तालाब पड़ा है। महिलाएँ इन चरणचिह्नों को बड़ी आस्था एवं भक्ति के साथ पूजती हैं। विशेष पर्वों पर यहाँ भक्तों की भीड़ उमड़ती है। इन मांगालिक चरण चिह्नों को दु:ख एवं क्लेश दूर करने वाला माना जाता है।

भोजपुर मंदिर के चरणचिह्न – राजा भोज द्वारा निर्मित प्रसिद्ध भोजपुर का शिव मंदिर एवं स्थापित शिवलिंग अपनी भव्यता एवं विशालता के लिये जाना जाता है। अभियांत्रिकी के उत्कृष्ट मानचित्रों की कई चट्टानों में एक ऐसी चट्टान संरक्षित की गयी है, जिसमें सैकड़ों चरणचिह्न अंकित हैं। इतनी बड़ी संख्या में उत्कीर्ण चरणचिह्नों की चट्टान को देखकर लगता है, जैसे चरण कमल का सरोवर हो। इन मांगलिक प्रतीकों में लोकभावना और आस्था का कोई गहरा रहस्य छिपा हुआ है, जिसे उद्घाटित करने की आवश्यकता है। शोधार्थियों एवं अध्येताओं का ध्यान अभी इस ओर नहीं गया है। कहीं यह सैकड़ों महापुरुषों का एक साथ भोजपुर में समागम की स्मृति शेष उनके पदार्पण को चिर स्थायी बनाने वाला अवशेष तो नहीं है? सच्चाई यहाँ सम्भावनाओं को कुरेदकर बाहर निकाली जा सकती है। जो भी घटना इसके मूल में हो, नहीं पता। परन्तु इतना तो पता है कि ये चरणचिह्नसमूह एक मांगलिक प्रतीक स्वरूप ही उत्कीर्ण किये गये हैं।

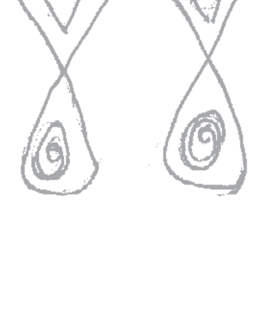

भोजपुर मंदिर द्वार के ठीक सामने एक चबूतरे पर दो चरणचिह्नों के साथ गदा, शंख एवं चक्र की आकृति उत्कीर्ण की गयी है। चक्र, शंख एवं गदा विष्णु जी के हाथों में शोभा पाते हैं, अत: ये वैष्णवों के मांगलिक प्रतीक हैं। परन्तु इनके साथ में चरणयुगल की उपस्थिति एक अद्‌भुत एवं नये सामंजस्य का मांगलिक प्रतीक है। सम्भवत: ये चरण-युगल भी विष्णु भगवान् की उपस्थिति के द्योतक हैं। मंदिर के ठीक सामने नारायण के चरण स्थापित होने का तात्पर्य बहुत स्पष्ट है कि पहले नारायण के चरण स्पर्श करें, फिर शिव के दर्शन करें। मांगलिक गीतों में भी लोकजीवन पहले चरणवंदन करता है, अत: आनुष्ठानिक व्यवहार में चरणचिह्नों की स्थापना स्वाभाविक है।

विदिशा में चरणचिह्न – भगवान राम के मांगलिक चरणचिह्न ऐतिहासिक नगरी विदिशा में भी लोकजीवन के मांगलिक चरणचिह्नों का अस्तित्व देखने को मिलता है। विदिशा शहर के दक्षिणी किनारे पर पवित्र नदी वेत्रवती का सुरम्य तट है। इसी तट के पास एक मंदिर में भगवान श्रीराम के युगल चरणचिह्न विद्यमान हैं। लोककथा के अनुसार भगवान् श्रीराम ने पंचवटी वनगमन के समय कुछ समय के लिए रुक कर यहीं पर विश्राम किया था। उन्हीं की स्मृति में उनके चरणचिह्न यहीं पर अंकित हो गये। प्रत्येक वर्ष यहाँ पर मेला भी भरता है। लोक आस्था के प्रतीक भगवान् राम के चरणचिह्नों को जनमानस एक पवित्र मांगलिक प्रतीक के रूप में पूजता है, अपनी भक्ति भावना के श्रद्धा सुमन अर्पित करता है। वैसे भी विदिशा जिला भागवत सम्प्रदाय का मुख्य गढ़ रहा है। उदयगिरि की गुफाओं में भगवान् विष्णु एवं ग्यारसपुर में भगवान् विष्णु साक्षात् एवं वराह रूप में विराजते हैं। ऐसे शहर में वेत्रवती के तट पर नारायण रामरूप में विराजें, तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। उनकी स्मृतियों को उनके चरणचिह्न रूप में विदिशा के लोग सदियों से संजोये हुए हैं, यह उनके लिये गर्व की बात है।

मुरादपुर के चरणचिह्न – विदिशा जिले की गंजबासौदा तहसील में मुरादपुर नामक प्रसिद्ध हनुमान जी का मंदिर है।

लोकमान्यता के अनुसार यहाँ सारी मुरादें पूरी हो जाती हैं। सूर्य को निगले हुए हनुमान् जी भगवान् की सुंदर मूर्ति एक प्राचीन सरोवर के तट पर स्थित है। यह चमत्कारी मूर्ति मुरादें पूरी करती है। मंदिर के पीछे सूकर की विशाल मूर्ति है। इस सूकर को भगवान् विष्णु के तीसरे अवतार वराह का प्रतीक माना जाता है। इस प्राचीन स्थान पर कई अज्ञात योगियों और तपस्वियों ने साधना की थी। कई तो यहीं समाधिस्थ हो गये, जिनकी समाधियाँ बनी हुई हैं। इन समाधियों पर समाधि ले चुके उन महापुरुषों के चरणचिह्न बने हुए हैं। महापुरुषों की उपस्थिति दर्शाने वाले इन चरणचिह्नों को जनमानस पवित्र मांगलिक प्रतीक मानकर पूजता है। जन-जीवन के आस्था के प्रतीक ये मांगलिक चरण चिह्न उन्हें सन्मार्ग पर ले जाते हैं और जीवन का मार्ग प्रशस्त करते हैं।

राजगढ़ में चरणचिह्न - राजगढ़ की तहसील सारंगपुर के पास में पवित्र नदी कालीसिंध के मध्य में एक चट्टान पर कपिलेश्वर महादेव का प्रसिद्ध मंदिर है। लोककथा के अनुसार यहीं पर कपिलमुनि ने तपस्या की थी और सारंग नाम का दैवी धनुष प्राप्त किया था। कहते हैं उनकी तपस्या के समय निन्यानवे नद-नालों को समेटे हुए कालीसिंध नदी अपने पूर्ण उफान पर आ करके हाहाकार करने लगी। तपस्यास्थली काली चट्टान को डूबते देख कपिलमुनि ने माँ काली से प्रार्थना की कि हे माँ! अब सौवाँ नद या नाला इस नदी में मत मिलने देना, नहीं तो यह दूसरी गंगा हो जायेगी। वे माँ काली को जोर से पुकार पड़े- काली! ओ माँ काली! नदी के उफान से बचाओ। उनकी पुकार से नदी का उफान उतर गया और नदी का नाम कालीसिंध नदी पड़ गया। कपिलमुनि की इस तप:स्थली पर मंदिर में कपिलेश्वर महादेव बाद में विराजे, पहले तो चट्टान पर वे छोटे शिवलिंग के रूप में कपिलमुनि द्वारा पूज्य थे। इसी शिवलिंग के सामने कपिला गाय, जो कपिलमुनि के साथ थी, के दो खुर (चरणचिह्न) अंकित हैं। गाय हिन्दू समाज में पूज्य है, वह माता के समान है। महापुरुषों के समान ही कपिला गाय के चरणचिह्न एक मांगलिक प्रतीक के रूप में पूज्य है। इस स्थान के सामने गोपदचिह्नों की स्मृति में एक गोशाला का संचालन किया जाता है। गो-पद को हिन्दू समाज में अत्यन्त पवित्र माना जाता है। ऋषियोंमुनियों के साथ नन्दिनी एवं कामधेनु के होने का प्रसंग कई पौराणिक कथाओं में आता है, अत: कपिलमुनि के साथ कपिला गाय का होना स्वाभाविक है। एक लोककथा के अनुसार राजा भर्तृहरि द्वारा बाण से मारा गया हिरण ईश्वर से प्रार्थना करता है कि हे प्रभु! मेरे नेत्र किसी चंचल चितवन वाली चतुर स्त्री को देना, मेरे सींग अलख जगाने वाले नाथ संत को देना और मेरे खुर (पैर का निचला हिस्सा) सुरिया गाय को देना, एक हिरण भी सुरिया गाय के खुरों की महत्ता समझता था। वह उसे अति पवित्र मानकर अपने उत्सर्ग से धन्य हो जाना चाहता है -

सींग देना रे कालू नाथ को घर-घर लेंगे बजाय।
नैन देना रे चतुर नारी को जग को देखे सिवास।
खुर देना रे सुरिया गाय को घर-घर लेय पुजाय।

सुरिया गाय एवं हिरण के खुरों की बनावट भी एक जैसी होती है और दोनों की सींग कंधे की ओर झुके हुए लम्बे होते हैं। सुरिया गाय घर-घर पूजी जाती है, उसकी वंदना एवं पूजा होती है। गाय का खुर एक मांगलिक लोकप्रतीक है।

रामदेव बाबा के चरणचिह्न - सारंगपुर से अठारह किलोमीटर की दूरी पर भैंसवा माता का पवित्र मंदिर है। मंदिर के सामने छोटी धर्मशाला के पास बाबा रामदेव के चरणचिह्न स्थापित हैं। रामदेव बाबा मालवा एवं निमाड़ के साथ-साथ राजस्थान के भी प्रमुख लोक देवता माने जाते है। बाबा रामदेव के चरणचिह्नों को मालवा में लोग मांगलिक प्रतीक के रूप में थानक पर स्थापित करके पूजते हैं।

देवी के हाथचिह्न - मांगलिक कार्यों शादी-ब्याह आदि अवसरों पर हथेलियों का छापा मारकर उसकी आकृति बनाना शुभ एवं मांगलिक प्रसंग माना जाता है। दीवारों के अतिरिक्त लोगों एवं पशुओं की पीठों पर हथेलियों का पाया शुभ अवसरों पर लगाया जाता है। शादी के कोहबर एवं कलशों पर भी हाथ का छाया लगाते हैं। परन्तु यह एकमात्र स्थान ऐसा है, जहाँ देवी माता के चार हाथ एक मंदिर में स्थापित हैं। लोकमान्यता के अनुसार पास के दूध तलाई में देवीस्वरूपा कन्या के समाहित हो जाने के पश्चात सर्वप्रथम देवी कन्या

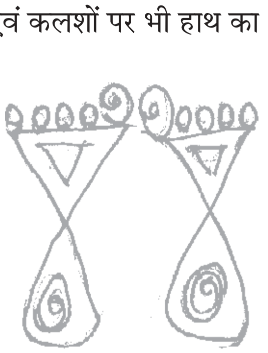

के चार हाथ इसी स्थान पर स्वयं प्रकट हुए थे। इन देवी हाथों को देवी के मांगलिक प्रतीक के रूप में पूजा जाता है। भैसवा माता बिजासन माता के रूप में विद्यमान हैं अत: उनके हाथ अत्यन्त शक्तिशाली एवं ऊर्जावान् माने जाते हैं। पदचिह्नों की स्थापना की परम्परा वाले मालवा प्रांत में हाथ चिह्नों की मंदिर में उपस्थिति एक अद्‌भुत संयोग है। उठे हुए ये हाथ विजय एवं कल्याण के उद्‌घोष स्वरूप एक अद्‌भुत मांगलिक प्रतीक है।

राजराजेश्वरी देवी मंदिर के चिह्न – शाजापुर जिला मुख्यालय के मध्य स्थित राजराजेश्वरी माँ त्रिपुर भैरवी का अति प्राचीन मंदिर मालवा में विख्यात है। माँ के मंदिर प्रांगण में ही माता के चरणचिह्न अंकित हैं। कई भक्तगण माँ के इस मांगलिक प्रतीक चरणचिह्नों को नमन करके ही मंदिर में प्रवेश करते हैं। कई भक्त माँ के चरणचिह्नों पर माथा टेकते ही आन्दोलित हो जाते हैं। उनके शरीर में अजीब दैवीकंपन होने लगता है और वे शाबर मंत्रों के उच्चारण में कुछ स्वर बुदबुदाने लगते हैं। लोकजीवन में इसे माँ की सवारी आना कहा जाता है। चरणचिह्नों का यह मांगलिक प्रतीक जनमानस को स्पन्दित करके उनमें चेतना का संचार कर देता है। इस प्रकार की घटनाएँ कई देवस्थानों पर घटित होती हैं। परन्तु माँ के चरणचिह्न के मांगलिक प्रतीक का यह पहला उदाहरण है, जहाँ देवी की भव्य प्रतिमा के होते हुए भी कुछ लोगों में चरणचिह्नों के प्रति अधिक आस्था और समर्पण है।

सुंदरसी प्रांगण के चिह्न- शुजालपुर तहसील में है विक्रमादित्ययुगीन प्राचीन नगर सुन्दरगढ़ (सुंदरसी)। यहाँ के महाकाल मंदिर प्रांगण में स्थित नीम के पेड़ के नीचे बने एक बड़े चबूतरे पर कई भग्न मूर्तियाँ रखी हैं। यहीं पर सफेद संगमरमरी पत्थर पर उत्कीर्ण एक चरणचिह्न भी रखा है। लोक आस्था का मांगलिक प्रतीक यह चरणचिह्न किसका है, स्पष्ट नहीं है। मंदिर के महंत के कथनानुसार मालवा में लोकधर्मार्थी, दानदाता एवं त्यागी संतों के अतिरिक्त गृहस्थ पूज्य जनों के चरणचिह्न स्थापित करके उन्हें पूजते हैं। यह विचार सत्य प्रतीत होता है। सुंदरसी में मंदिर प्रांगण से एक हजार मीटर की दूरी पर स्थित भग्नावशेष बावड़ी के पास पड़े काले शिलाखण्ड पर चार पदचिह्न अंकित

हैं। उपेक्षित पड़ा यह पदचिह्न सम्भवत: बावड़ी बनवाने वाले परमार्थी युगल का (पति-पत्नि दोनों का) है। इसे उनके वंशज मांगलिक प्रतीक मानकर पूजते रहे होंगे, जो कहीं अन्यत्र चले गये और लोग इसे भूल गये। कई शिलालेख भी इस गाँव में उत्कीर्ण हैं, इनको पढ़ने के पश्चात् इस पदचिह्न के मांगलिक प्रतीक का रहस्य भी उजागर हो सकता है। यदि इसे सहेजा नहीं गया, तो यह प्रतीक काल कवलित हो जायेगा।

खड़ी गाँव का रामदेव बाबा का चरणचिह्न-सुन्दरसी से छह किलोमीटर दूर एक सम्पन्न गाँव खड़ी में एक चबूतरे पर बाबा रामदेव के चरण चिह्न अंकित हैं। बाबा रामदेव के इन चरण चिह्नों को स्थानीय लोग एक मांगलिक प्रतीक मानकर बड़े आदर भाव के साथ पूजते हैं। घर से बाहर जाते समय लोग इन चरण चिह्नों के समक्ष माथा टेक कर सकुशल वापस लौट आने की मन्नत माँगते हैं। जन आस्था का केन्द्र बाबा रामदेव के चरणचिह्नों की महिमा का लोग बखान करते हैं। स्थानीय निवासी रघुनंदन सिंह डोंडिया इन पद चिह्नों को पूरे गाँव का रक्षक बताते हैं। मालवा में पद चिह्नों वाले इन स्थानों-चबूतरों को पग्ल्या कहा जाता है।

पादप्रहार की मंगल परिणति

किसी पर पैर से प्रहार करना उसका घोर अपमान करना है, परन्तु कई ऐसे प्रसंग हैं, जब प्रताड़ित व्यक्ति के लिये अपमानित करने वाला पादप्रहार वरदान एवं उसकी श्रेष्ठता को स्थापित करने वाला निर्मित बन गया। हरेकृष्ण शरण (बाबू जी) सुन्दरसी द्वारा सुनायी गयी एक पौराणिक कथानुसार एक बार भगवान् शिव द्वारा भगवान् श्रीराम को दण्डवत् प्रणाम करने पर पार्वती जी ने उनसे प्रश्न किया- आप से बड़ा कौन है, जिसे आप दण्डवत कर रहे हैं। पार्वती के भ्रम को दूर करने के लिए ऋषियों ने भृगुऋषि को ब्रह्मा के पास भेजा। ब्रह्मा के पास पहुँचकर भृगुऋषि ने उलाहना भरे शब्दों में उनके द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति करने के अतिरिक्त अन्य कार्य न करने की बात कही। ऐसी बाते सुनकर ब्रह्मा जी क्रोधित हो गये और भृगुऋषि को भगा दिया। फिर ऋषि शंकर जी के पास गये और उन्हें भी आरोपित करने लगे। भगवान् शंकर ने तीसरा नेत्र खोलकर भस्म कर देने का भय दिखाकर भृगुऋषि को भगा दिया। अन्त में वे क्षीरसागर में शेषशायी भगवान्

विष्णु के पास गये। दर-दर की ठोकर खा चुके भृगुऋषि ने विष्णु भगवान् के सीने पर पैर से प्रहार कर दिया। दयानिधि भगवान् नारायण विष्णु ने ऋषि के पैर पकड़ लिये और पूछा- ऋषिवर मेरी वज्र सी छाती से आपके पैर को चोट तो नहीं लगी? ऋषि नारायण के वचन सुनकर लज्जा से झुक गये। बोले- प्रभु, आप देवताओं में सबसे महान् हैं। पार्वती जी को अपने प्रश्न का उत्तर मिल गया कि नारायण के अवतार श्रीराम को शंकर जी ने क्यों दण्डवत् किया था। यहाँ भगवान विष्णु के सीने में उभरा भृगुऋषि का पदचिह्न भगवान् विष्णु की श्रेष्ठता, दया, सहिष्णुता एवं क्षमा का मांगलिक प्रतीक बन गया। अनिष्टकारी पादप्रहार के चिह्नों को मांगलिक प्रतीक में परिवर्तित कर देने की क्षमता नारायण में ही है।

रामकथा में भी एक प्रसंग ऐसा है कि दुष्ट के पद प्रहार को झेलने वाला भक्त विभीषण प्रभु के पैरों की शरण पा गया। सत्य को अस्वीकारते हुए रावण ने विभीषण पर आरोप भी लगाये भी।

ममपुर बसि तपसिन्ह पर प्रीती। सठ मिलु जाई तिन्हहिं कहु नीती।
अस कहि कीन्हेसि चरन प्रहारा। अनुज गहे पद बारहिं बारा।।

मानस / सुंदरकाण्ड / 40/5

रावण के पादप्रहार को अपने जीवन को नयी दिशा देने वाला मानकर विभीषण उसे उचित ठहराता है, इसे पिता का हक बताता है-

तुम पितु सरिस भलेहि मोहि मारा। रामु भजे हित नाथ तुम्हारा।।

मानस / सुंदरकाण्ड / 40/8

अन्त में वह रावण के पादप्रहार के कारण लंका छोड़कर प्रभु की शरण में चला जाता है और कहता है कि मेरा धन्य भाग्य है कि मैं उन पैरों को देखूँगा, जिनके स्पर्श से ऋषि पत्नी अहल्या तर गयी, दण्डक वन पवित्र हो गया। उन पैरों के दर्शन करूँगा, जिन्हें सीता माता हृदय से लगा कर रखती हैं, जो पैर कपटी मृग के पीछे दौड़े थे, जो पैर साक्षात् शिवजी के हृदय रूपी सरोवर में विराजते हैं। यह मेरा अहोभाग्य है कि मैं उन दुर्लभ चरणों को देखूँगा, जिन चरणों की पादुकाओं में भरत जी ने अपना मन लगा रखा है। अहो! आज मैं उन्हीं चरणों को अभी जाकर इन्हीं नेत्रों से देखूँगा-

देखिहउँ आज चरन जलजाता। अरुन मृदुल सेवक सुखदाता।
जे पद परसि तरी रिषिनारी। दण्डक कानन पावनकारी।।
जे पद जनकसुता उर लाए। कपट कुरंग संग धर धाए।।
हर उर सर सरोज पद जेई। अहोभाग्य मैं देखिहउँ तेई।।
जिन्ह पायन्ह के पादुकन्हि, भरतु रहे मन लाइ।
ते पद आजु बिलोकिहउँ, इन्ह नायनन्हि अब जाइ।।

मानस / सुंदरकाण्ड / 41/4-8

विभीषण के इस प्रसंग में भी अनिष्टकारी रावण का पदप्रहार उसके लिये मंगल प्रसंगों का निमित्त बन गया। अतः प्रसंगों में विरोधाभासी मांगलिक प्रतीकों का निर्माण किया जा सकता है। बुराई को अच्छाई में बदलने का इससे सटीक एवं ज्वलन्त उदाहरण और नहीं हो सकते।

संस्कृत साहित्य एवं लोकमान्यता के अनुसार अशोक का फूल भी पादप प्रहार से ही खिलता है। कहते हैं षोडशवर्षीया नवयौवना पूर्ण श्रृंगार करके पैरों में महावर लगाकर, अर्धरात्रि में (अपने अलक्तकयुक्त पैरों से) नग्न अवस्था में अशोक के वृक्ष पर पादप्रहार करती है, तो अशोक के फूल खिल उठते हैं। सजी-धजी नवयौवना के पादस्पर्श से खुशी में जड़ वृक्ष का खिल उठना मनुष्य की जड़ प्रकृति में भी स्पर्श के स्पंदन का संचार कर देने का सुंदर प्रतीक है। पादप्रहार से जंगल में मंगल का निर्माण का माध्यम नवयौवना भी तो मनुष्य जाति की ही प्रतिनिधि है। संदेश बहुत स्पष्ट है कि जड़ता मिटाने के लिये मानव को प्रकृति के नियमों को मानने में संकोच नहीं करना चाहिये। अशोक का खिलना प्रकृति की खुशहाली है। इस खुशहाली का तरीका कुछ जटिल अवश्य है, परन्तु विस्मयकारी या अश्लील आपत्तिजनक बिल्कुल नहीं। यह प्रसंग प्रकृति से मिलन और उसे खुश करने का मांगलिक प्रतीक सा है। नवयौवना का पादप्रहार, चोट के स्थान पर स्पर्श सुख का संचार कर रहा है, अतः यह प्रहार नहीं बल्कि प्रेम का इजहार है। उत्तर भारत में सुहागन महिलाएँ कलश को पैरों से ढकेल कर खिसकाती हैं। शादी ब्याह के समय कलश खिसकाने की परम्परा है। सुहागन का अलक्तकयुक्त चरण मांगलिक प्रतीक के रूप में माना जाता है।

मांगलिक प्रतीक

डॉ. कीर्ति शर्मा

सृष्टि की रचना इस लौकिक जगत् की सर्वप्रथम कला है। ईश्वर की अलौलिक लीला एवं दिव्य कला से समस्त सजीव प्राणी तथा प्रकृति का निर्माण हुआ है। सम्पूर्ण संसार ईश्वरीय चेतना से सराबोर है। ईश्वरीय शक्ति का दिव्य भाव सृष्टि का पोषण करता है तथा उसकी रक्षा करता है। चराचर जगत् का सतत विकास एवं मानव जीवन का उत्थान ईश्वर के प्रकाश द्वारा होता है। निराकार ईश्वर के सुंदर स्वरूप तथा जगत् के अद्‌भुत साकार रूप की अनुभूति से मनुष्य हृदय में कला की प्रेरणा उत्पन्न हुई और मनुष्य समाज द्वारा कला की उत्पत्ति हुई है। कला की दृष्टि पाकर मानव हृदय आत्मिक आनंद से भर उठता है। आदिम समाज के सृजनशील तथा संवेदनशील मनुष्य के मन में ईश्वर, सूर्य, चंद्र, प्रकृति इत्यादि के प्रति भय, कौतूहल, रहस्य तथा आदर की भावना थी। भय-आदर की यही भावना बाद में पूजाभाव में परिवर्तित हुई। धार्मिक विश्वास के कारण पूजाप्रतीकों की अभिव्यक्ति के लिये मनुष्य ने कला को माध्यम बनाया।

कला शब्द की उत्पत्ति विद्वानों ने संस्कृत की कल् धातु से मानी है, जिसका अर्थ सुंदर, मधुर, कोमल या सुख देने वाला है। कला से अभिप्राय ऐसे कौशल या चमत्कार से है, जिसके द्वारा जीवन में सौंदर्य तथा समृद्धि का संचार होता है। कला जीवन के सत्य, शिव एवं सुंदर की आत्मीय अनुभूति एवं अभिव्यक्ति है। शिल्प, हुनर या कार्यकौशल आदि के अर्थ में कला शब्द का प्रयोग भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में हुआ है। श्री वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार 'कला भावों का पृथ्वी पर अवतार है।' श्री मैथिलीशरण गुप्त ने कला को शिवत्व की उपलब्धि के लिये सत्य की सौंदर्यमयी अभिव्यक्ति माना है। टॉलस्टाय के विचार में अपने ही भावों को रंग, रूप, रेखा, ध्वनि, क्रिया द्वारा इस प्रकार अभिव्यक्त करना कि उसे देखने-सुनने में भी वही भाव उत्पन्न हो जाय, कला है। प्लेटो ने कला को प्रकृति एवं सत्य की अनुकृति कहा। इसी सत्य की अनुकृति संसार के जड़-चेतन सभी रूपों में दिखायी देती है अथवा जड़-चेतन का कलात्मक अंकन सर्वव्यापक सत्य की अनुकृति है।

धर्म के स्वरूप को समझने में भी कला सहायक है। कला और धर्म परिपूरक पहलू है तथा इनका अस्तित्व एक-दूसरे पर आश्रित है। धर्म ही समस्त कार्यकलापों का संबल है, जो सामाजिक हित और मंगलकामना की आधारशिला पर स्थित है। जीवनधर्म की अनिवार्यता तथा देवी-देवताओं के प्रति विश्वास का बोध हमें प्रतीक चिह्न सहज रूप में करा देते हैं। धर्म प्रतीकों और लोककला के अभिप्राय को एक बिन्दु पर लाता है। मांगलिक प्रतीक असीम, निराकार, अव्यक्त एवं सर्वशक्तिमान ईश्वर के स्वरूप को व्यक्त करने के सजीव साधन हैं। इन प्रतीकों में सनातन परम्पराओं, ईश्वर के प्रति विश्वास, आशीर्वाद की कामना एवं समृद्धि की आकांक्षा का भाव है। मनुष्य के निश्छल भाव द्वारा अंकित ये प्रतीक मन को गहराइयों से छूकर संवेदनाएँ जाग्रत करते हैं। मांगलिक आकृतियों का प्रतीकात्मक अंकन लोकमानस की सरलता से भरी आध्यात्मिक उच्चता एवं उदारता को व्यक्त करते हैं। जन-जीवन में ईश्वरीय शक्ति के प्रति आस्था का विकास करने वाले मांगलिक प्रतीक मानव जीवन में, चेतना में समाहित हैं। इन प्रतीकों के लोककल्याणकारी भाव से ही मनुष्य को धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं अन्य सांसारिक कार्यों को करने की प्रेरणा मिलती है। ओजस्विता, संघर्ष एवं साहस के प्रतीक इन चिह्नों में विषमतम परिस्थितियों में अपने अस्तित्व को सिद्ध करने की मनुष्य की जीवन-गाथा साकार हुई है। सांस्कृतिक जीवन में महत्त्व के साथ स्थापित ये चिह्न राष्ट्र, समाज, जनजीवन की समृद्धि, सम्पन्नता एवं सुख शांति के प्रतीक हैं।

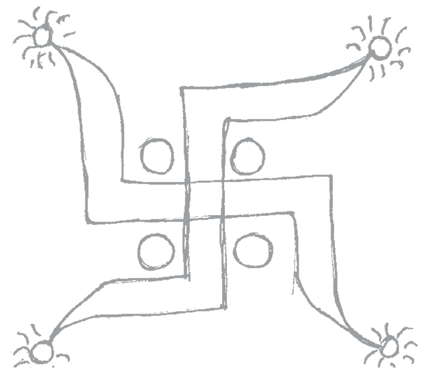

मनुष्य की स्वाभाविक अभिव्यक्ति के ओजस्वी रूप ये प्रतीक संस्कारों द्वारा परिष्कृत और परिमार्जित होते हैं। सहज और अनगढ़ स्वरूप में ये प्रतीक मन को आह्लाद और मंगलमयी भावनाओं से पूरित करते हैं। अत: मांगलिक प्रतीकों में प्रकृति तत्त्व, निर्मलता, यथार्थता, जीवन संदेश, अलौकिक अनुभूति एवं परम्परागत कर्मरत मानव जाति के श्रेय एवं प्रेय का भाव है।

मांगलिक प्रतीक कलात्मक अंकन हैं। इन प्रतीकों का स्वरूप इतना सरल और हृदयग्राही होता है कि भले ही जीवन के गूढ़तम रहस्य वे व्यंजित न कर सकें, पर निष्ठा की गहराई में प्रतीकों की रेखाएँ सजीव चित्र उपस्थित कर देती हैं। इन प्रतीकों के सौन्दर्य में झांकने के लिये तर्क-वितर्क की नहीं, हृदय की संवेदनशीलता की आवश्यकता होती है। मंगलमयी कलाकृतियों में जीवन स्वाभाविक क्रिया एवं आत्मचेतना सजग होती है। जीवन के उत्थान-पतन, कला-भावना, जय-पराजय, प्रेम-विरह, श्रद्धा-भक्ति की अनेक स्मृतियाँ ये प्रतीक संजोये रहते हैं। मांगलिक प्रतीक युग-युग से नीति, सदाचार, धर्म तथा व्यवहार की शिक्षा देते हैं। जीवन के आचार-विचार, अतीत-वर्तमान को जोड़ने, भारतीय जीवन की शुभता, सुख-मंगल को प्रकट करने वाले ये मांगलिक प्रतीक हमारी धरोहर हैं।

मांगलिक प्रतीकों में स्वस्तिक की व्यापक महत्ता सम्पूर्ण भारतीय दर्शन में स्थापित है। हमारे सांस्कृतिक, धार्मिक एवं सामाजिक जीवन में स्वस्तिक सबसे अधिक प्रचलित एवं प्राचीन प्रतीक है। पौराणिक अर्थ में इसे शुभसूचक चिह्न माना जाता है तथा शुभ के आस्था भाव से जोड़ा जाता है। स्वस्तिक का शाब्दिक अर्थ है आशीष। इसकी चार भुजाएँ भगवान् विष्णु की चार भुजाएँ मानी गयी हैं, इसलिये भगवान् विष्णु के आशीर्वाद के रूप में इसे बनाया जाता है। स्वस्तिक के मध्य में खड़ी और आड़ी रेखाएँ पुरुष और प्रकृति, चेतन और जड़, ब्रह्म और माया, अमृत और मर्त्य, अमूर्त और मूर्त इत्यादि सनातन तत्त्वों की ओर संकेत करती हैं। इन रेखाओं के छोरों पर की चार रेखाएँ चार गतियाँ (दिशाएँ), चार पुरुषार्थ, चार वेद, वर्ण एवं आश्रम की प्रतीक हैं। समस्त भू-मण्डल पर मानव समाज के कल्याण के प्रतीक स्वस्तिक को पूजा-पर्व के अवसर पर प्रारंभ में बनाया जाता है। सृष्टि के निर्माण में स्त्री-पुरुषरूपी दो शक्तियों के योग तथा चतुर्गति रूप में घूमते जीवन के महासत्य का प्रतीक भी माना है। कल्याणकारी ओंकार एवं गणपति के बीजाक्षर इसकी उत्पत्ति का मूल हैं।

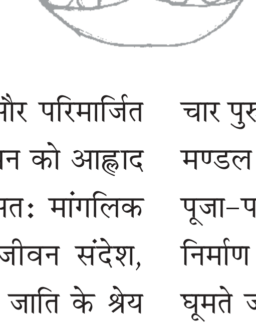

गणों के अधिपति गणपति की पूजा अमंगल को दूर कर मंगलमयी मानी जाती है। विभिन्न आकार, वर्ण वाले शिव के सहायकों से गणों का तात्पर्य है। शिव के गण-समूह के प्रमुख गणेश को ओंकार का प्रतीक माना जाता है। गणपति का प्रादुर्भाव पहले विनायक के रूप में हुआ तथा गणपति शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग ऋग्वेद के मंत्र में हुआ। महाभारत में गणेश्वरों एवं विनायकों का उल्लेख उन देवों के लिये हुआ है, जो सर्वव्यापी हैं, मानव कार्यों का निरीक्षण करते हैं तथा स्तुति से प्रसन्न होकर विघ्न-बाधाओं का नाश करते हैं। पुराणों के अनुसार श्री गणेश की आकृति गजमुख, त्रिनेत्र, लंबोदर, चतुर्बाहु, सर्पयज्ञोपवीतधारी, विशाल कर्ण, विशाल शुण्ड तथा एकदंत बनाना चाहिये। बुद्धि-सिद्धि से युक्त उनकी आकृति के दाहिने हाथ में अपना दाँत, दूसरे हाथ में कमल, बायीं ओर मोदक तथा फरसा, नीचे मूषक, पुष्ट हस्त और पाद तथा आसपास रिद्धि-सिद्धि की प्रतीक आकृतियाँ हों।

अमरता तथा जीवनी शक्ति के प्रतीक सूर्य-चन्द्रमा का मांगलिक प्रतीकों में महत्त्वपूर्ण स्थान है। सूर्य की किरणों के सात रंगों की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति ऋग्वेद के सूक्त में सात घोड़े वाले रथ के रूप में हुई है, जिस पर सूर्य विराजित रहते हैं। सृष्टि को गतिमान, जीवंत एवं पूर्ण विकसित करने में सूर्य ऊर्जा का प्रमुख स्रोत है। वेदों में सूर्य को देवताओं के नेत्र माना गया, जो भूमंडल पर मनुष्यों की गतिविधियों को देखते हैं। चंद्रमा को अमृत, शीतलता, मन, बुद्धि एवं आशा का स्रोत माना गया। सूर्य-चंद्रमा संतति विकास के प्रेरक देवता भी माने गये।

संपूर्ण मानव समाज की उज्ज्वल प्रकाशवान कल्याण की कामना का मांगलिक प्रतीक दीपक को माना गया। जीवन की ज्योत्स्नामयी प्रार्थना के प्रतीक दीपक का उद्देश्य सदा संसार मार्ग को प्रकाशित करना है। प्रत्येक धार्मिक एवं मांगलिक कार्यों में प्रज्वलित दीपक शुभता का, आराधना का प्रतीक है। नव-जीवन एवं नवगृह में प्रवेश के अवसर पर नववधू को हाथ में जलता हुआ दीपक लेकर गृहप्रवेश कराया जाता है। यह कामना की जाती है कि उसका संपूर्ण जीवन दीपक के उजाले की भाँति प्रकाशित रहे।

जीवन के अनुष्ठानों का लेखा-जोखा समाहित किये प्रतीकों में चौक का विशेष महत्त्व है। चौक की पंखुड़ियों को बनाते हुए दोहरी आकृति के बाद आठ पंखुडियों तक बढ़ाया जाता है। गेरू से बने चौक में सफेद रंग भरा जाता है। बिंदियों पर आधारित चौक, मांडने, अल्पना, रंगोगी जीवन की सरसता उमंग, उत्साह, कलात्मकता, पूजा, भक्ति तथा साज-सज्जा के भाव को स्पष्ट करते हैं। बिंदियों को भारतीय मनीषियों ने सृष्ट्योन्मुख शक्ति या महामाया का प्रतीक माना है। मांगलिक कार्य का संकेत देते मंगल-कलश शुभ-भाव का प्रतीक हैं। कलश को ब्रह्मा-विष्णु महेश, संपूर्ण ब्रह्मांड तथा विद्या-ज्ञान का प्रतीक भी माना गया है। पूजा-अनुष्ठान में कलश के जल में समस्त नदियों-समुद्रों के जल को समाहित माना जाता है। घर के प्रथम द्वार पर युगल पदचिह्न विष्णु-लक्ष्मी के चरणों के प्रतीक हैं, जो धन की देवी लक्ष्मीजी का आह्वान करते हैं, जिससे घर में सुख-शांति, समृद्धि एवं खुशियाँ आये और बनी रहें।

ईश्वरीय शक्ति तथा जीवन की गति को दर्शाने वाला चक्र एक ही रेखा से प्रारंभ कर चकरी की भाँति मोड़कर परिधि के रूप में बनाया जाता है। चक्र की परिधि में लहरियाँ बनती जाती हैं। ईश्वर के अस्तित्व एवं पूजा के शुभ प्रतीक के रूप में घर के द्वार पर श्री, ओम्, शुभ-लाभ, श्रीगणेशाय नमः, श्री महालक्ष्मी प्रसन्न, श्री सरस्वती सहाय लिखा जाता है। ईश्वर का आह्वान करते तोरण, वंदनवार, आम्र-पल्लव बाँधे जाते हैं। शंख-ध्वनि से मंगलकामना का भाव व्यक्त किया जाता है। शुभ-कार्यों की सूचना देते पाने दरवाजों की चौखट पर लगाये जाते हैं। रंगीन-चमकीली पन्नी से बने पानों पर सतिया, ओम्, श्री, कलश, चक्र इत्यादि शुभ चिह्न अंकित रहते हैं। धर्म भावना से प्रेरित हाथों के छापे शुभ मंगल कार्यों के अवसर पर हल्दी या चावल के घोल से बनाये जाते हैं। विवाह,उपनयन, मुंडन इत्यादि मांगलिक कार्यों तथा पूजा-अनुष्ठान के अवसर पर कुटुंब की कुलदेवी को

आशीर्वाद की कामना से स्थापित किया जाता है। एक सीधी रेखा के आसपास दो रेखाएँ हाथों की दो रेखाएँ चरणों की तथा ऊपर बिन्दी की आकृति कुलदेवी का प्रतीक हैं। कक्ष की दीवार पर बनी कुलदेवी को 'ईरीत' कहा जाता है। कक्ष के दरवाजों पर दोनों ओर आम्रवृक्ष भी बनाये जाते हैं।

मानव का प्रकृति एवं पशु-पक्षियों के साथ साहचर्य सहभागिता सृष्टि के अस्तित्व के समय से ही है। प्रकृति के सौन्दर्य तथा पशु-पक्षियों की संवेदना ने मानवजीवन को पूर्ण बनाया है। पूजा में प्रयुक्त कमल पुष्प को देवताओं का सिंहासन माना गया है। पशुओं में विशाल आकार वाले हाथी को ईश्वर के विराट् स्वरूप का परिचायक एवं धर्म में शुभ माना गया है। लोकधर्म में देवता के रूप में स्थित सर्प को समस्त पृथ्वी का आधार माना जाता है। विष्णु, राम, कृष्ण, बुद्ध के स्वरूप में सर्प को पूजा जाता है। यह माना जाता है कि सर्प कामना पूर्ण करने वाले देव हैं। सुख-संपन्नता की प्रतीक मीन को शुभ कार्यों में सौभाग्य का प्रतीक माना गया है। मीन का युगल रूप शुभ भाव का संदेश देता है। दीर्घायु, आरोग्य सुख, प्रेम शांति के प्रतीक कछुए को घर के पूजा स्थान में रखा जाता है। जल में स्थिर गति से विचरण करने वाली बतखें सौंदर्य की प्रतीक, सारस आत्मीय भाव का प्रतीक तथा शुक श्रृंगार एवं प्रेमभाव का प्रतीक है। भारतीय जीवन एवं साहित्य में मयूर को सहस्रगुना विस्तृत अंतरिक्ष या ब्रह्मांड का प्रतीक माना है। मयूर का सुंदर रूप लावण्य का प्रतीक है। गंभीरता, न्याय, विवेक एवं सौंदर्य के प्रतीक हंस को कलात्मक लय-गति के रूप में महत्त्व प्राप्त है। दैवीशक्ति के प्रतीक हंस को शत्रुविचारधारा में दैवीय ऊर्जा का स्रोत एवं प्रेरक माना गया। समस्त देवी देवताओ के स्वरूप को गाय में समाहित मानकर गाय को प्रत्यक्ष ईश्वर की प्रतीक मानते हुए, पूजने की गौरवपूर्ण परंपरा स्थापित है। अतः प्रकृति और पशु-पक्षी मानव जीवन की समृद्धि और खुशहाली को व्यक्त करते हैं। भारतीय संस्कृति, सभ्यता, धर्म और दर्शन के स्वरूप को स्पष्ट करते मांगलिक प्रतीक बिना किसी यंत्र या उपकरण की सहायता से, एक ही गति या प्रवाह के साथ बनाये जाते हैं। ज्यामितिक आकार वाले त्रिभुज, चतुर्भुज, वृत्त, षट्कोण, चतुष्कोण इत्यादि रूढ़िगत रेखाओं का सीधा संबंध देवी-देवताओं के प्रतीकात्मक चिह्नों से होता है। इसलिये इन प्रतीकों में लय, शास्त्रीयता एवं भावाभिव्यक्ति की शक्ति निहित होती है। गेरू, खड़िया मिट्टी, चावल-हल्दी के घोल, गोबर से बनी इन आकृतियों में वैज्ञानिक दृष्टि से प्रतिरोध क्षमता भी रहती है।

सांसारिक भव-बाधा हरने तथा सुख-शांति समृद्धि के आगमन हेतु बनाये जाने वाले मांगलिक प्रतीक मन को श्रद्धा भक्ति एवं विश्वास से भर देते हैं। कालिदास के काव्य मेघदूत में विरही यक्ष मेघ को अपने घर की पहचान बताते हुए कहता है कि उसके घर के द्वार पर तथा भित्ति पर शंख-चक्र, सूर्य-चंद्र के शुभ सूचक चिह्न अंकित हैं। अतः शुभ मांगलिक प्रतीकों की परंपरा अनादि काल से चली आ रही है तथा आज भी उसी आस्था भाव से विद्यमान है।

निमाड़ी संस्कृति के प्रतीक

छोगालाल कुमरावत 'सुजस'

प्रतीक हमारी संस्कृति के सबसे जाज्वल्यमान नक्षत्र हैं। प्रतीक हमारी संस्कृति की सुंदरता को प्रकाशित करने वाले शृंगार हैं। जिस प्रकार एक छोटे से बीज में विशाल वृक्ष का विस्तार छिपा हुआ रहता है, उसी प्रकार प्रत्येक प्रतीक में संस्कृति के सारतत्त्व के साथ उसकी झीनी सुगन्ध भी समायी रहती है। भौतिक दृष्टि से देखा जाये तो प्रतीकों का कोई विशेष मूल्य नहीं है, लेकिन सांस्कृतिक भावना की दृष्टि से देखने पर प्रतीक अनमोल हैं। प्रतीकों के बिना संस्कृति को समझना मुश्किल होगा।

प्रतीक मौन की भाषा है। संस्कृति की आशा है। संस्कृति की महिमा का मूक गीत है। शांति का संगीत है। बिन्दु में सिन्धु देखने की युक्ति हैं, प्रतीक याने भाषा के अभाव में भावों को अभिव्यक्त करने की कला। संकेत में शास्त्र रहस्य को समझाने वाला अनोखा विद्वान।

यदि उत्सवों में भावप्रवाह दृष्टिगोचर होता है, तो प्रतीकों में बुद्धि का वैभव दिखाई देता है। उत्सव हृदय की शिक्षा है, तो प्रतीकों में बुद्धि का विकास। प्रतीकों से संस्कृति की सार्थकता है। मराठी के लेखक श्री महादेव शास्त्री जोशी के शब्दों में कहें, तो 'प्रतीक सूत्र के समान सारवान तथा विश्वमुखी होता है। सारवान का अर्थ है- सार रूप अर्थ का प्रकाशक और विश्वमुखी का अर्थ है- उसके अनेक अर्थ प्रकट वाला। प्रतीक गागर में सागर भर देता है। उसकी एक-एक रेखा बोलती है।

उठते-बैठते, सोते-जागते, चलते-फिरते, नाचते-गाते याने कोई सा भी कार्य करते हुए व्यक्ति जाने अनजाने किसी न किसी प्रतीक का उपयोग करता रहता है। प्रतीकों से हमारा रोज का व्यवहार है। अत: हम उसकी तरफ ध्यान नहीं दे पाते हैं। प्रतीक तो हमारे जीवन का हिस्सा हैं। प्रतीक अपना काम प्रकृति की तरह बराबर कर रहा है। कहने का मतलब है कि जीवन के प्रत्येक कार्य कलाप प्रतीक में समाहित हो सकते हैं।

निमाड़ी संस्कृति में भी लोककलाओं की अभिव्यक्ति प्रतीकों के माध्यम से ही होती है। निमाड़ की समस्त परम्पराओं, तीज-त्योहारों में सशक्त प्रतीकों का प्रयोग हुआ है। वाचिक परम्परा में वाणी से, लोकचित्रों की कलाओं में रंग-रेखाओं से तथा प्रदर्शनकारी कलाओं में गीत, संगीत, स्वर, लय, ताल, नृत्य, अभिनय आदि में प्रतीक साकार हुए हैं। निमाड़ के लोकसाहित्य और लोकसंगीत में सांस्कृतिक प्रतीकों का उपयोग खूब हुआ है। प्रतीकों में ऐसी कौन सी शक्ति है? जिस कारण से ये हर परिस्थिति में अभी तक ज्यों के त्यों जीवंत हैं। प्रतीकों का कालजयी होने का राज क्या है? इसका उत्तर जानने के लिए हमें इन प्रतीकों के अर्थ और शास्त्र को समझना होगा। निमाड़ लोककलाओं में बिंदु, रेखा, गुण, धन, सूर्य, चन्द्र, ऊँ, कमल, कलश, दीपक, स्वस्तिक, शंख , चक्र इत्यादि अनेक प्रतीक प्रयोगार्थ हैं। प्रयोग के आधार पर ही उनके अर्थचिंतन भी लोक में निश्चित हैं।

बिन्दु – निमाड़ी कलाओं में कोई सा चित्र भी बनाने की शुरूआत बिन्दु से ही होती है। सृष्टि की संरचना भी बिन्दु से ही मानी गई है, अत: बिन्दु सृष्टि का केन्द्र है। कोई सा भी आकार या आकृति बिन्दु से बनना शुरू करना होता है। इसलिए बिन्दु शुरुआत का प्रतीक है। नारी बिन्दु को बिन्दी के रूप में मस्तक पर लगाती है, जो सूर्य का प्रतीक है। सुहागिनों के लिये सुहाग का प्रतीक है। बिन्दु शिवलिंग का प्रतीक है। बिन्दु से ही सिन्धु बना, याने बिन्दु सागर का प्रतीक है। बिन्दु तो ब्रह्माण्ड का केन्द्र है। बिन्दु से ही सब आकृतियों का जन्म होता है। इसलिये बिन्दु उत्पत्ति का प्रतीक है।

बिन्दु से रेखा, रेखा से अक्षर, अक्षर से शब्द और शब्दों से शास्त्रों की उत्पत्ति हुई, इसलिये बिंदु वेदों का प्रतीक है। बिन्दु विचार का प्रतीक है। योगशास्त्र में ईड़ा, पिंगला व सुषुम्ना नाड़ियों का मेल होता है, उस स्थान को बिन्दु ही कहते हैं। बिन्दु से भृकुटी शब्द बना है। योग में बिन्दु पर ही मन को एकाग्रचित्त किया जाता है, जिससे साधना होती है। अत: बिन्दु शक्ति ,पराशक्ति और आदि शक्ति का प्रतीक है, बीज का प्रतीक है। हमारे शरीर का केन्द्र बिन्दु नाभि है। याने बिन्दु नाभि का प्रतीक है। भगवान विष्णु की नाभि से ही कमल पर ब्रह्माजी का जन्म हुआ। अर्थात् बिन्दु ब्रह्मा का भी प्रतीक है। एक ओर बिन्दु सूर्य-चन्द्र, पृथ्वी-अग्नि का प्रतीक है, तो दूसरी तरफ बिन्दु अश्रु, शुक्र व रज का भी प्रतीक है। अत: बिन्दु जीवन का प्रतीक है। निमाड़ी लोकचित्रों में आँखें बिन्दु से ही बनती हैं, इसलिए बिन्दु आँखों का प्रतीक है। बिन्दु दशमलव का प्रतीक है। जिसे भारत ने ही दुनिया को देकर उपकृत किया, जिससे विश्व में गणित का विकास हुआ।

शून्य- शून्य की खोज भारत ने की और दुनिया को गिनती सिखाई, इसलिये शून्य गणना का प्रतीक है। रिक्त जगह को हम शून्य ही कहते हैं। विवेकानंद ने शून्य पर नौ दिन तक दिये अपने वक्तव्य में कहा कि हमारा भारत देश एक शून्य की भाँति है, जिसमें से कोई कुछ भी निकाल ले, तब भी शून्य ही बचेगा। भारत वैसा ही रहेगा। अत: शून्य अखण्डता का प्रतीक है। अनन्त का प्रतीक है। निमाड़ के लोकचित्रों में शून्य का प्रयोग बखूबी हुआ है। शून्य आकाश का प्रतीक है। समय का प्रतीक है। निमाड़ में शून्य को गोला या अण्डा कहते हैं और गोला अण्ड का प्रतीक है। अण्ड और पिण्ड दोनों को समान माना है, कि जो अण्ड में है, वही पिण्ड में है, अत: शून्य ब्रह्माण्ड का भी प्रतीक है और शरीर का भी। सारा संसार शून्य में समाया है, तो शून्य संसार का प्रतीक है।

रेखा – बिन्दुओं को मिलाने से रेखा का जन्म होता है। निमाड़ी भित्तिचित्रों में सर्वाधिक महत्त्व रेखाओं का ही है। आदिमानव रेखाओं और रेखाचित्रों से ही अपने मन की बातों को उजागर करते थे, इसलिए रेखा मन का प्रतीक है। रेखा से ही धन (+) व गुणा (×) के चिह्न बने, जिससे स्वस्तिक की उत्पत्ति हुई। समानांतर रेखा समानता का प्रतीक है, तो खड़ी रेखा बंध का प्रतीक है। ज्योतिषशास्त्र, सामुद्रिकशास्त्र में रेखाएँ भाग्य का प्रतीक है।

पृथ्वी पर हमारे वैज्ञानिकों ने कुछ काल्पनिक रेखाएँ सुविधा के लिए बनाई हैं। उनके अक्षांश रेखा, देशान्तर रेखा, भूमध्य, मकर, कर्क, क्षितिज आदि नाम रखे गये हैं।

निमाड़ में आड़ी-खड़ी, सरल-वक्र रेखाओं से निर्मित कई प्रतीक हैं। निमाड़ी लोकचित्रों में रेखाओं से ही घर बनाये

जाते हैं। नारियाँ अपनी मांग में सिंदूर रेखा के रूप में ही लगाती हैं। इसलिए रेखा सुहाग का प्रतीक है। रामायण में लक्ष्मण ने भी सीता के सामने वनवास में एक रेखा खींची थी, तभी से रेखा मर्यादा का प्रतीक बन गई है।

त्रिभुज - त्रिभुज को त्रिकोण या तिकोन भी कहते हैं, जिसका अर्थ तीन कोण है। इसमें तीन भुजाएँ होती है। त्रिभुज में ब्रह्माण्ड की सकारात्मक ऊर्जा समाई रहती है। इसलिए त्रिकोण ऊर्जा का प्रतीक है। त्रिकोण त्रिदेवों याने ब्रह्मा, विष्णु, महेश का प्रतीक है। मनुष्यों में तीन गुण होते है, जिसमें सत्व, रज और तमोगुण हैं। त्रिकोण मन, वचन और कर्म का प्रतीक है।

त्रिभुज भूत, भविष्य व वर्तमान- तीन कालों का प्रतीक है। अर्थात् त्रिभुज समय का प्रतीक है। त्रिभुज व्यक्ति की तीनों अवस्थाओं का प्रतीक है, जिसमें बाल्यावस्था, युवावस्था और जरावस्था है। त्रिभुज अण्डज, पिण्डज व उद्भिज्ज का प्रतीक है। त्रिभुज तीनों प्रकार के जीवों का प्रतीक है जिसमें थलचर, जलचर व नभचर हैं। देवी-देवताओं के यंत्र कई त्रिभुजों से मिलकर बनते हैं अतः यह यंत्र का भी प्रतीक है। त्रिकोण पर्वत का प्रतीक है। अग्नि का प्रतीक है।

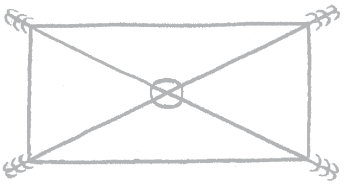

निमाड़ी लोकचित्रों में मानवीय और पशु आकृतियों का आधार त्रिभुज ही है। निमाड़ी कलाओं में त्रिकोण का सर्वाधिक प्रयोग हुआ है। मिस्र के पिरामिड त्रिकोणाकार होने के कारण ही हजारों वर्षों तक सुरक्षित हैं। इसलिये त्रिकोण सुरक्षा का प्रतीक है।

निमाड़ की जिरोती में माता के वस्त्र त्रिकोणाकार ही बनाये जाते हैं। त्रिभुजों के बिना निमाड़ी लोकचित्रों का निर्माण असंभव है। त्रिकोण त्रिनेत्रधारी शिव का भी प्रतीक है।

चतुर्भुज या चौकोन- चतुर्भुज में चार भुजाएँ होती हैं, जिसमें चार कोण होते हैं। यह एक ज्यामितिक आकृति है। चतुर्भुज के चार कोण चार दिशाओं के प्रतीक हैं। उसकी चार भुजाएँ चार आश्रमों की प्रतीक हैं। चतुर्भुज के चार बिन्दु धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के प्रतीक हैं।

निमाड़ के सारे लोकचित्रों के घर चौकोन ही बनाये हैं। चौकोन क्षेत्र सौन्दर्य का प्रतीक है। इसलिये तो हमारे घरों के कमरे, दरवाजे, खिड़कियाँ, खेत-खलिहान आदि स्थान आयताकार ही रखे गये हैं।

निमाड़ में भोजन बनाने के कक्ष को शायद चौकोन के कारण 'चौका' कहा जाता है। हमारे चूल्हे भी वर्गाकार ही होते है। हमारे सोने की खटिया या पलंग, बिस्तर भी वर्गाकार ही होते हैं। जिससे हमें कोई नकारात्मक प्रभाव न पड़े। चौकोन मांगलिकता का प्रतीक है। विवाह में मंडप भी चौकोन बनाये जाते हैं। चतुर्भुजी चीजें सदा आनंद का प्रतीक हैं। तभी तो गाँवों में चौपाल चौकोन है। व्यास गादियाँ भी चौकोन ही बनाई जाती हैं। हमारी लिखने पढ़ने की पुस्तकें भी चौकोन ही हैं, जो संपूर्णता का प्रतीक हैं। हमारे हवन कुण्ड भी सर्वाधिक चौखुटे ही बनाये हैं। ये शक्ति के प्रतीक हैं। निमाड़ में चतुर्भुजी स्वस्तिक को 'चौक' ही कहा जाता है। हर मांगलिक कार्य में पहले आटे, हल्दी या रंगोली का 'चौक' पूरा जाता है।

ऊँ - ऊँ साढ़े तीन अक्षरों का बना है। उसमें पहली मात्रा 'अ' कार है, दूसरी मात्रा 'उ' कार है, और तीसरी मात्रा 'मकार' है। ये सब मिलकर ओंकार बना है। और प्रत्येक मात्रा भिन्न-भिन्न क्षेत्र में अलग-अलग सूचना देती है। जब सृष्टि की व्यापकता का विचार करें तो 'अ' कार मात्रा में पृथ्वी व्याप्त है, 'उ' में अंतरिक्ष और 'म' कार में देवलोक व्याप्त है। ओऽम् तीन देवों का प्रतीक है।

ये तीनों मात्राएँ मानवी शक्ति का प्रतीक हैं। अंतिम आधी मात्रा पूर्व की तीनों मात्राओं के सहयोग की सूचक हैं। हमारी संस्कृति में ऊँ सनातनीय प्रतीक है। सृष्टि का आदि और अंत ऊँ में समाहित है। ऊँ के बिना वेदमंत्र पंगु माने जाते हैं, याने ऊँ मंत्रों का बीज मंत्र है, ऊँ मंत्रों के आदि का प्रतीक है।

ऊँ कार के ही 'प्रणव' और 'उद्गीथ' दो अन्य नाम हैं। ये ऊँ की ही उपाधियों के प्रतीक हैं। ऊँ सर्व रसों में श्रेष्ठ रस है। महर्षि विनोबा के मत से ऊँ 'रसशेखर' है। ऊँ की ध्वनि परब्रह्म

की वाचक और स्तुति की प्रतीक है। ऊँ आदिदेव महोदव शिव का प्रतीक है। ऋषियों ने ओंकार को प्राण का प्रतीक माना है। प्राण ही प्रणव है। प्राण को अमृतत्व की प्राप्ति ऊँ से होती है, अत: ऊँ अमरता का प्रतीक है। महाकाल के साथ काल का भी प्रतीक है।

छान्दोग्य उपनिषद् में मूलभूत दाम्पत्य की कल्पना की गई है। दाम्पत्य याने वाणी और प्राण। इन दोनों का संयोग ऊँकार में हुआ है। इसका मतलब यह है कि वाणी और प्राण के विशिष्ट संयोग से ही ऊँ का उच्चारण होता है।

निमाड़ी संस्कृति सहित पूरे भारत वर्ष में ऊँ से ही सारे मंगल कार्य प्रारंभ किये जाते हैं। अब तो वैज्ञानिकों ने भी ऊँ की शक्ति को सिद्ध कर दिया और पूरे भारत को ऊँ का महत्त्व बताया।

सूर्य – निमाड़ की लोकचित्र परम्पराओं में जिरोती, नाग, संझा, गोरधन, दशहरा आदि कोई सा भी अंकन करना हो, उसमें सूर्य या चन्द्र को ही प्रथम अंकित किया जाता है। निमाड़ी संस्कृति में आज भी लोग यह कहते मिल जायेंगे कि- 'चाँद-सूरज' तो भगवान का डोला है। याने सूर्य चन्द्र ईश्वर की आँखों के प्रतीक है। निमाड़ की बहू-बेटियाँ आज भी विवाह में सूर्योदय का स्वागत 'कुकड़ा गीत' गाकर करती हैं तथा गणेश पूजन के साथ प्रारंभ में सूर्य पूजन करती है। वर-वधू से भी सूर्य पूजा करवाई जाती है।

सूर्य का आकार गोल होने से लोक चित्रों में सूर्य का अंकन गोल ही किया जाता है। सूर्य निमाड़ की हर कला (विधा) में पूरे सम्मान के साथ रचा-बसा है। यह हमारी संस्कृति का अभिन्न अंकन है।

पौराणिक कथा के अनुसार सूर्य की पत्नी संध्या है। संध्या सूर्य का तेज सहन नहीं कर सकती थी, तो उसने अपनी प्रतिकृति याने छाया बनाकर सूर्य की सेवा में लगा दी और स्वयं तपस्या करने चली गई। यमुना और शनि सूर्य की ही संतानें हैं। कुंती पुत्र कर्ण भी सूर्य पुत्र ही है। सूर्य को फल समझकर हनुमान ने भी एक बार खा लिया था। याने सूर्य संबंधी कई कथाएँ भारतीय साहित्य संस्कृति में मिल जायेंगी।

सूर्य केवल आकाशीय गोला नहीं है, वह विश्व का, जीवमात्र का प्राण है। समग्र सृष्टि की शक्ति का प्रतीक है। प्रकृति का आधार है। उसके बिना जीवन असंभव है। वह जीवन शक्ति का प्रतीक है। प्राण का प्रतीक है।

सूर्य मानव का मित्र है, तभी तो ऋषियों ने 'मित्राय नम:' कहकर उसकी स्तुति की। सूर्य केवल प्रकाश ही नहीं देता, बल्कि तेज, उष्मा, ऊर्जा और जीवन भी देता है, इसलिये सभी उन्हें सूर्यनारायण कहकर पुकारते हैं। योगशास्त्र में सूर्य नमस्कार के कई लाभ बताये गये हैं। निमाड़ीजन सूर्य को जल का अर्घ्य देना नहीं भूलते हैं।

सूर्य की नियमितता भी विश्व में अद्वितीय है। उसके उदय व अस्त होने से काल की गणना होती है। वह समय का प्रतीक है।

सूर्य जीवन और मृत्यु का प्रतीक है। मकर संक्रांति व सूर्यषष्ठी सूर्य पूजन के विशेष त्योहार हैं। निमाड़ के बच्चे तो आज भी वर्ष भर मकर संक्रांति का इंतजार करते हैं।

चन्द्रमा – निमाड़ की संस्कृति में चन्द्रमा का भी उतना ही महत्त्व है, जितना सूर्य का। या यों कहे कि चन्द्रमा का स्थान सूर्य से ऊँचा है, तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। निमाड़ की हर कला में चन्द्र का प्रतीकात्मक अंकन मिलता है, उतना सूर्य का भी नहीं। इसलिये तो निमाड़ में चन्द्र को मन का प्रतीक माना है। लोक ने चन्द्र की सोलह कलाओं में कई प्रकार की सुंदर-सुंदर कल्पनाएँ की हैं। चन्द्र कल्पनाशक्ति का प्रतीक है। चन्द्र सुन्दरता का प्रतीक है। सुंदर मुखों की तुलना चन्द्रमा से ही की जाती है। चन्द्रमा की सुंदरता के कारण ही महादेव ने उसे अपने शीश पर धारण कर सम्मानित किया है, उसे प्रतिष्ठित किया है।

पौराणिक आख्यानों में चन्द्र को कहीं समुन्द्र से उत्पन्न बताया गया है, तो कहीं उसे बृहस्पति और तारा का पुत्र कहा गया है। लेकिन वैज्ञानिकों का कहना है कि चन्द्रमा, सौर मंडल का

एक सदस्य है, जो कभी पृथ्वी का ही भाग था और टूटकर पृथ्वी का उपग्रह बन गया। सारे ग्रह सूर्य का चक्कर लगाते हैं, परन्तु चन्द्रमा पृथ्वी का चक्कर लगाता है। हिन्दू पंचाग और तिथियाँ चन्द्र पर आधारित होती हैं। मकर संक्रांति को छोड़कर सारे तीज-त्योहार और लोक पर्व चन्द्रमा की गणना से ही आते हैं। इस्लाम धर्म में तो हर ईद या पर्व चन्द्र दर्शन करके ही मनाया जाता है। इसलिये चन्द्रमा तीज-त्योहारों का भी प्रतीक है। इस्लाम धर्म में दूज के चाँद को सर्वाधिक पवित्र माना गया है। उनके लोकचित्र या झंडे में भी चाँद-तारे का अंकन ही मिलता है। मुस्लिम हर शुभ कार्य में चन्द्र का अंकन करते हैं, याने चाँद शुभ का प्रतीक है, पावनता का प्रतीक है, शुभ्रता का प्रतीक है।

निमाड़ में चन्द्र पूजन के कई त्योहार परम्पराएँ हैं, जिनमें करवा चौथ, गणेश चतुर्थी, शरद पूर्णिमा, कार्तिक पूर्णिमा आदि प्रमुख हैं। निमाड़ीजन शरद पूर्णिमा व कार्तिक पूर्णिमा को अपने लोकदेवता के आधार पर सिंगा महाराज की पुन्योव और ऊँकार महाराज की पुन्योव कहकर मनाते हैं।

लोक में आज भी शरद पूर्णिमा की चाँदनी में दूध या खीर को उबालते हैं, क्योंकि इस रात्रि चन्द्रमा सर्वाधिक अमृत बरसाता है, ऐसी मान्यता है। चन्द्र अमृतत्व का प्रतीक है।

निमाड़ में हर शिशु के माथे पर माताएँ काजल से चन्द्रमा का अंकन करके ही श्रृंगारित करती है। रोते हुए बालक को चंदा मामा ही दिखाकर खुश करती हैं। बच्चे भी चंद्रमा को चंदा मामा कहकर पुकारते हैं तथा किसी बच्चे के रोने पर उसे चंदा मामा का गीत गाकर दुलारते हैं।

तारे- निमाड़ में रात्रि के समय का अनुमान तारों की स्थिति को देखकर ही लगाया जाता है। याने तारे कभी समय के प्रतीक है। ध्रुव तारा अटलता का प्रतीक है, क्योंकि वह सदैव अपने स्थान पर अटल रहता है। शुक्र तारा प्रेम का प्रतीक है। शुक्र तारा बिन्दी का भी प्रतीक है, इस संबंध में निमाड़ी का एक गणगौर गीत प्रस्तुत है-

शुक्र को तारो रे ईश्वर उगी रह्यो,
तेकी मकऽ टीकी घड़ाव ऽ।।

निमाड़ी में तारों की एक पहेली देखिये, जिसमें तारे पैसों के प्रतीक है-

येक कटोरी रूप्या न सी भरीज,
थारा सी बीनी गिणाय,
नऽ म्हारा सी बीनी गिणाय।

तारे शक्ति का प्रतीक हैं। तारे दिशासूचक भी है, जिन्हें देखकर हम रात्रि में दिशा का पता लगा सकते हैं।

पंचतत्त्व (पृथ्वी, जल, आकाश, अग्नि और वायु)- यह ब्रह्माण्ड पंचतत्त्वों से ही बना है। जो अण्ड में है, वही पिण्ड में है। पंचतत्त्वों से ही जीवन की शुरुआत और अंत होता है। अतः पंचतत्त्व जीवन का प्रतीक है।

पंचतत्त्वों में से पृथ्वी माता का और आकाश पिता का प्रतीक है। हर संस्कृति में पंचतत्त्वों को स्वीकार किया गया है। निमाड़ में बच्चे के जन्म पर जल और वायु तत्त्व की जलवाय पूजन के नाम से पूजा की जाती है। निमाड़ी लोक संस्कृति में पाँचों तत्त्वों को प्रतीक रूप में स्वीकार किया गया है, जिसमें पृथ्वी उर्वरता, सहिष्णुता व जीवन का प्रतीक हैं तो आकाश अनंतता व मन का प्रतीक है। जल पवित्रता व मुक्ति का प्रतीक है। जल जीवन का प्रतीक है। अग्नि ऊर्जा सत्यता का प्रतीक है। हमारी संस्कृति अग्नि की पूजक रही है। हिन्दू संस्कृति में अग्नि के समक्ष ही विवाह की पूर्णाहुति होती है। अग्नि की एक विशेष पहेली निमाड़ी में दखिए -

उ देव नको छे सेनापति, दुई माथा पऽ सिंग चार छे।
ओका बिनऽ दुनिया नी चलऽ, उ बकरा पऽ असवार छे।।

वायु प्राण, बल और गति का प्रतीक है। तभी तो वायुपुत्र हनुमान व भीमसेन बलवान थे। पंचतत्त्वों से ही ब्रह्माण्ड निर्मित है। सृष्टि और संस्कृति के आधार पंचतत्त्व ही हैं।

स्वस्तिक - निमाड़ी में स्वस्तिक को सात्या (सातियां) या चौक भी कहते हैं। निमाड़ी संस्कृति के हर लोकचित्र और मांगलिक कार्य में इसका अंकन करके ही कार्य शुभारंभ किया जाता है। स्वस्तिक मांगलिकता का प्रतीक है। निमाड़ में स्वस्तिक का अंकन जिरोती में पीले रंग से, नागचित्रों में काले रंग से, दशहरे के

लोकचित्र में दही खड़ी से, विवाह में हल्दी, रंगोली, आटे, कुमकुम आदि से आवश्यकतानुसार बनाया जाता है। अन्य मांगलिक कार्यों में भी इन्हीं में से किसी सामग्री से बनाते हैं।

निमाड़ में किसी परिवार से एक या अधिक व्यक्ति तीर्थाटन याने एकधाम से लेकर चारधाम की यात्रा पर जाता है, तो उसे घर में आसन पर बैठाकर पहले स्वस्तिक बनाकर उसे बधाकर विदा किया जाता है। तीर्थ यात्री जैसे-जैसे अपनी यात्रा को आगे बढ़ाता है, उसी क्रम उनके घर की बहू-बेटियाँ घर से बाहर जाते रास्ते पर सातिया बनाते जाते हैं और जैसे ही तीर्थवासी अपनी यात्रा से वापसी की सूचना देते हैं, तब स्वस्तिक चिह्न को उसी रास्ते से उनके घर आने तक वापस बनाते हुए घर के भीतर तक लाते हैं।

निमाड़ में मान मनोतिया में उल्टा स्वस्तिक (卍) बनाते हैं, तथा जब मनोती पूर्ण जो जाती है, तब उसी स्वस्तिक को पोतकर या उसके पास दूसरा सीधा स्वस्तिक (卐) बनाकर कार्य का मंगलमय समापन करते हैं।

स्वस्तिक शब्द सु+अस् पदों से बना है। सु याने अच्छा, कल्याणमय, मंगल और अस् याने सत्ता, अस्तित्व। इस प्रकार स्वस्ति का अर्थ कल्याण की सत्ता या मंगल का अस्तित्व और उसका प्रतीक स्वस्तिक बना।

स्वस्तिक की चार भुजाएँ चारों दिशाओं की प्रतीक हैं, जो संदेश देती हैं कि हम चारों दिशाओं में बढ़ें। ये भुजाएँ मानव जीवन का सार है, आधार है। जीवन के चार आश्रम ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास का हम भलीभांति अनुपालन करें।

स्वस्तिक मानव द्वारा निर्मित अति प्राचीन प्रतीक है, जो शांति, समृद्धि व मांगल्य का प्रतीक है। जहाँ यह अंकित होता है, वहाँ सदा सकारात्मक ऊर्जा का वास रहता है। इसलिये तो ब्राह्मण हर मंगल कार्य में स्वस्तिक बनाकर स्वस्ति मंत्र से शुरुआत करते हैं।

निमाड़ की लोकसंस्कृति में स्वस्तिक का गौरवपूर्ण स्थान है। स्वस्तिक की प्रतिष्ठा तो विश्वव्यापी है। चौक बिना निमाड़ में कोई शुभ कार्य का श्रीगणेश नहीं होता है। चौक गणेश का प्रतीक है। निमाड़ में चौक कोई सा भी बने, उसके मूल में स्वस्तिक ही बना होता है। चौक की प्रतिष्ठा और सम्मान निमाड़ी संस्कृति में इतना है कि ऐसा कोई दिन या पर्व-त्योहार नहीं है कि उस दिन चौक का अंकन न होता हो। निमाड़ की बहू-बेटियाँ जब भी अपने घर-आँगन में लिपाई-पुताई करती हैं, तो झाड़ू लगाकर शुभ-शगुन प्रतीक चौक अवश्य मांडती हैं। अपने घर को कोरा नहीं रहने देती। लोक में स्वस्तिक और चौक का वैभवपूर्ण स्थान है। उसके दर्शन मात्र से ही मन प्रफुल्लित व सकारात्मकता के साथ सुखशांति व वैभव का अनुभव करता है। अत: निमाड़ में चौक पवित्रता का भी प्रतीक है।

कलश – निमाड़ में ताम्बे और मिट्टी के कलश की बड़ी महत्ता है। किसी भी मांगलिक पर्व हेतु कलश का होना जरूरी होता है। कलश लोकसंस्कृति का सर्वोच्च तथा सर्वप्रथम सम्मान का प्रतीक है। लोक में बिना कलश स्थापना के कोई भी मांगलिक कार्य नहीं होता है। कलश मांगलिकता का प्रतीक है।

कलश का बड़ा रूप कुंभ या घट होता है। बिना कलश के मंदिर की कल्पना असंभव है। कलश पूर्णता का प्रतीक है। लोक में मंदिर का शिखर कलश, अनुष्ठानों में स्वर्ण-कलश, रजत कलश, ताम्र कलश या मिट्टी कलश इत्यादि आवश्यकतानुसार स्थापित किये जाते हैं। कलश स्थापना हेतु पहले उस स्थान को स्वच्छ कर या रंगोली हल्दी, आटे से सातिया बनाकर उस पर गेहूँ, चावल या जवार की चपटी ढेरी बनाकर उस पर जल से भरे कलश को रखते हैं। उस कलश के मुख पर पाँच तरह के पत्तों आम, गूलर, जामुन, पीपल, वट से सजाकर, फिर नारियल को रखते हैं। कलश पूजन करके कलश व नारियल को नाड़ा बांधकर, नैवेद्य लगाकर प्रणाम करते हैं, जो परिपूर्णता का प्रतीक है, जिससे लोक में, घर में सुख-शांति और समृद्धि बनी रहे। कलश ब्रह्माण्ड का प्रतीक है। उसमें भरा जल पवित्र सात नदियों का प्रतीक है, वरुण देव का प्रतीक है। कलश के नीचे रखा अन्न माँ अन्नपूर्णा का प्रतीक है। कलश के ऊपर रखे पत्ते प्रकृति के प्रतीक हैं। उस पर रखा श्रीफल समृद्धि और शिखरता का प्रतीक है।

नवरात्रि में देवी स्थापना घट-स्थापित करके ही की जाती है। इस घट स्थापना को हम गरबा कहते हैं, जो मातृशक्तियों का प्रतीक है। इसके आसपास नौ दिनों तक निमाड़जन गरबा गीत गाते व गरबा खेलते भी हैं।

निमाड़ में अखातीज पर चार मिट्टी के ढेलों पर कलश को स्थापित करके वर्षा का पूर्वानुमान लगाने की भी परम्परा है। यदि चारों ढेले रातभर में गीले हो जायें, तो चौमासे में अच्छी वर्षा की आशा की जाती है। कलश आशा और विश्वास का प्रतीक है। भविष्यवाणी का प्रतीक है। ओझा या तांत्रिक अपने कार्यों को करते समय जल भरा कलश अवश्य रखते हैं।

हमारे ऋषियों ने कलश के मुख पर विष्णु का वास, कण्ठ में रुद्र का तथा मूल में ब्रह्मा का वास बताया है। कलश की कोख में सातों सागर, सभी द्वीप याने धरती को बताया गया है। कलश के बीच में समस्त मातृकाओं की उपस्थिति बताई है। कलश में गायत्री, सावित्री व हर प्रकार की सुख-शांति समृद्धि को समाहित किया गया है, एवं समस्त तीर्थों का पावन जल भरा है। इतने छोटे से कलश में सभी प्रकार की विराट शक्तियाँ लोक मनीषियों ने भर दी कि सारी संस्कृति जगमगाती नजर आती है। बिन्दु में सिंधु को देखने की आर्य मनोवृत्ति का उत्तम उदाहरण है। कलश दिव्य शक्तियों का प्रतीक है।

करवा चौथ का करवा भी एक प्रकार का कलश है, जिसका व्रत सुहागिनें अपने अखण्ड सौभाग्य के लिए हर वर्ष करती हैं।

कमल - निमाड़ के हर लोकचित्र में कमल का अंकन करके उसे सम्मान देते हैं। निमाड़ के मांडनों-रांगोली में भी कमल के फूल का अंकन सर्वाधिक होता है। यहाँ पर मेहंदी व गोदनों में कमल ने अपनी गौरवपूर्ण उपस्थिति दर्ज कराई है। कि निमाड़ की संस्कृति में फूलों में कमल का अग्रस्थान है।

कमल की उत्पत्ति के संबंध में पौराणिक कथानुसार कहा जाता है कि विष्णु एक बार क्षीरसागर में शेष शैय्या पर विश्राम कर रहे थे, सहसा एक कमल उनकी नाभि से उठा और उस पर ब्रह्मा बैठे थे। तब ब्रह्मा ने उसी कमल पर बैठकर सृष्टि रचना की। कमल सृष्टि का प्रतीक है, कमल पर आसित होने से ब्रह्मा को कमलापति भी कहते हैं। लक्ष्मी को भी कमल से ही उत्पन्न बताया गया है। उनके अंग-प्रत्यंगों की तुलना भी कमल पुष्प से की गई है। जैसे चरण कमल, कर-कमल, मुख-कमल, वदन-कमल, हृदय-कमल, नयन-कमल इत्यादि।

कमल विष्णु का प्रतीक है। विष्णु और लक्ष्मी का पूजन कमल से ही किया जाता है। एक बार विष्णु ने कमल का एक पुष्प घटने पर अपने नेत्र को ही कमल समझकर चढ़ा दिया था। तभी से नेत्र, हृदय, हस्त आदि अंगों को कमल का प्रतीक मान लिया गया। उनके एक हाथ में कमल का पुष्प ही शोभा पा रहा है।

संसार की जिस वस्तु में भी सौंदर्य और पावित्र की झलक मिलती है, उसके स्वरूप की कल्पना हम कमल पुष्प से ही करते हैं, क्योंकि कमल सौंदर्य का प्रतीक है। कमल जल का प्रतीक है और वह प्राणभूत तत्त्व और मंगल का भी सूचक है।

महाभारत में एक कथा है कि विष्णु के सिर पर एक कमल उग आया, जिस पर श्रीलक्ष्मी विराजित थी, तभी से शायद लक्ष्मी कमल पर आसन लगाये हुए हैं, तभी से लक्ष्मी का एक नाम कमला है।

भारतीय संस्कृति और साहित्य में कमल विशिष्ट है। इस बारे में एक बार डॉ. आनंद कुमार स्वामी से पूछा गया कि किसे भारतीय साहित्य और शिल्प से हटा दें तो वे सब अर्थहीन हो जायेंगे? तब उन्होंने कहा कि वह 'कमल' है।

ऋग्वेद में तीन प्रकार के कमलों का उल्लेख मिलता है- श्वेत कमल, रक्त कमल और नील कमल। हमारे प्राचीन ग्रंथों में कहीं-कहीं कृष्ण कमल का भी जिक्र है, जो गहरे जामुनी रंग का होता है।

इनके अलावा पंचदल, षड्दल, अष्टदल, षोडशदल, शतदल, सहस्रदल वाले कमलों का उल्लेख मिलता है तथा कुछ प्रकार के कमलों का चित्रण लोककलाओं में मिलता है। कमल

के हर हिस्से को प्रतीकात्मक माना गया है। कमल की नाल ब्रह्मनाल का प्रतीक है, तो उसके पत्ते हरे-भरे जीवन की खुशहाली के प्रतीक हैं। उसकी पंखुड़ियाँ सौंदर्य व सृष्टि की सुंदरता का प्रतीक हैं। कमल अनासक्ति का आदर्श है। संसार में रहकर भी संसार के दोषों से मुक्त रहने की जीवनदृष्टि देता है। सूर्योदय के साथ खिलना और सूर्यास्त के साथ बंद होना, सूर्य और कमल का अनोखा नाता है। अत: कमल सूर्य का भी प्रतीक है। तभी तो सूर्य को नभ के नील सरावर में बसा हुआ रक्त कमल कहते हैं।

वेदों के अनुसार मानव शरीर में छह चक्र हैं और हरेक चक्र कमल के आकार के हैं तथा कमल दलों की संख्या भी भिन्न है।

भारत में वास्तुकला का विश्व विख्यात उदाहरण आगरा का ताज-महल है। इसके गुम्बदों की जड़ में कमल की पंखुड़ियाँ है और शिखर पर औंधा कमल है। अनेक मंदिरों की सजावट में भी औंधे कमल बने हुए हैं, जिसका अर्थगांभीर्य ये है कि हमारे शरीर में कुंडलिनी जागरण के पूर्व षट्चक्रों के कमल औंधे ही रहते हैं।

भारतीय संस्कृति और निमाड़ी संस्कृति में भी कमल की महत्ता के बारे में सिर्फ यही कहा जा सकता है कि वास्तव में कमल 'सत्यम् शिवम् सुन्दरम्' का बेजोड़ प्रतीक है। कमल के समान सिर्फ कमल है।

दीपक - दीपक लोकसंस्कृति का बड़ा ही सार्थक एवं संदेशवाहक प्रिय प्रतीक है। मिट्टी का दीपक प्रकाश की सबसे छोटी इकाई है, जो अंधकार के सामने विजय के विश्वास के साथ खड़ा होता है। इसी साहस और विश्वास के कारण दीपक को लोकसंस्कृति ने बड़ी महत्ता प्रदान की है। इसकी महत्ता से निमाड़ भी अछूता नहीं है। बिना दीपक के लोक में कोई भी व्रत-त्योहार नहीं मनता, यहाँ तक कि दीपक तो प्रतिदिन की पूजा आरती में जलाया जाता है। दीपक तो आरती का प्राण है।

दीपक प्रकाश का प्रतीक है, अग्नि का प्रतीक है। अग्नि भारतीय मनीषा की जन्म से मृत्यु तक साक्षी रहती है। अग्नि के साथ-साथ सूर्य का उत्तराधिकारी बनकर दीपक आया और अपने छोटे, परंतु सशक्त कंधों पर अंधकार को दूर करने का दायित्व उसने ले लिया। तब से दीपक सूर्य का प्रतीक बना। ज्ञान का प्रतीक बना और माटी का दीपक शरीर का प्रतीक है, तो उसमें तेल स्नेह का और जलती बाती, यानी ज्योति आत्मा का प्रतीक है। इसमें निमाड़ी में किसी की भी मृत्यु होने पर जो काया गीत गाये जाते है, उनमें दीपक को शरीर और ज्योत को आत्मा ही माना गया है। इस विशिष्ट काया लोकगीत की एक झलक ही काफी है-

दीपक बिना अंधियारो मंदिर मऽ,
दीपक बिना अंधियारो....ऽ.......
खुट गया तेल बुझा गई बाती।
कोई नी पूरण हारो।
मंदिर म ऽ दीपक बिना.......ऽ......

अर्थात् - मनुष्य का जीवन भी दीपक की भांति है। जिस प्रकार दीपक के बुझने से अंधेरा हो जाता है, उसी प्रकार शरीर से भी आत्मा के निकल जाने के बाद शरीर निष्प्राण हो जाता है। किसी की मृत्यु पर दीपक अवसाद का प्रतीक बन जाता है। दीपक सुख व दु:ख दोनों में अपनी बराबर भागीदारी निभाता है।

कभी न बुझने वाले दीपक को अखंड दीपक कहते हैं तो शिवालयों या ज्योतिर्लिंगों में जलने वाले अखंड दीप को नंदा दीपक कहते हैं। निमाड़ में ओंकारेश्वर व महेश्वर में नंदा दीपक स्थापित हैं। महेश्वर के राजराजेश्वर मंदिर के ग्यारह नंदा दीपक पूरे भारत में प्रसिद्ध हैं।

निमाड़ में विवाह के अवसर पर विदाई के समय दुल्हन के घर से वर के घर भेजने हेतु दीपक जलाकर देते है, उसे 'लाखन-दीया' कहते हैं, जिसे कुटुम्बीजन ही ले जाते हैं। घर के पुत्र को कुलदीपक कहते हैं। नवरात्रि में गरबों के अंदर जलता दीपक रखते हैं, उसे घट दीपक कहते हैं। किसी भी शुभ कार्य के प्रारंभ में दीपक जलाते हैं, उसे निमाड़ी में 'सगुण-दीया' कहते है। निमाड़ की बहू-बेटियाँ विवाह आदि के सारे कार्यों में शगुण दीये के जलाये बगैर कार्य ही नहीं करती हैं। यही सगुण दीया फेरों के समय 'साक्षी-दीप' बन जाता है। शीतला माता की पूजा ठण्डी पूजन सामग्री से की जाती है, तो दीपक में भी तेल

बाती डालकर बिना जलाये ही माता की आरती करके रखते हैं, जिसे निमाड़ी में 'शेळा-दीया' कहा जाता है। निमाड़ में कुलदेवी के सम्मुख मशालाकार लोहे को 'दीवी' कहते हैं। श्रद्धा से लगाने वाले दीप को श्रद्धा दीप कहते हैं तो सोलह श्राद्धों में पुरखों के लिये श्राद्धदीप लगाना पड़ता है।

किसी की मृत्यु होने पर निमाड़ में दशा कर्म होने तक गाँव के बाहर किसी वृक्ष के ऊपर हंडिया टांगकर उसमें रोजाना शाम को दीपक लगाने जाते हैं, उसे 'भो-दीप' कहते हैं तो दशा-ग्यारवाँ के क्रियाकर्म के पूजन में लगने वाले दीपक को 'यम दीपक' कहते हैं।

तुलसी क्यारे में लगने वाले दीप को 'कृष्ण दीप' कहते हैं तो चौराहे पर लगने वाले दीपक को दिशाधारी दीप कहते हैं। दीपक का महत्त्व लोकसंस्कृति में उतना ही है, जितना जीवन में सूर्य का है। दीपक भारतीय संस्कृति की आत्मा है। दीपक कितने ही प्रतीकों में पूजनीय है। आज भी सांझ के समय निमाड़ में बालक ओटलों पर बैठकर जब आकाश में उड़ते बगुलों को देखते हैं, तो हाथ व अंगुलियों को पंख जैसे हिलाते हुए गीत गाते मिल जायेंगे-

कबल्या-कबल्या तिल द ऽ।
दीया म ऽ तेल द ऽ।।

शंख - पूजाघर और मंदिर में शंख का विशिष्ट महत्त्व है। आज भी निमाड़ में किसी के घर भी सत्यनारायण की कथा होती है, तो कथा का आरंभ शंखनाद के द्वारा ही होता है तथा अध्याय के समापन व शुरुआत में शंखध्वनि करके सबको सूचित करते हैं कि अध्याय का आदि या अंत हो गया है।

निमाड़ में शंखपूजन का प्रचलन घर-घर में है। शंख की उत्पत्ति समुद्र मंथन से हुई। शंख सागरपुत्र का प्रतीक है। शंख लक्ष्मी का अनुज है। विष्णु के एक हाथ में शंख ही शोभायमान हो रहा है, जो आयुध का भी प्रतीक है।

शंख की ध्वनि को शंखनाद कहते हैं। बड़े-बड़े युद्ध बिना शंखनाद के शुरू नहीं होते हैं। शंखनाद युद्धारंभ का प्रतीक है। महाभारत के महायोद्धाओं के पास अपने-अपने शंख थे। शंख जय-पराजय का प्रतीक है। शंख दो प्रकार के होते हैं। दांये हाथ से बजने वाला और बांए हाथ में रखकर बजने वाला। लोकधारणा है कि जिसके पास बांये हाथ का शंख होता है, उसकी सदा जीत होती है, इसलिये शंख विजय का प्रतीक है। प्राचीन समय में किसी राजा का राज्याभिषेक करते समय शंख में ही सप्त नदियों या सागर का पानी भरकर उस राजा का अभिषेक करते थे।

शंख एक प्रकार की खोल है, जिसमें शंख कीड़ा रहता है। शंखचूड़ दानव भी शंख में ही छुपकर रहता था।

निमाड़ में ढपोलशंख की कथा से सब परिचित हैं तथा शंख की एक रोचक पहेली निमाड़ में कही-सुनी जाती है, जो बहुत साहित्यिकता लिये हुए है-

फटा पेट दरिद्र नाम, उत्तम घर में वाको ढाम।
श्री अनुज विष्णु को सहारो, पंडित हो तो नाम विचारो।।

शंख आकर्षण का प्रतीक है। शंखाकृति का उपयोग शिल्पकला, वास्तुकला, अलंकार, सौंदर्य आदि के लिये किया जाता है।

कौड़ी - भारतीय संस्कृति के साथ निमाड़ में भी कौड़ी एक मूल्यवान प्रतीक के रूप में प्रतिष्ठित है। कौड़ियाँ भी सागर में उत्पन्न होती है। इसलिये वे सागर पुत्री का प्रतीक हैं। लक्ष्मी भी सागर पुत्री ही है, अत: कौड़ी धन का भी प्रतीक है। कौड़ी मुद्रा की जननी है। प्राचीनकाल में विश्व में सारा लेनदेन का माध्यम कौड़ी ही होती थी। आज भी दीपावली पर लक्ष्मी पूजन में कौड़ी की अनिवार्यता रहती है। जानकार व्यक्ति वर्तमान में भी दीपावली पर कौड़ी का टोटका करके उसे अपने गले या पर्स में रखते हैं, जिससे वह वर्ष शुभ रहे। अत: कौड़ी शुभ का प्रतीक है।

कौड़ी के सौन्दर्य के कारण स्त्रियाँ उसे शरीर के श्रृंगार में बहुतायत से उपयोग करती हैं। कौड़ी बच्चों के खेलने से लेकर बड़ों के चौसर, जुए तक उपस्थित रहती हैं। नरवत आदि मिट्टी-गोबर की मानव आकृतियों में कौड़ियों की ही आँखें लगाई जाती हैं। कौड़ियाँ आँखों का प्रतीक हैं।

लोक में किसी की मृत्यु होने पर उसकी शवयात्रा में शव के ऊपर से फूल, पैसे, सिंघाड़े, गुलाल के साथ कौड़ी का होना जरूरी है, जो मुक्ति की प्रतीक है। आयुर्वेद में कौड़ी भस्म का उपयोग कई बीमारियों के निदान में किया जाता है। निमाड़ी में कौड़ी की वर्तमान दशा के संबंध में एक कहावत प्रचलित है। जो निम्न है-

कौड़ी को काम नी,
नऽ धेला की फुरसत नी।

तुलसी - निमाड़ में तुलसी का चित्रांकन बहुतायत से होता है। तुलसी के पौधे को निमाड़ी में तुलसी क्यारा कहते हैं। हर घर में तुलसी क्यारा मिलेगा। वर्तमान मे तुलसी क्यारे के स्थान पर तुलसी के पौधे को मिट्टी या धातु के कुण्डे में लगाते और घर के दरवाजे के सामने टांग देते हैं। तुलसी को सर्वाधिक पवित्र माना जाता है। तुलसी पवित्रता का प्रतीक है। तुलसी के पंचांगों को पवित्रता का प्रतीक मानते हैं।

निमाड़ में प्राचीनकाल से वर्तमान तक जब सूर्य ग्रहण या चन्द्र ग्रहण लगता है, तब निमाड़जन आज भी अपने घर की खाद्य सामग्रियों को ग्रहण दोष से रक्षा हेतु तुलसी के पत्तों का उपयोग करते हैं। जल, रोटी, सब्जी, आटा, इत्यादि के बर्तनों में ग्रहण के समय के पूर्व तुलसी के एक-एक पत्ते को डाल देते हैं, जिससे खाद्य व पेय सामग्री में ग्रहण दोष न हो। इसलिये तुलसी दिव्य रक्षा का प्रतीक है।

निमाड़ीजन शाम को तुलसी के पौधे के सामने दीपक भी लगाते हैं, जिसे कृष्ण दीपक कहते हैं। तुलसी एक दैवीय पौधे के साथ-साथ एक अनमोल औषधीय पौधा भी है। तुलसी स्वास्थ्य का प्रतीक है। जिस घर में तुलसी का पौधा होता है, वहाँ का वातावरण पवित्र और सकारात्मक ऊर्जा से ओतप्रोत होता है।

तुलसी को सभी देवी-देवताओं की पूजा में प्रथम पद प्राप्त है। उसके बिना कोई भी पूजा-अनुष्ठान पूरा नहीं होता है। किसी भी देवता को भोग लगाने में तुलसी का होना जरूरी है, अन्यथा देव भोग को स्वीकार नहीं कर सकते हैं। विष्णु को तुलसी दल चढ़ाकर ही पूजन की पूर्णता होती है। निमाड़ी में तुलसी को 'तुलसा महाराणी' कहते हैं।

तुलसी के जन्म के संबंध में एक पौराणिक कथा है कि जालन्धर नामक दैत्य ने वृन्दा से विवाह किया। वृन्दा एक महासती नारी थी। उसके सतीत्व के कारण जालन्धर की कभी हार नहीं होती थी। सबसे जीतने के अहंकार में उसने महादेव से भी युद्ध शुरू कर दिया। तब विष्णु ने जालन्धर का रूप धारण करके वृन्दा का सतीत्व नष्ट किया। तब अत्याचारी जालन्धर का अंत हुआ। जब वृन्दा को यह पता चला तो उसने विष्णु को पत्थर होने का शाप दिया। बाद में वही वृन्दा तुलसी वृन्द के रूप में प्रकटी और विष्णु से आशीर्वचन के अनुसार विष्णु का वास तुलसी में ही रहता है। बिना तुलसी के विष्णु पूजा नहीं होती है। तब से तुलसी विष्णु प्रेम का प्रतीक बन गई हैं।

निमाड़ में लोकमान्यता है कि जिस घर में तुलसी का पौधा रहता है, वहाँ पितृदोष नहीं होता है। जिस घर में तुलसी पौधा लगाते ही सूख जाता है, वहाँ पितृदोष होता है। लोक और पौराणिकी में यह भी प्रचलित है कि जिस घर या आँगन में तुलसी का पौधा रहता है, उस घर में किसी की मृत्यु होते समय दस यमराज ही उसके प्राण शांति से ले जाते हैं तथा जिस घर में तुलसी नहीं होती, वहाँ पर चौदह यम प्राणी को बहुत कष्ट देते हुए ले जाते हैं। निमाड़ में किसी की मृत्यु के समय गंगाजल के साथ तुलसीपत्र भी मुख में डालते हैं, जिससे उस व्यक्ति को मोक्ष प्राप्त हो सके। अत: तुलसी मोक्ष का प्रतीक है।

निमाड़ की बालिकाएँ देवशयनी एकादशी से देवउठनी एकादशी तक के चौमासे में तुलसी की रोजाना पूजा-अर्चना करके एक सौ आठ बार परिक्रमा देती हैं, जिसे फेरा देना कहते हैं। कुछ महिलाएँ अपने घर की सुख-समृद्धि के लिए चार महीनों में विष्णु को सवा लाख तुलसी पत्र चढ़ाकर विशेष पूजन करती हैं। कुछ घरों में तुलसी व ठाकुर जी का विवाह भी देवउठनी एकादशी को ब्राह्मण से करवाती हैं। तुलसी को दुल्हन व सालिग्राम को दूल्हा बनाकर शृंगारित करते हैं। सम्पूर्ण परिवेश विवाहमय हो जाता है। दोनों के लगन लगाये जाते हैं। दहेज

स्वरूप दान दक्षिणा दी जाती है। यह व्रत जो भी महिला करती है, उसे पाँच या सात वर्ष लगातार करना होता है।

किसी की मृत्यु होने पर दाह-संस्कार में अन्य लकड़ी के साथ सूखी तुलसी भी रखी जाती है, जो मोक्षमार्ग का प्रतीक है।

तुलसी के प्रति हर हिन्दू के मन में आस्था व सम्मान है। कई व्यक्ति अपने गले में तुलसी माला भी पहनते हैं, जिससे भौतिक व अध्यात्मिक लाभ होता है। नामकरण में बालिका या बालक दोनों के नाम तुलसी रखे जाते हैं।

नारियल - निमाड़ में मांगलिक कार्य में नारियल की उपस्थिति होती है। नारियल को श्रीफल भी कहते हैं, क्योंकि नारियल से विशिष्ट कोई फल नहीं है। नारियल श्रीफल का प्रतीक है। नारियल की उपयोगिता मांगलिक कार्यों में तो जरूरी होती है, लेकिन दु:ख भरे कार्यों में भी नारियल का प्रयोग होता है।

नारियल शुभ का प्रतीक है। जब किसी की मृत्यु होती है तो उसकी अर्थी के चारों कोनों पर चार नारियल की वाहकियाँ नाड़े से बाँधकर लटकाई जाती हैं, जिन्हें गाँव के बाहर अर्थी जाने के बाद तोड़कर आजू-बाजू फेंक देते हैं। साधु व्यक्तित्व की अर्थी की वाटकियाँ शवयात्रा में जाने वाले उठा लेते हैं और मिलकर बाँटकर खा जाते हैं। मरणोपरांत उत्तरकार्य में भी नारियल का उपयोग होता है।

नारियल में शिव के गुण समाहित हैं। जैसे शिव की जटाये है, वैसे नारियल भी जटाधारी है। शिव त्रिनेत्रधारी है तो नारियल भी त्रिनेत्रवाला है। शिव के शीश पर गंगा है तो नारियल के भीतर भी गंगा समान निर्मल जल है। याने नारियल शिव का प्रतीक है। इसलिये तो शिव के आगे पूरा नारियल चढ़ाया जाता है। अन्य देवी-देवताओं के सामने नारियल बाँधकर या उठाकर तोड़ते हैं व पानी चढ़ाकर नारियल का टुकड़ा चढ़ाते हैं, बाकि बाँध देते हैं। किसी भी मंदिर में नारियल को पुरुष वर्ग ही तोड़ता है, महिलाओं के लिये वर्जित है। क्योंकि नारियल तोड़ना एक प्रकार की बलि देना ही है।

नरबलि व पशुबलि देने वाले आदिमानवों को हमारे ऋषियों ने समझाते हुए विश्वामित्र द्वारा निर्मित प्रति सृष्टि के नर याने नारियल की बलि देने का प्रावधान रखा, क्योंकि नारियल की भी सिर, चोटी, आँखें, नाक आदि होते हैं। अत: नारियल बलि का भी प्रतीक है। नारियल नर का प्रतीक भी है, इसलिये स्त्रियों के लिये लोक में देवी-देवों के सामने नारियल तोड़ना याने नारियल की बलि देना वर्जित है। तभी से नारियल ने हिंसा से अहिंसा की ओर मानव को अपना बलिदान देकर अग्रसर किया।

नारियल याने कुरूपता व सुंदरता का समन्वय। नारियल याने कठोरता व नम्रता का समन्वय। नारियल समन्वयता का भी प्रतीक है। इसलिये नारियल श्री और मांगल्य का प्रतीक है।

नारियल की महत्ता हिन्दू संस्कृति में तो व्यापक है ही, नारियल का उपयोग मुस्लिम परिवारों की शादियों के साथ उनके अन्य रिवाजों में भी होता है। उनके मोहर्रम पर बनने वाले ताजियों को नारियलों की व उसके गोटों या वाटकियों को नाड़ों में पिरोकर मालाएँ पहनाई जाती हैं। इस छोटे से नारियल ने अपनी उपस्थिति हर वर्ग के कार्यों में पूरे सम्मान के साथ अंकित कराई है।

अब तो समारोहों में भी किसी व्यक्ति का सम्मान करना हो, तो अन्य वस्तुओं के साथ नारियल का देना जरूरी है, क्योंकि नारियल सम्मान का प्रतीक है। निमाड़ में नारियल के ऊपर दो पहेलियाँ विशेष ख्यात हैं -

कटोरा म ऽ कटोरो, बेटो बाप सी बी गोरो।

× × × ×

जटा छे पण जोगी नी, दूध छे पण मलई नी।
झाड़ पऽ रय पण पंछी नी, तीन डोळ्या पण शंकर नी ।।

आम - संपूर्ण भारतीय संस्कृति में आम का महत्त्वपूर्ण स्थान है। आम के पत्तों के बिना कोई शुभ कार्य होता ही नहीं है। आम्रपल्लव शुभता के प्रतीक हैं। शुचिता के प्रतीक हैं। हरीतिमा के प्रतीक है।

निमाड़ में कहीं भी किसी के भी घर विवाह हो, यज्ञ हो, सत्यनारायण कथा इत्यादि होने के पूर्व ही घर के बड़े-बूढ़े सबसे पहले आम के पत्ते ही बुलवाते हैं तथा सर्वप्रथम घर के मुख्य द्वार पर शुभ कार्य का आरंभ होने के कुछ समय पूर्व ही नाड़ा बाँधकर उसमें आम के पत्ते लगवाकर उसका तोरण बनवाते हैं। आम के पत्तों को ही तोरण मंडप में, यज्ञ में, किसी देवी-देव की झांकी

बनाने में उपयोग करते हैं। फूलमालाओं में भी बीच-बीच में आम्रपल्लव पिरोने से माला का सौंदर्य बढ़ जाता है। आम्रपल्लव की झीनी महक वातावरण को पावन कर देती है। तोरण स्वागत के लिए होता है। अत: आम सत्कार के प्रतीक हैं। आम के पत्ते सूखने पर भी अपना रंग नहीं खोते। अत: वे सौंदर्य के भी प्रतीक हैं।

कलश या घट स्थापना में भी आम के पत्ते रखे जाते हैं। गंगा पूजन में जो पाँच वृक्षों के पत्ते मटकियों में रखते हैं, उसमें सबसे पहले आम के पत्ते को ही रखते हैं। निमाड़ में नववधू जब विदाई के बाद रवाना होती है, तब मंडप में लगे आम के पत्तों की तोरणी वधू के मंडप में लगी होती है। उसे वर को एक हाथ से छोड़ना होता है तथा बाद में वर के घर नव दंपति आते हैं, तब आम्र पत्तों की तोरणी को नववधू दोनों हाथों से छोड़कर मंडप में प्रवेश करते हुए घर में इसी कामना से प्रवेश करते हैं कि नवदम्पतियों का जीवन आम की भाँति मिठास भरा, हरा-भरा व खुशमय व्यतीत हो। इसलिये आम आनंद, मंगल और खुशियों का प्रतीक है।

आम फलों का राजा है तथा आम का रस तो अमृत का प्रतीक है। ऋतुओं का राजा ऋतुराज बसंत है। तभी आम वृक्षों पर मौर आते हैं। तभी बसंत पंचमी पर ज्ञान की देवी माँ सरस्वती का महापूजन होता है, जिसमें आम के पत्ते (जिसमें मौर भी लगे हों) से पूजन होता है। मौर याने मंजरी। आम्रमंजरी बसंतबहार के शुभागमन का प्रतीक है, मौर शारदा पूजन का प्रतीक है। आम के मौर मन का प्रतीक है। आम पर मौर आते ही कोयल की कूक चालू हो जाती है, वह अपने मन के गीत कुहूक-कुहूक कर आम वृक्षों पर चार महीने तक गाती है। आम के मौर मधुमास के स्वागत का प्रतीक है। हवन की समिधा में जिन नौ प्रकार की लकड़ियों का उपयोग करते हैं, उनमें आम की काष्ठ प्रमुखता से होती है। किसी भी पूजन में छिड़काव हेतु भी आम के पत्तों से ही स्थान का शुद्धीकरण व देवपूजन भी किया जाता है। निमाड़ी पहलियों में आम की तीन चार पहेलियाँ विशेष हैं, जो निम्न है-

नीळई गोटी हिन्दल बठ।
लऽ रे सगा थारी बेटी।। उत्तर - आम
× × × ×

जवनी मऽ झूलो झूलऽ।
बुढ़ापा मऽ बजार जाय।। उत्तर - आम
× × × ×

आसमान मऽ काट्यो बकरो,
जमीन मऽ हेड़ी खाल
जा जा रे लाल! थारा कलिजा मऽ बाल।। उत्तर - आमफल

आँवला - निमाड़ में जब देवउठनी एकादशी को देवाड्डे को जगाया जाता है तो उसमें आँवले को अवश्य रखना पड़ता है। निमाड़ में देवउठनी एकादशी को ग्यारस खोपड़ी के रूप में मनाते हैं, जिसमें ज्वार व गन्ने के पौधों की त्रिभुजाकार झोपड़ी (निमाड़ी में जिसे खोपड़ी कहते) बनाते हैं। उसके भीतर लीपकर स्वस्तिक आदि मांडना बनाकर, देवों को पाट लगाकर बैठाते तथा पूजन करने में आँवला को विशेष रूप से चढ़ाया जाता है। निमाड़जन देवों को भी अपने घरेलू साधनों से ही जगाता है। जब पूजन पूरा हो जाता, तब झोपड़ी के आसपास बैलों की घंटी बजाते हुए व कलश से जल धारा गिराते हुए, पाँच या सात प्रदक्षिणा करते, निमाड़ी लोकगीत गाते जाते हैं, जो सिर्फ दो पंक्तियों का है -

आँवळा- सवळा बेर भाजी।
उठो देव घंटाळ वाजी।।

इस तरह गाते हुये देवों को उठाते है। अत: आँवला जागृति का प्रतीक है। जिस प्रकार आँवले की सुगंध से आप जागे, देव आँवले की शीतलता की भाँति हमारा जीवन भी शीतलता से भरा हो। आँवला शीतलता का भी प्रतीक है। आयुर्वेद में आँवले को अमृत फल कहा गया है, जो औषधीय गुणों से भरपूर है। आयुर्वेद में शारीरिक स्वास्थ्य को सुदृढ़ बनाने के लिये जो त्रिफला चूर्ण बनाते हैं, उनमें तीन फलों में एक मुख्य फल आँवला ही होता है। इससे पाचन, रक्त शुद्धि व शरीर की क्षारीयता बढ़ती हैं, उसमें स्वास्थ्यवर्धक गुणों के कारण ही उसे देवों को जगाने के लिये पूजन में रखते हैं, ताकि आँवला को कोई भूले नहीं। गोल आकार होने कारण वह सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी का प्रतीक है। लोक में आँवले संबंधी आँवला नवमी का व्रत भी है, जिसे स्त्रियाँ कार्तिक मास की आँवला नवमी को करती है। इसमें आँवला वृक्ष की पूजा के साथ उसकी वार्ता भी सुनती है। आँवले के वृक्ष तले ही भजन और भोजन भी करती हैं। कहते हैं कि आँवला में विष्णु का वास होता है। अत: आँवला विष्णु का प्रतीक है।

दूर्वा - दूर्वा या दूब को निमाड़ी में दूरूप या धुवाही कहते हैं। दूब याने हरी-घास जो प्राणी मात्र के लिय प्रकृति का बहुमूल्य उपहार है। इस हरी-भरी मखमली घास के प्राकृतिक सौंदर्य को देखकर जहाँ मन दिव्यता से आनंदित हो जाता है, वहीं इस पर नंगे पांव चलने से नेत्र ज्योति बढ़ती है व शरीर के अनेक विकार शांत होते हैं। इसलिये दूब आनंद का प्रतीक है, प्राकृतिक सुंदरता का प्रतीक है। दूब वर्ष भर खूब फलती फूलती है। अपने आप ही फैलती है, याने यह दूब राम घास का प्रतीक है। अमरता की प्रतीक है। दूब प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट के साथ मधुर, रुचिकारक, कसैली, कड़वी व शीतल गुण वाली होती है। आयुर्वेद के अनुसार दूब का प्रयोग कई रोगों के उपचार में होता है। निमाड़ में दूब सभी घासों में पवित्र मानी है। यह गर्मी के दिनों में भी हरी रहती है। दूब गणेश को खूब पसंद है। गणपति पूजन बिना दूर्वा के असंभव है। लोक में जनश्रुति है कि जो कोई इक्कीस बुधवार गणपति का पूजन करके इक्कीस या इससे अधिक दूब चढ़ाता है, उसकी मनोकामना पूरी होती है।

दूर्वा के संबंध में निमाड़ में एक लोककथन है कि जब त्रेतायुग में माता सीता अपनी पवित्रता का प्रमाण देने के लिये धरती में समाने लगी, तब प्रभु राम माता सीता को रोकने हेतु पकड़ने दौड़े, तो माता सीता धरती में समा चुकी थी, केवल उनके कुछ केश राम के हाथों में पकड़े रह गये थे। कहते हैं वही केश उस समय दूर्वा रूप में रूपायित हो गये थे। तब से निमाड़ में दूर्वा को सीता माता के बाल भी कहते हैं। इसी पवित्रीकरण के प्रमाण स्वरूप दूर्वा पवित्रता का प्रतीक बनी रही और सदा-सदा के लिये लोक में अमर हो गई।

धरती पर दूर्वा के फैलने की कोई सीमा ही नहीं है, अत: अनंतता की प्रतीक है। करवाचौथ के चन्द्रपूजन व गणपति पूजन में दूब अवश्य चढ़ाई जाती है। तब यही दूब स्त्रियों के अखंड सौभाग्य का प्रतीक बन आशीर्वाद देती है।

कुश - निमाड़ में कुश घास बहुत पवित्र मानी जाती है। कुश की उपयोगिता धार्मिक कार्यों में सर्वाधिक होती है। कुश पूजा-पाठ, यज्ञ-हवन, विवाह, अंतिम संस्कार श्राद्ध-तर्पण आदि क्रिया-कलापों में उपयोग की जाती है। पितरों के श्राद्ध तर्पण तथा किसी के मरणोपरांत कर्म में भी कुश के आसन, कुश की अंगूठी व कुश के तिनकों से ही तर्पण होता है। इसलिये कुश मोक्ष का प्रतीक है। ग्रहण काल में पवित्रता के लिए तुलसी न होने पर कुश का ही उपयोग किया जाता है।

बिल्व पत्र - शिवपूजन बेलपत्र से ही होता है। शिव अर्थात् कल्याण- इसलिये बेलपत्र कल्याण के प्रतीक हैं।

निमाड़ में महिलाएँ सोलह सोमवार और चौथ व्रत करती है तो उसमें हर सोमवार याने सोलह सोमवारों तक शिवजी का पूजन-अर्चन विशेष रूप से बेलपत्रों से ही करती हैं। कुछ महिलाएँ तो सिर्फ एक बेल को ही निगलकर दिन भर उपवास करती हैं। देवशयन के चौमासे में कुछ स्त्रियाँ सवा लाख बेलपत्र भी शिव को चढ़ाती हैं और अपनी मनोकामनाएँ पूरी करती हैं।

बेलपत्र तीन पत्तों के समुच्चय में लगते हैं। चार या पाँच के समुच्चयों वाले भी मिल जाते हैं, जिन्हें व्यक्ति अपने लिए कल्याण का कारण व शिव का आशीर्वाद समझकर फोटो फ्रेम में लगाकर नित्य पूजा व दर्शन करके कार्यारंभ करते हैं।

पुराणो में तीन की संख्या महत्त्वपूर्ण मानी गई है। लोक में तीन देव विशिष्ट हैं- ब्रह्मा, विष्णु व महेश। बेल तीन कालों भूत, वर्तमान व भविष्य काल का प्रतीक है। बेल तीन गुणों का प्रतीक है- सत, रज व तम। श्रीफल भी त्रिनेत्रधारी है, अत: बेल श्रीफल का भी प्रतीक है। जो कोई शिव को श्रीफल की जगह सिर्फ बेलपत्र ही श्रद्धा से चढ़ाता है, उसे श्रीफल चढ़ाने का पुण्य भी मिल जाता है।

बाँस -बाँस एक पूजनीय और बहुपयोगी वृक्ष है। विवाह संस्कार में निमाड़ में जंगल से पूजा करके ताजे बाँस बुलवाते हैं तथा मंडप बनने के पूर्व मंडप बनाने वाले बाँसों को घर के जमाई राजाओं को रखने को देते हैं, तब घर की सुहागिन बहन-बुआएँ उनका विधि-विधान से हल्दी के हाथे लगाकर पूजन करती और वस्त्र स्वरूप सभी बाँसों को नाड़ा बांधती हैं। सब जामाता मिलकर वर या वधू का मंडप तैयार करते हैं, जिसमें बाद में पुरखों को विवाह में आने हेतु न्यौता जाता हैं, जिसे 'पित्तर निवता' कहते हैं। निमाड़ में विदाई के समय भी बाँस का टोकरा या

टोकरी व सुपड़ा भी दहेज स्वरूप दिया जाता है। इसलिये बाँस पुरखों का प्रतीक है तथा वंशवृद्धि का भी प्रतीक है।

निमाड़ का किसान आज भी बाँस की पिराणी से ही दिन में समय को नापता है कि सूर्य कितने पिराणी चढ़ आया है। कितने पिराणी सूर्यास्त में शेष है। इसलिये निमाड़ीजनों के लिए बाँस समय का तथा काल का प्रतीक है। बाँस कई जातियों का गोत्र चिह्न है। निमाड़ में सुविज्ञों का कहना है कि बाँस नहीं जलाना चाहिए। बाँस जलाना ब्रह्म हत्या है। इसलिए बाँस अमरता का प्रतीक है।

भगवान श्री कृष्ण ने बाँसुरी द्वारा कई महत्त्वपूर्ण कार्य कर द्वापर युग में बाँस की शक्ति सिद्ध कर दी थी। वे बाँसुरी की तान से गोपियाँ क्या पशु-पक्षियों, ग्वाल बालों तक को मोहित कर देते थे। अतः बाँस, शक्ति का प्रतीक है। बाँस की बाँसुरी रखने के कारण ही कृष्ण का एक नाम बंशीधर पड़ा था। श्रीकृष्ण ने अपने समय से ही बाँस और बाँसुरी को सम्मानित व प्रतिष्ठित कर दिया था, तब बाँसुरी प्रेम की प्रतीक बन गई।

निमाड़ में गणगौर माता के रथ में बाँस की खपच्चियों का उपयोग होता तथा गणगौर माता के जवारे भी पवित्र बाँस की टोकनियों में ही बोये जाते है। बाँस में अग्नि देव व वायु देव का वास है।

किसी के मरणोपरांत उसे श्मशान ले जाने हेतु जो सीढ़ी बनाते है, वह भी बाँस की ही बनाई जाती है।

निमाड़ में बाँस की कई उपयोगी वस्तुएँ व खिलौने भी बनते हैं। आदिवासियों का आयुध तीर-कमान भी बाँस का होता है। बाँस आदिवासियों की पहचान का प्रतीक है।

पान - निमाड़ में पान की महत्ता अद्वितीय है। कोई भी पूजा-अनुष्ठान पान के बिना नहीं होता है। पान पर ही अक्षत डालकर गणपति को स्थापित किया जाता है। गणपति की मूर्ति न होने पर पान पर यदि पैसे सुपारी को रख दें तो वह भी गणेश स्थापना हो जाती है। समूचे निमाड़ में विवाह में वर-वधू को मण्डप में हल्दी लगाकर स्नान के पूर्व दो पान के पत्तों से ही तेल चढ़ाने की रस्म पाँच सुहागिनें करती हैं। विवाह की आरती में शुरू से आखिर तक पान रखा होता है, जिस पर गणेशजी विराजते व सारे कार्य निर्विघ्न पूरे करते हैं। इसलिए पान शुभ और मांगल्यता के प्रतीक हैं। वर-वधू के लग्न-फेरों में पान की उपस्थिति अवश्य होती है। अग्नि के सात मंगल के फेरे लेते समय दुल्हन का भाई वर-वधू के मिले हाथों की अंजुली में हर फेरे के पूर्व पान पर साल रखकर देता है, तब ब्राह्मण इसी पान-साल की मंत्र से अग्नि में आहुति डलवाता जाता है। वर-वधू को मंडप में पड़छने की रस्म में भी पान का नैवेद्य दिया जाता है। याने विवाह की हर रस्म में पान का उपयोग होता है। अतः पान पावनता के साथ प्रेम का भी प्रतीक है। विवाह आदि समारोहों में सबको पान खिलाकर ही स्वागत-सत्कार किया जाता है। इसलिए पान सम्मान का प्रतीक है।

तीज-त्यौहारों के अलावा मेहमानों, मित्रों आदि को पान खिलाने से ही सत्कार हो जाता है। पान तो मुख-विलास का साधन है। पान में कत्था, चूना, लोंग, इलायची, सुपारी आदि सामग्रियों के साथ खाने-खिलाने की परम्परा है। कई व्यक्तियों को रोजाना सुबह शाम पान खाने का शौक होता है। पान मुख रंजन का प्रतीक है।

पान का बीड़ा उठाना या खाना किसी शर्त को पूरी करने का संकल्प लेना है। पान में ही कई प्रकार की दवाएँ दी जाती हैं। पान कई बीमारियों के उपचार में काम में आता है।

पान को नागरबेल व ताम्बूल भी कहते हैं। पान के बीज नहीं होते हैं। बेल की ही कलम रोपनी होती है। पान की बाड़ी को टांडा कहते है। पान के गुणों के संबंध में धन्वन्तरि, निघंटु ने ऐसे तेरह दुर्लभ गुण बताए हैं, जो स्वर्ग में भी दुर्लभ हैं। धन्वन्तरि के अनुसार पान चरपरा, कहु, उष्ण, तिक्त, मधुर, क्षारीय, कसैला, कृमिनाशक, दुर्गन्ध नाशक, कफनाशक, पित्त नाशक, मुख शोधक तथा कामाग्नि वर्धक आदि है।

पान के पत्ते का आकार हमारे हृदय के आकार से मिलता जुलता है। इसलिए पान की तुलना हृदय या दिल से की जाती है। पान की सुंदरता के कारण इसका उपयोग निमाड़ के अलावा भारत की अन्य लोक चित्रांकनों की शैलियों में भी होता है।

मेहंदी-माण्डनों व आभूषणों की डिजाइनो के साथ वास्तुशास्त्रियों ने भी खून पान की आकृति का उपयोग किया है पान की सौंदर्यपरक आकृति को विश्व ने सहर्ष स्वीकारा है। अत: पान-सौन्दर्य का प्रतीक है।

वट - वट वृक्ष को बड़ या बरगद भी कहते हैं। निमाड़ी में 'वोड़' कहते हैं। मार्कण्डेय ऋषि ने प्रलयकाल में भगवान कृष्ण का बालरूप का दर्शन वट वृक्ष के पत्ते पर ही किया था और कहते हैं यह वृक्ष प्रलय में भी सुरक्षित रहता है। तभी से वट पवित्रता और अमरता का प्रतीक बन गया।

निमाड़ के कुछ गोत्रों में शिशु जन्म के बाद छटी पूजन में शिशु को वट की पराय (जटा) की पूजा करके उसके गले में ताबीज जैसा बांधते है, जिससे शिशु को बुरी नजर न लगे। निमाड़ के विवाह आदि समारोहों के लिए पत्तलें इसी वट के पत्तों की बनाते हैं, जो वर्ष भर भी खराब नहीं होती। मृतक कर्म में यम-देवों व पितृ देवों को भोग इसके पत्तों पर ही देना होता है। दशा कर्म, श्राद्ध तर्पण में वट के पत्तों का बहुत उपयोग होता है।

वट का दूध औषधीय गुणों से भरपूर है। इसके पत्तों व जटाओं के साथ इसकी जड़, फल व तना में भी औषधीय गुण है। यह वट ऋषि तुल्य है, क्योंकि ऋषि की भांति वृक्ष परोपकारी औषधीय गुणों से भरा है।

वट काल द्रष्टा, योगी व मुनि का प्रतीक है, क्योंकि पीढ़ियाँ गुजर जाती है, परिस्थितियाँ बनती-बिगड़ती है, परंतु वट शताब्दियों के वैभव-पराभव का साक्षी, आंधी-तूफान में भी दिनों-दिन उत्कर्ष को प्राप्त होता हुआ अचल खड़ा रहता है, जिसकी छाया में उस युग का इतिहास समाया होता है।

पीपल - निमाड़ में सभी वृक्षों में पीपल सर्वाधिक पूजनीय व पवित्र माना है। निमाड़ में अधिकतम देवी-देवताओं की स्थापनाएँ और थानके पीपल के नीचे ही हैं। अत: पीपल आस्था का प्रतीक है। जिस देवी-देवता की स्थापना पीपल के नीचे है, उस देवी-देवता के पूजन के साथ हर व्यक्ति पीपल को भी जल चढ़ाकर पूजन करता है।

कहते हैं मृतात्मा दशा कर्म-काण्ड होने तक पीपल-वृक्ष में ही निवास करती है। इसलिए निमाड़ में अंतिम संस्कार में दाह-संस्कार होने के बाद गाँव के बाहर आत्मा के शयन हेतु भी सांझ के समय पीपल वृक्ष पर एक मटकी टांगकर उसमें नौ दिनों तक दीप लगाना पड़ता है। दशा-ग्यारवां कर्म क्रिया के बाद में बारहवें दिन कुटुम्बीजनों के साथ जाकर उसी पीपल पर वंशदीप लगाकर उस आत्मा को मोक्षमार्ग पर जाने हेतु विदा करना होता है। अत: पीपल मोक्षमार्ग की प्रथम सीढ़ी है, मोक्ष का प्रतीक है-

मूलतो ब्रह्मरूपाय, मध्यतो विष्णुरुपिणे।
अग्रत: शिवरूपाय, अश्वत्थाय नमो नम:।।

पीपल को संस्कृत में अश्वत्थ कहते हैं। भगवान कृष्ण ने भी गीता में कहा- 'अश्वत्थ: सर्ववृक्षाणाम्' याने सभी वृक्षों में पीपल हूँ। इसलिये पीपल कृष्ण का प्रतीक है। कृष्ण प्रेमावतार हैं, तो पीपल प्रेम का भी प्रतीक है।

निमाड़ के लोकसाहित्य और लोक चित्रों में पीपल और उसके पत्तों का अंकन मिलता है। होलिका दहन हेतु निमाड़ी बालिकाएँ गोबर के होयड़ियों में पीपल-पान अवश्य बनाती हैं। कलश स्थापना में पंचवृक्षों के पत्तों में एक पीपल पत्र होता है। त्रिवेणी के तीन वृक्षों में एक वृक्ष पीपल ही रहता है। इस त्रिवेणी की विशेष पूजा अधिक मास में होती है।

निमाड़ के झाड़फूँक करने वाले ओझा पीपल की डाली से ही झाड़फूक करके नजर उतारते व पीड़ित व्यक्ति को राहत पहुँचाते हैं। पीपल के आयुर्वेदिक गुणों में शरीर की रंगत निखारना और रक्त शोधन करना प्रमुख है।

भारतीय संस्कृति में पीपल का वृक्ष केवल वृक्ष नहीं है, यह तो पूरा शिवाला है। सदाशिव ने तो एक बार हलाहल पिया था और सबकी रक्षा की थी। पर यह पीपल तो अवधूतपंथ के जोगी

सा रोजाना विष का प्याला पीता है और बदले में अमृत देता है, याने हर रोज वातावरण में से विषैली कार्बनडाईआक्साइड गैस को सोखता है तथा उसे परिवर्तित करके हमें शुद्ध प्राणवायु (आक्सीजन) देता है। इसकी छाया भी बहुत शीतल होती है। अतः पीपल साक्षात् शिव का प्रतीक है। उसके पत्ते-पत्ते में देवों का वास है।

अश्व – निमाड़ी लोक साहित्य और संस्कृति में अश्व ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। अश्व पर निमाड़ी में लोक गाथाएँ, विवाह, गणगौर, अन्य लोक गीत, लोक कथाएँ, कहावतें, पहेलियाँ आदि प्रचुर मात्रा में है।

निमाड़ के लोकचित्रों और शिल्पों में भी अश्व ने महती भूमिका निभाई है। अपने गुणों व शक्ति के कारण लोक में पूरे ठाठ से उपस्थिति दर्ज कराई है, जिनमें दशहरे का लोकचित्र तो अश्व के बिना बनाया नहीं जा सकता है। इसके अलावा जिरोती व सांझी परम्परा में भी अश्व की आकृति बनाई जाती है।

विश्व में गति और शक्ति के कारण ही अश्वशक्ति व ऊर्जा का मानक बना, जिसके फलस्वरूप शक्ति और ऊर्जा को 'हार्स पावर' याने अश्वशक्ति के नाम से मापा जाता है। अश्व की लोकप्रतिष्ठा जितनी पृथ्वी पर हुई, उतनी ही स्वर्ग में भी हुई है। इसलिए घोड़ा शक्ति और ऊर्जा के साथ दिव्य पशु का भी प्रतीक है।

यह मन के अलावा गति, इच्छा शक्ति व उद्दाम वासना का प्रतीक है। इसे नरों में नर का, काम का, शानौ शौकत और धन ऐश्वर्य का प्रतीक माना गया है। दुनिया में जिराफ के बाद घोड़ा ही ऐसा प्राणी है, जो विश्राम भी खड़े-खड़े ही करता है। इस संबंध में राजा-महाराजाओं का कहना था कि जो घोड़ा बैठ जाये, उसे मार देना चाहिए, वह किसी काम का नहीं होता है। घोड़ा ईसाई व इस्लाम धर्म में भी पवित्र माना गया है। पीर-पैगम्बर घोड़ों की ही सवारी करते थे।

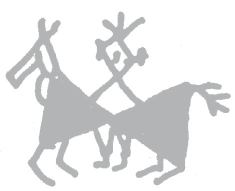

सूर्य-रथ को सात घोड़े दिन-रात एक गति से चला रहे हैं। हमारी काल-गणना सूर्य-चन्द्र पर ही आधारित है, अतः घोड़े काल के भी प्रतीक हैं। इसलिये भारतीय संस्कृति भी अश्व पर ही गतिमान लगती है।

हाथी – पूरे निमाड़ में हाथी प्रथम पूज्य गणेश का प्रतीक है। हाथी पवित्रता व मांगलिकता का प्रतीक है। हर कोई हाथी दर्शन को लालायित होता है। हाथी दर्शन से बड़े-बूढ़े, बाल-बच्चे आदि सब प्रसन्नचित्त हो जाते हैं। हाथी प्रसन्नता का प्रतीक है। हाथी की उत्पत्ति भी समुद्र मंथन में ऐरावत हाथी के रूप में हुई, जो राजा इन्द्र का वाहन बना। निमाड़ी लोक साहित्य में हाथी की एक रोचक पहेली है। वह ये है –

चार चक चले, दो भग चले।
आगे नाग चले, पीछे गोफ चले।।

पहेली के अर्थानुसार हाथी के पैर चक्रों के प्रतीक हैं। उसके दो कान सूपों के प्रतीक है। आगे की सूण्ड नाग का प्रतीक तो पीछे हिलने वाली पूँछ गोफ की प्रतीक है। हाथी विशालता का प्रतीक है। हाथी धैर्यता व बल का प्रतीक है। वह दृढ़ता का प्रतीक है। वैभव का प्रतीक है।

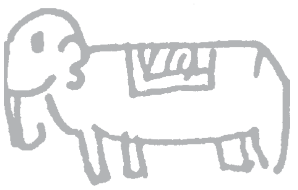

गाय और बैल – निमाड़ ही क्या पूरे भारत वर्ष में गाय और बैल की महत्ता अद्वितीय है। जहाँ एक ओर द्वापर युग में ही भगवान कृष्ण ने गोपालन की महत्ता सिद्ध करके उसे गौ माता का प्रतीक बना दिया था। गाय को पूजनीय बनाकर स्वयं भी गोपाल नाम से विभूषित हुए। वहीं दूसरी ओर बैल को भगवान महादेव ने नंदी के रूप में अपने साथ रखकर पहले प्रतिष्ठित कर दिया था।

गौ पुत्र बैल 'वृषभ' तो भारतीय कृषिजगत का मेरुदण्ड है। बिना वृषभ के कृषक अधूरे हैं। इनका अटूट रिश्ता है। इस संबंध में एक कहावत है कि 'आगे वृषक पीछे कृषक'। भारत के कृषिप्रधान देश होने के नाते वृषभ कृषि का प्रतीक है। भारतीय कृषि कर्म का भार किसान के साथ केवल बैल ने ही सम्हाला है। इसलिये बैल शक्ति का प्रतीक है। यदि गौ माता की प्रतीक है, तो बैल पिता का।

भारतीय कृषिभूमि को बंजरता के शाप से केवल बैल के गोबर व गोमूत्र ने ही बचा रखा है। अतः गाय-बैल उर्वरा शक्ति के भी प्रतीक हैं, कृषि संस्कृति व सभ्यता के प्रतीक है।

कहते हैं गाय में तैंतीस करोड़ देवी-देवताओं का वास है। गाय सर्वदेवमयी शक्ति की प्रतीक है। समुद्र मंथन से निकले चौदह रत्नों में एक कामधेनु भी थी। गाय के बिना कोई भी अनुष्ठान पूरा नहीं होता। जैसे यज्ञ करने में देवों को देने वाली हवि गाय के घी के साथ ही दी जाती है और हवियान्न का उत्पादन गौपुत्र बैल ही कृषि कर्म करके गेहूँ, चावल, जौ, तिल्ली देता है। अत: बैल अन्नदाता का प्रतीक है। यहाँ तक कि यज्ञभूमि को गोमूत्र से पवित्र करके गोबर के कंडों से ही प्रज्ज्वलित करते हैं। पूजा पाठ में पंचगव्य भी गोदुग्ध, गोघृत, गोदधि, गोमूत्र व गोबर से बनता है। अत: गाय पवित्रता की प्रतीक है।

निमाड़ के साथ अन्य प्रांतों में भी गौ दान की महत्ता है। हर पिता विवाह में अपनी पुत्री को दहेज में गाय देने की परम्परा निभाता है। लोक के घर की लिपाई व व्रत-अनुष्ठान के स्थान को गाय के गोबर से ही लीपकर तैयार करते हैं। गाय-बैल का गोबर कृमिनाशक होता है। गोमूत्र तो कई लाइलाज बीमारियों में उपयोग किया जाता है। गौमूत्र औषधि का प्रतीक है। गाय का दूध अमृत का प्रतीक है। निमाड़ में नवजात शिशु को दूध पिलाने के संबंध में एक कहावत है 'माय को दूध नहीं तो गाय को दूध होणू चाइजे'। 'गाय नऽ माय बराबर छे'। इस बात को वैज्ञानिक भी मान चुके हैं। गाय का दूध शिशु क्या सबके लिए अमृत है।

निमाड़ी साहित्य में बेहुला गाय की गाथा प्रसिद्ध है। लोक में गाय-बैलों से संबंधित कई लोकगीत, कथाएँ, कहावतें, पहेलियाँ आदि विद्यमान हैं। गाय-बैलों को निमाड़ में गोरधन पड़वा और पोला पर विशेष शृंगारित करके उन्हें पकवान खिलाने की परम्परा है। निमाड़ में पोला उत्सव धूमधाम से मनाया जाता है। पोला पर ही रक्षा बंधन त्योहार मनाते व अपने-अपने पशुओं को भी कंकू चावल से बधाकर राखी बाँधते हैं। तब गाँव के शृंगारित सारे बैलों को बड़े चौराहे पर एकत्र करके पोला तोड़ने की रस्म निभाते हैं, तथा जो बैल पोला की रस्सी तोड़ता है, उसके रंग-रूप पर वार्षिक भविष्यवाणी की जाती है। इसलिये बैल भविष्यवाणी का प्रतीक है।

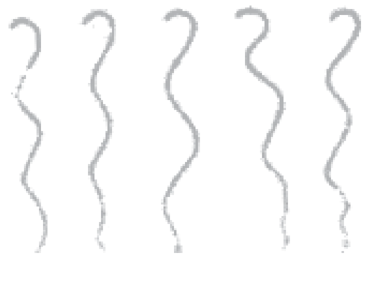

निमाड़ी संस्कृति में दीपावली पर्व गौ पूजन से शुरू एवं गोरधन के दिन समापन होता है। धनतेरस के एक दिन पूर्व चवळा बारस मनाई जाती है। इस दिन पुत्रवती माताएँ व्रत करती हैं। चवळा बारस की वार्ता सुनती है तथा वार्ता के पूर्व गाय-केड़े की पूजा करके परिक्रमा भी लगाती हैं। गाय को खाद्यान्नों के चवले व ज्वार खिलाती हैं और अपने घरों में भी चवले की सब्जी व ज्वार की रोटी ही सबके लिए खाने हेतु बनाती हैं। इसका स्वाद पूरे निमाड़ को एक साथ सिर्फ एक दिन चवला बारस को ही मिलता है। यह व्रत इसी कामना के साथ मनाया जाता है कि- हे गाय माता! तेरा पुत्र और तू अपने सत्कर्मों से राष्ट्र सेवा करके लोक में सम्मानीय व पूजनीय है, वैसे ही मेरा पुत्र भी सत्कर्म करके, देश सेवा करके खुद के साथ मुझे भी सम्मान दिलाए। तेरे जैसे हम माताएँ भी अपने पुत्रों पर गर्व करें।

नाग - लोक संस्कृति में नागों को देवता रूप में स्वीकार किया है। इसलिये नाग आस्था के प्रतीक हैं। एक समय तो दुनिया वाले भारत को 'नागों का देश' ही कहते थे। भगवान विष्णु ने अपनी शैय्या शेषनाग की बनाकर नाग को पहले ही प्रतिष्ठित कर दिया तथा नागों के बिना भोलेनाथ की तो शोभा ही गायब हो जाती है। समुद्र मंथन में वासुकि नाग रज्जु बने थे, तो हमारी धरती माता को भी नाग देवता ने ही अपने फन पर थामा हुआ है। कई देवताओं के हाथों में नागों का ही पाश है। इसलिये नाग विष्णु के लिए शैय्या का प्रतीक, महादेव के लिए शृंगार का प्रतीक, मंथन रस्सी का तो धरा के लिए सहारे का प्रतीक है। नागों की प्रतिष्ठा देवताओं ने ही सर्वाधिक की है।

नागों का उद्‌गम महर्षि कश्यप और उनकी कद्रू नामक पत्नी से माना जाता है। उनके नाग पुत्रों में मुख्य शेषनाग, वासुकि, कर्कोटक, तक्षक, कंबल, पद्‌म, शंख, कुलिक आदि के अलावा अन्य हजारों पुत्र एक फन से हजार फन तक के थे।

हमारी पृथ्वी को महर्षियों ने नौ खंडों में विभाजित किया है, जिसमें नागों के नाम से नाग खंड भी है और निमाड़ नाग खंड के अंतर्गत ही आता है। नाग को निमाड़ में भीलट देव के रूप में पूजा जाता है। समूचे निमाड़ में ऐसा गाँव या शहर नहीं है, जहाँ नाग मंदिर याने भीलट बाबा की थानक नहीं है। नाग पंचमी के दिन पूरे निमाड़ में हर व्यक्ति आस्था से भीलट बाबा को शीश झुकाता व पूजा-अर्चना करके नारियल चढ़ाता है। याने नाग आस्था के प्रतीक हैं।

निमाड़ लोकसंस्कृति में नाग के भित्तिचित्र बहुत प्रसिद्ध हैं। ये भित्तिचित्र श्वेत-श्याम दो रंगों में ही बनाते हैं। नाग के लोकचित्रों की निमाड़ में एक खासियत है कि बिना ब्रश उठाये कई कुण्डलियों के नाग चित्रित किए जा सकते हैं। मुख्य रूप से जनेऊ के नाग, कुण्डली के नाग, कोठड़ी के नाग, घी के नाग, सिंदूर के नाग, साधारण नाग आदि चित्रित किये जाते हैं।

निमाड़ में लोकचित्र एक दो दिन पूर्व से ही बनाने संवारने लग जाते हैं, परंतु आँखें बनाकर प्राण-प्रतिष्ठा पर्व के दिन ही करने की निमाड़ की पावन परंपरा है। नाग एक जहरीला जीव है, इसलिये वह विषधर का प्रतीक है। फिर भी निमाड़ में एक परम्परा है कि किसी को वीरान जंगल में कहीं भी, कभी भी साँप दिखता है तो वे नाग को 'मामाजी' कहकर संबोधित करते हैं कि - 'मामाजी! तम तमारा रस्त ऽ सी जाओ, अऊ हाम हमारा रस्त ऽ सह जावान'। शायद यह परंपरा भी आस्तिक मुनि द्वारा अपने नाग मामाओं पर किये गये उपकार के कारण ही हुई होगी। इसलिये नाग मामाजी के प्रतीक हैं।

नागों की गति बहुत तेज होती है। वे तीव्र गति के प्रतीक हैं। नाग की फुफकार क्रोध की प्रतीक है। नाग भय का प्रतीक है पुराने लोग कहीं भी धन दौलत गाड़ते थे तो वहाँ नाग की चौकी बैठा देते थे, ताकि वह धन नागों की सुरक्षा में रहे। अत: नाग धन का प्रतीक है।

लोक नागचित्रों के अलावा नागलीलाओं में लोकगीत व कथा वार्ताओं इत्यादि में भी नागों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। निमाड़जन आज भी नागों के दिखने पर कहते मिल जाते हैं कि 'बाबा याने नाग बाबा की चलती-फिरती धरती छे'।

मोर - द्वापर युग में श्रीकृष्ण मोर मुकुट धारण करके मोर को लोक प्रतिष्ठित करके खुद भी मोर मुकुट धारी नाम से अलंकृत हो गये थे, इसलिये मोर अलंकार के प्रतीक हैं। मोर सुंदरता और खुशी का प्रतीक है।

प्रेम के अवतार श्रीकृष्ण ने मोर पंख को अपने सिर पर क्यों धारण किया? इस बारे में एक कथा है कि जब वर्षा के दिनों में आसमान में काले-काले बादल उमड़ते-घुमड़ते हैं, तो मोर की प्रसन्नता का ठिकाना नहीं रहता। वह मस्ती से अपने इन्द्रधनुषी सुंदर पंखों को फैलाकर खूब नृत्य करता है। लेकिन जब वह नृत्य करते-करते अपने पैरों के खुरदरेपन को देखता है तो दु:खी होकर रोता है। फलस्वरूप रोने में मोर के आँसू आ जाते हैं तो उन आँसुओं को मोरनी धरती पर नहीं गिरने देती है। स्वयं प्रेमवश पी जाती है और उन आँसुओं से ही गर्भधारण कर लेती है। इसलिये मोर-मोरनी निष्काम प्रेम के प्रतीक हैं। कृष्ण ने पंख को शीश पर धारण कर ऊँचा स्थान दिया है। मोर इन्द्रधनुष का भी प्रतीक है।

मोर कार्तिकेय का वाहन है। मोर ज्ञान की देवी माँ शारदा का भी वाहन है। इसलिए मोर ज्ञान और कला का प्रतीक है। इसलिये निमाड़ के बालक-बालिका आज भी पुस्तकों में मोरपंख रखते हैं, क्योंकि मोर विद्या का प्रतीक है।

निमाड़ी में मयूर की एक पहेली है कि 'येक जानवर असो, जेकी दूम पर पयसो।' मोर पंख पैसे जैसा ही तो दिखता है। मयूर लोक का अभिन्न हिस्सा है। तभी तो मोर अपने गुणों व सुंदरता के कारण हमारा राष्ट्रीय पक्षी बनकर सम्मानित है।

तोता - लोक में तोता पालने की परम्परा बहुत पुरानी है। पुराने समय में तोते ही संदेशवाहक का कार्य करते थे, अत: तोते

संदेशवाहक के प्रतीक हैं। तोता को संस्कृत में शुक कहते हैं। पुराणों में शुक कामदेव का वाहन है याने शुक प्रेम का प्रतीक है।

निमाड़ में आदि शंकराचार्य शास्त्रार्थ हेतु माहिष्मति आये और पनिहारनों से मण्डनमिश्र का पता पूछा तो पनिहारनों ने उनसे कहा, जिसके घर के आँगन में तोते संस्कृत में सबसे वार्तालाप करते हैं, वही उनका निवास है। इसलिये तोता वाणी और बुद्धि कुशलता का प्रतीक है। निमाड़ी कथाओं में- कहावतों में, गीतों में, पहलियों में और गोदनों इत्यादि में तोते का मुख्य स्थान है।

जब महादेवजी माँ पार्वती को अमर कथा सुना रहे थे, तब वहाँ शुक के अंडे ने कथा सुन ली और वह अमर हो गया। शिवजी उसे मारने लगे तो अंडे से निकलकर वह शुक व्यास ऋषि की पत्नी के गर्भ में समा गया और भगवान से अपनी सुरक्षा का वचन लेकर ही शुकदेव मुनि के रूप में जन्मा। राजा परीक्षित को सात दिन में ही भागवत कथा सुनाकर उनके मन में से मृत्यु का भय निकालकर मोक्ष मार्ग दिखाया, इसलिये शुक मोक्ष का प्रतीक है।

कौआ - कौआ को संस्कृत में काग और निमाड़ी में हाड्या (हाड़िया) कहते हैं। कथाओं में कागभुशुंडी जी कौआ ही थे, जो भगवान श्रीराम के अनन्य भक्त और राम कथा के प्रेमी थे। अन्य पक्षियों को रामकथा श्रवण भी करवाते थे। याने कागभुशुंडी जी रामकथा के प्रतीक हैं।

कौए पर हिन्दी साहित्य में एक गीत की पहली पंक्ति में ही काग को किस्मतवाला कहा गया है कि 'काग के भाग बड़े सजनी, हरि हाथ से ले गयो माखन रोटी।' अर्थात हे सखी! कौए बड़े किस्मत वाले हैं कि उन्होंने भगवान के हाथों से रोटी खाई है।

लोक में जनश्रुति है कि सुबह-सुबह जब कौआ जिसकी मुंडेर या मकान पर बैठकर 'काँव-काँव' करता है, तो कहते हैं उसके घर उस दिन मेहमान आयेंगे। इसलिये कौआ अतिथि सूचक का प्रतीक है। कभी-कभी कौआ एक ही स्थान पर बैठकर बार-बार कर्कशता से 'काँव-काँव, करता है तो कहते हैं कौए को किसी पर भी काल आता दिख जाता है। वह काल का प्रतीक है। उसका काला रंग अंधकार का प्रतीक है।

लोगों का कहना है कि- कौआ अमर का पट्टा लेकर आया है, याने अमरता का प्रतीक है। निमाड़ी में एक कहावत है - 'मनुस्स नमऽ नौव्वो, नऽ पक्षी नमऽ कौवो' अर्थात् मनुष्यों में नाई जाति के व्यक्ति बड़े सयाने होते हैं, उसी प्रकार पक्षियों में कौआ सयाना होता है। जो ज्यादा होशियारी बताता है उसे निमाड़ी में 'स्याणा कौआ' ही कहा जाता है। स्याणो कौवो के संबंध में एक कहावत और प्रचलित है कि -'स्याणा कौवा! सदा गू का ढेर पज्।' अर्थात् जिस प्रकार कौआ गंदगी में ही बैठता है, उसी प्रकार अति सयाने व्यक्ति ही गलत निर्णय ले लेते हैं, वे हानि उठाते है, क्योंकि 'अति सर्वत्र वर्जयेत।'

लोक में सोलह श्राद्धों में कौओं को श्राद्ध डालने के बाद उन्हें बुलाकर कागवास डाली जाती है। कहते हैं सोलह श्राद्धों में कागवास डालने में जो खीर-रोटी इत्यादि पकवान कौओं को खिलाते हैं, वह सीधे पितरों तक पहुँचते और उन्हें मिलते हैं। इसलिए कौए पितरों के प्रतीक हैं।

निमाड़ी बालिकाएँ सोलह श्राद्धों के आखिरी दिन अपनी संझा माता को विसर्जन करने के बाद एक 'चिड़िया-चिड़ी को लाखड़ो' नामक खेल खेलती हैं, जिसमें कई टोकरियों के ऊपर से कूदना होता है। जो बालिका असफल हो जाती है, उसे सब चिढ़ाती है कि- 'हाड़ियो लाड़ो मिलगऽ' याने कौवे जैसा वर भविष्य में मिलेगा। इसलिये कौवा भविष्यवाणी का भी प्रतीक है।

लोकसंस्कृति में कौए का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। निमाड़ के बच्चे पशु-पक्षियों में कौवों को देखकर ज्यादा खेलते-कूदते और प्रसन्न होते हैं। आज भी जब कोई बच्चा रोता है तो उसे घर

के बड़े व्यक्ति कौआ या चिड़िया रानी बताकर ही खुश करते हैं। याने हर पछी प्रसन्नता का प्रतीक है।

अन्न – महत्त्वपूर्ण प्रतीक अन्न ही है। अन्न के बिना व्यक्ति जीवित नहीं रह सकता है, तथा व्यक्तियों के बिना लोक की कल्पना नहीं की जा सकती है। इसलिये अन्न लोक का, प्राणतत्त्व का प्रतीक है।

मुख्य अन्न में ज्वार है, जिसे लोक में सब ज्वार माता कहते हैं। निमाड़ी में ज्वार का गुणगान जुगधरी माता के रूप में लोकगीतों व कथाओं में खूब हुआ है। निमाड़ का किसान दीवाली पर सर्वप्रथम ज्वार माता की पूजा करता है। इसलिये ज्वार माता के साथ धन का भी प्रतीक है। निमाड़वासी सब दानों में श्रेष्ठदान अन्नदान को ही मानते हैं। बहन, बेटी, भांजियों व ब्राह्मणों को भी कुछ दान देते हैं तो उसमें अन्नदान पहले देते हैं। इसलिये अन्न श्रेष्ठ दान का प्रतीक है।

जब दशहरा जीतने जाते हैं तो विजयादशमी के दिन कुँवारी ज्वार में भुट्टों सहित पौधे लाने व उन्हें घर लाकर पूजने की परम्परा है। लोक संस्कृति में सिंगाजी महाराज की पुन्योव याने शरद पूर्णिमा के दिन निमाड़ के बच्चे शाम को भिक्षाटन को जाते हैं, तो भी कुँवारी ज्वार का पौधा हाथ में रखकर भिक्षा मांगने हेतु हर दरवाजे पर जाकर गीत गाते हैं–

साला की सटपट, पागड़ी बांधू लटपट।
चोखा को तीर, दऽ ओ जी ।।.....

इन पक्तियों में चावल को तीर का प्रतीक माना गया है। वास्तु पूजन में विभिन्न प्रकार के अन्नों व दालों से इतने सुंदर मण्डल बनाते हैं कि उनकी इस सौंदर्यता की कुशलता पर चित्रकार भी नतमस्तक हो जाते हैं। इसलिये अन्न सौंदर्य के प्रतीक हैं। यज्ञ आदि विशेष पूजनों में चावल के नवग्रह और गेहूँ की सोलह मातृकाएँ बनाते हैं। हव्य व कव्य की सामग्री में भी अन्न प्रमुख है। हर कार्य में अन्नों का उपयोग होता है।

निमाड़ में ध्रुव पूजन करने जाते हैं तो गाँव का पटेल दम्पति सिर पर ज्वार की टोकरी रखकर ले जाता है। बड़वे भोपा आदि सब ज्वार माता से ही सगुण देखते हैं और भविष्यवाणी करते हैं। अत: ज्वार भविष्यवाणी का प्रतीक है। भारतीय संस्कृति में समस्त अन्न केवल जीवन रक्षा का साधन नहीं बल्कि पूजनीय भी है।

पगड़ी – लोक में पगड़ी राजा–महाराजाओं के समय से ही सम्मान और सत्कार की प्रतीक हो चुकी थी। विवाह आदि अवसरों पर सम्मान स्वरूप जमाइयों को पहले पगड़ी ही बांधी जाती थी। अब तो पगड़ी की जगह 'टोपी–रुवाल' ने स्थान ले लिया है। पगड़ी बांधने से जहाँ दिन में तेज धूप से सिर की रक्षा होती है तो जाड़े में ठंड से भी बचते हैं, याने पगड़ी सिर का रक्षा कवच का प्रतीक है।

रस्सी अनुपलब्धता के कारण लोग पगड़ी से ही रस्सी का काम निकाल लेते हैं। लोक में किसी के मरणोपरांत ग्यारहवें की रस्म में पगड़ी रस्म भी होती है। स्वर्गीय व्यक्ति के कुटुम्बजनों के लिए उनके अपने–अपने ससुराल या मामा पक्ष के द्वारा पगड़ी बांधी जाती है। विवाहों में दूल्हे के सिर पर अब पगड़ी की जगह साफे बँधने लग गये हैं, जो सुंदरता के प्रतीक है।

विश्व की अनेक संस्कृतियाँ आज इतिहास एवं शोध का विषय बन गयी हैं। भारतीय संस्कृति की कुछ विशेषता है कि वह सैकड़ों वर्षों तक परतंत्र होकर, प्रहारों को झेलने के बाद भी उसी प्रकार में जीवित है। अब विज्ञान का युग है। इस समय भी संस्कृति पर प्रहार हो रहे हैं। आवश्यकता है अपनी संस्कृति को सुरक्षित रखने की, इसकी महत्ता को प्रतिपादित करने की।

लोक के प्रतीक

रमेशचन्द्र तोमर 'निमाड़ी'

जहाँ तक दिखायी देता है, वह लोक है। खुली आँखें बंद करने पर मन की आँखों से भी जो कुछ दिखायी देता है, वह भी लोक है। स्वप्न और स्मृतियों की आँख से भी दिखायी देता है, वह लोक है, लोक में सब कुछ समाया है। सृष्टि में लोक है और लोक में सब कुछ समाया है। लोक में सृष्टि समाहित है। इसलिये कहा गया है, जो लोक को देखता है, वह ऋषि है। ऋषि लोक को देखता है। लोक संज्ञा है। लोक की अभिव्यक्ति का माध्यम प्रतीक और मिथक है। सम्पूर्ण लोकव्यवहार प्रतीकों से ओत-प्रोत है। लोक की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति का माध्यम भाषा है। भाषा स्वयं एक प्रतीक है। इसके अलावा अभिव्यक्ति के और भी माध्यम हैं। उनमें संगीत, कला, चित्रकला और साहित्य प्रमुख हैं। लोक की वाचिक और कला परम्पराओं में प्रतीकों का प्रयोग सर्वाधिक हुआ है।

वाचिक परम्परा में शब्द और भाव के द्वारा, रूपंकर कलाओं में रंग, रेखा और आकृति के माध्यम द्वारा, तथा प्रदर्शनकारी कलाओं में स्वर, ताल, नृत्य और अभिव्यक्ति के माध्यम से प्रतीक साकार होते हैं। अवाचिक परम्परा, जिसकी अभिव्यक्ति देहभाषा अथवा प्रक्रिया में होती है, जो स्थिति और संघटना पर निर्भर होती है, जिसमें बिना बोले प्रकृति, जीव और पदार्थ बहुत कुछ कह देते हैं। ऐसी अवाचिक परम्परा में बहुत सारे प्रतीक संकेत और देह माध्यम से प्रकट होते हैं। उदाहरण के तौर पर किसी बिछड़े व्यक्ति के अचानक मिल जाने पर उसे बाहों में कस लेना, मुख चूमना, आँखों से आँसू बहना, खुशी से उछल पड़ना आदि ऐसी क्रियाएँ हैं, जिनसे शब्द मुँह से नहीं निकलते, लेकिन आंगिक चेष्टाएँ बराबर होती हैं और उससे कोई न कोई भावाभिव्यक्ति होती है। यही अवाचिक परम्परा होती है। जड़, चेतन सबमें एक प्रकार निःशब्द गतिविधियों में अवाचिक परम्परा का स्वाभाविक निर्वाह होता है। अवाचिक परम्परा के प्रतीक सांकेतिक रूप से अत्यंत गहरे और व्यापक होते हैं। लोकप्रतीकों की परम्परा हमें निम्नलिखित रूपों में दिखायी देती है -

1. कला परम्परा में प्रयुक्त प्रतीक
2. वाचिक परम्परा में प्रयुक्त प्रतीक
3. लोककला व्यवहार में प्रयुक्त प्रतीक

कला परम्परा दो प्रकार की होती है, आंकिक और आंगिक। अंकिक रूपाकार कला है। इसमें भाषा, चित्र, शिल्प, शरीर आलेखन और ज्यामितीय कला समाहित है। रंग, रेखा तथा विभिन्न माध्यमों से बनाये जाने वाले चित्र और उद्रेखन हैं। शिल्पों में हाथ से बनायी जाने वाली कलात्मक, आनुष्ठानिक, उपयोगी और मनोरंजन के लिये बनायी जाने वाली वस्तुएँ हैं। शरीर आलेखन में गुदना, मेहन्दी लगाना, विभिन्न तरीकों से मुख, नैन, हाथ, पैर सज्जा है।ज्यामितीय कला में बिन्दु, रेखा, त्रिभुज, चतुर्भुज, षट्कोण, अष्टकोण आदि से बनी आकृति और अलंकरण हैं। चित्रकला में भित्तिचित्र, कागज, कपड़े, लकड़ी, मिट्टी पात्र आदि पर विभिन्न माध्यमों पर बनाये जाने वाले अलंकरण चित्र और आकृतियाँ हैं। उद्रेखन भित्ति और लकड़ी की वस्तुओं पर उभरे या गहरे चित्र होते हैं, जिन्हें अंग्रेजी में रिलीफ वर्क कहा जाता है। रिलीफ वर्क में विभिन्न आकृतियों और अलंकरणों का महत्त्व है। आंगिक कलाओं में नृत्य, गायन, वादन और नाट्य होते हैं, जिन्हें प्रदर्शनकारी, कलाएँ कहा जाता है, जिनमें गीत-संगीत का पक्ष मुख्य होता है।

वाचिक परम्परा में गीत, कथा, गाथा, कहावतें, पहेलियाँ आदि होती हैं। इनमें बोली के साथ समाजगत विषय मुख्य रूप में होते हैं। लोकव्यवहार में विभिन्न अनुष्ठान, तंत्र-मंत्र, कृषिकर्म, धर्म-त्योहार, व्रत-उपवास, जन्म, विवाह, मृत्यु, संस्कार और संस्कारों के समस्त लोकाचार आदि जीवन से सम्बन्धित प्रत्येक व्यवहार होते हैं। मानव ने अपनी विकास की अवस्था में ज्यामितिक आकृतियों की रचना करके उन्हें प्रतीकलोक में प्रतिष्ठित किया है।

बिन्दु - बिन्दु से दशमलव प्रणाली पैदा हुई। संसार में सबसे पहले भारतीयों ने बिन्दु का महत्त्व समझा। भूगोल, गणित, ज्योतिष जैसे शास्त्रों का जन्म बिन्दु से हुआ है। बिन्दु से विज्ञान विकसित हुआ है। बिन्दु से ज्यामिति का आविर्भाव हुआ है।

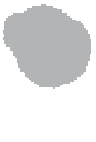

ज्यामिति की परिभाषा के अनुसार बिन्दु का स्थान होता है। उसमें लम्बाई, चौड़ाई और ऊँचाई नहीं होती है, लेकिन पुराण साहित्य, संस्कृति, कला आदि में बिन्दु के गहरे प्रतीकार्थ व्यक्त होते हैं। लोकसाहित्य, धर्म-दर्शन, तंत्र-मंत्र में बिन्दु सारतत्त्व की तरह उपस्थित है। बिन्दु से आगे की रचना शून्य है। कोण, वृत्त, परिधि, चतुर्भुज आदि सब बिन्दु से निर्मित आकृतियाँ हैं। बिन्दु से रेखा, रेखा से अक्षर, अक्षर से शब्द और शब्द से अनंत का सृजन होता है।

बिन्दु में तीनों देवता समाहित हैं। यह शिव का- संकल्प का प्रतीक है। भारतीय अध्यात्म के केन्द्र में बिन्दु उपस्थित है। बिन्दु से चित्र और अलंकरण की शुरुआत हुई है। निमाड़ के भित्तिचित्र जिरोती और नाग के चित्रांकन में सफेद पर काले बिन्दु लगाकर जिरोती की प्राण प्रतिष्ठा की जाती है। नाग का भित्तिचित्र भी इन्हीं बिन्दुओं के आसपास ही बनाया जाता है, तथा सिन्दूर से बिन्दु लगाकर नागों की प्राण-प्रतिष्ठा की जाती है।'डोल्या उगाड्या बिना प्राण कसा' अर्थात् आँखें बनाकर प्राण प्रतिष्ठा की जाती है। आँखों से ही सारा संसार दिखायी देता है। आँखें नहीं हैं, तो सारा संसार अंधकारमय है।

बिन्दु रांगोली या अल्पना का प्राण प्रतीक है। बिना बिन्दुओं के रांगोली बनाना असम्भव है। हाँ, आधुनिक पद्धति में बिन्दु के बिना रांगोली बनायी जा सकती है। अल्पना और भित्तिचित्रों में बिन्दु से सजावट का महत्त्वपूर्ण कार्य किया जाता है। तीन बिन्दु त्रि-शक्तियों के प्रतीक हैं। सात बिन्दु माता अन्नपूर्णा के प्रतीक हैं। पाँच बिन्दु पंचपरमेश्वर के प्रतीक हैं। इसलिये महिलाएँ घर को लीपने-पोतने के बाद घर की दीवारों पर, धरती पर पाँच बिन्दु लगाती हैं कि हमारे घर में पाँच देवता स्थापित रहें। बिन्दु का एक रूप है- बूंद और दूसरा बिन्दी या टीकी। निमाड़ी संत सिंगाजी का पद है-बूंद से संसार की उत्पत्ति हुई है।

एक बूंद की रचना सारी,
जाका सकल पसारा,
सिंगाजी भर नजरा देख्या
सोहम् पुरुष हमारा।

इस पद में स्पष्ट उल्लेख किया गया है कि एक बूंद से संसार की रचना हुई है और उसके विस्तार से समस्त चराचर जगत बना है। सिंगाजी स्वयं अपनी आँखों से परब्रह्म पिता परमेश्वर की रचना को देख रहे हैं। बूंद-बूंद से तालाब भरने की कहावत तो जग जाहिर है ही।

बिन्दु का दुसरा रूप है- बिन्दी। बिन्दी याने टीकी, यह बिन्दी जब नारी के मस्तक पर लगती है, तो उसका रूप दैदीप्यमान हो जाता है। यह सौभाग्य का प्रतीक है। टीकी के निमाड़ी गीत की पंक्तियाँ निम्नलिखित हैं-

टीकी म्हारी तारा की ज्योत
टीकी खोवाणी पलंग पऽ

मेरी टीकी तारे के समान प्रकाशित है और वह पलंग पर सोते समय गुम गई है। गणगौर गीत में आया है-

शुक्र को तारो रे ईश्वर ऊगी रह्यो
तेकी मकऽ टीकी घड़ावऽ।

हे स्वामी! शुक्र के तेजस्वी तारे का उदय हो गया है। उसी के समान मुझे टीकी घड़वा दो या बनवा दो। यहाँ पर टीकी शुक्र के तारे का प्रतीक है।

हिन्दू धर्म में टीका-टीकी लगाना सौभाग्यसूचक माना जाता है। पूजा-पाठ करते समय चंदन का टीका लगाते हैं। चंदन का टीका हमारे स्वभाव में शीतलता लाता है। शांति एवं तरावट का अनुभव होता है। मस्तिष्क में सेरोटोनिन व बीटाएंडोरफिन नामक रसायनों का संतुलन होता है। चन्दन से मेधाशक्ति बढ़ती है तथा मानसिक थकावट नहीं होती है। पूजन-हवन के अवसर पर भगवान के साथ-साथ उपस्थित लोगों को कुमकुम, गुलाल और हल्दी, सिन्दूर का तिलक लगाया जाता है। कुमकुम का तिलक सम्मान और विजय का प्रतीक है। हल्दी, चूना, नींबू से कुमकुम बनता है। ये तीनों वस्तुएँ त्वचा का सौन्दर्य बढ़ाने का काम करती हैं। हल्दी एक ऐंटिबायोटिक ऐंटिसेप्टिक औषधि है। हल्दी का पीला रंग हमारे मस्तिष्क में शक्ति का संचार करता है। हल्दी से त्वचा के रोगों से लाभ होता है। सिन्दूर सुख और सौभाग्य का प्रतीक है। इसको महिलाएँ माँग में धारण करती है। इससे महिलाओं में वैद्युतिकी उत्तेजना नियंत्रित होती हैं। डेंड्रफ, जूँ आदि नहीं होती है। इसमें पारा होता है, जो शरीर के लिये लाभकारी होता है।

रेखा- बिन्दु से रेखा का जन्म हुआ है। कई बिन्दु मिलकर रेखा बन जाती है। आदिम और लोकचित्र कला रेखा पर केन्द्रित है। प्रागैतिहासिक चित्रकला का आद्य आधार रेखा है। रेखा विकास, गति और काल का प्रतीक है।

रेखाएँ दो प्रकार की होती है, एक सरल रेखा तथा दूसरी वक्र रेखा। वक्र रेखा उबड़-खाबड़, जल, लहरें, मन आदि का प्रतीक हैं। सरल रेखा किरण, विकास और ऋजुता का प्रतीक है। पारंपरिक रूप में एक-दूसरे को काटती रेखाएँ संघर्ष और युद्ध का प्रतीक हैं। गणित में यही गुणित और धन के चिह्न का प्रतीक है। अलंकरण में रेखा स्वस्तिक का या शुभ का प्रतीक है। समान्तर रूप से खींची गयी रेखाएँ समानता का प्रतीक हैं। खड़ी रेखाएँ ऊँचे उठने का प्रतीक हैं। आड़ी रेखाएँ स्थिरता का प्रतीक हैं। एक-दूसरे को काटती रेखाएँ चरम मिलन की प्रतीक है।

पृथ्वी पर सूर्य की गति के आधार पर आड़ी-खड़ी, भूमध्य, अक्षांश-देशांतर रेखाओं को काल्पनिक रूप से विभाजित किया है। भूमध्य, मकर, कर्क आदि रेखाएँ इसी प्रकार की रेखाओं के नाम हैं, जिन पर पहुँचकर सूर्य की गति परिवर्तित होती है। ऋतुओं में बदलाव आता है। जहाँ धरती आकाश मिलते हैं, उसे क्षितिज रेखा कहते हैं। जीवन में कई रेखाओं की चर्चा होती है, जिनका प्रतीकात्मक रूप है। आयुरेखा, भाग्यरेखा, धनरेखा, मस्तिष्करेखा, सूर्यरेखा, विवाहरेखा, चन्द्ररेखा, हृदयरेखा, जीवनरेखा आदि प्रमुख हैं। भाग्यरेखा के बारे में देखिये क्या होता है-

म्हारा हाथ केरी रेखा देखो ज्योशी बाबा रे
किस्मत में देखो नानो बालको

हे! जोशीजी मेरी हस्त रेखा देखिये और बताइये कि मेरी किस्मत में संतान का सुख है या नहीं है।

प्रकृति प्रदत्त वर्षाऋतु की अलग ही छटा होती है। काले-काले उमड़ते-घुमड़ते बादलों के बीच नीले रंग की रेखा और चमकती हुई बिजली मन को आनंदित कर देती है-

कालई रे बादलई नीलई रेख
दादुर सुहाणी लागऽ राज

काले-काले बादलों में नीली रेखाओं से आसमान का रंग सुंदर हो गया है और उसमें चमकती हुई बिजली मन को आनंदित करती है। यह मोहक रंग नायिका के मन को भा गया है-

त्रिभुज, त्रिकोण – सृष्टि का निर्माण तीन मूल भावों से हुआ है। वे हैं– इच्छा, ज्ञान और क्रिया। इसी के आधार पर लोक में तीन देवता ब्रह्मा, विष्णु, महेश सृष्टि के प्रथम देवता साकार हुए हैं। त्रिकोण मनुष्य के तीन शाश्वत गुणों सत्व, रज, तम का प्रतीक है। यह मनुष्य के अंदर की ऊर्जा, मन, वचन, कर्म का प्रतीक है। यह मनुष्य की तीन अवस्थाओं का प्रतीक है– बाल्यावस्था, युवावस्था, जरावस्था। त्रिकोण– अंडज, पिंडज, उद्भिज्ज का प्रतीक है। सीधा त्रिकोण शिव का प्रतीक है। उल्टा त्रिकोण पार्वती का प्रतीक है। त्रिकोण पहाड़ का प्रतीक भी है। त्रिकोण अग्नि का प्रतीक है। अग्नि ज्वालाएँ शीर्ष की ओर उठती हैं।

भारतीय लोकचित्र शैलियों और स्थापत्य कला में त्रिकोण का उपयोग अलंकरण और आध्यात्मिक आशय प्रकट करने के लिये आदिकाल से किया जाता रहा है। निमाड़ का जिरोती चित्रांकन इसका उदाहरण है। जिरोती चित्रांकन में त्रिकोण का उपयोग किया जाता है। शक्करपारा और त्रिकोण का प्रयोग जिरोती चित्रांकन में सजावट के रूप में प्रयोग किया जाता है। मांडणे, रंगोली, अल्पना, एपन में भी त्रिकोण का उपयोग किया जाता है। अलंकरण में त्रिभुज का उपयोग सर्वाधिक मिलता है।

चतुर्भुज या चौकोन – चतुर्भुज के चार बिन्दु चार दिशाओं और दिक्पालों के प्रतीक हैं। चतुर्भुज की चारों भुजाओं से घिरा क्षेत्र पृथ्वी का प्रतीक है। चतुर्भुज की चारों भुजाएँ, चार वर्ण– अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष की प्रतीक हैं। उपयोगिता की दृष्टि से जीवन में चौकोर आकार–प्रकार का आदिकाल से महत्त्व रहा है। आदिम मानव ने खेती का आकार चौकोर ही रखा है। पशुओं के बाड़े का आकार चौकोर ही रहा होगा। बैठने के लिये चौकियाँ, आसन से चौकोर ही होते हैं। घर में जो आँगन होता है, वह भी चौकोर ही होता है। पहले वस्त्रों का आकार चौकोर ही रहा होगा। घर, मकान, भवन में चौकोर दरवाजे खिड़कियाँ लगायी होंगी। चौखटी वस्तु नेत्रों को आनंद प्रदान करती है। नाग का भित्तिचित्र भी चतुर्भुज रूप में होता है। वहीं जिरोती का चित्रांकन भी चौकोर रूप के चौखटे में किया जाता है। एक निमाड़ी कहावत में कहा गया है –

चार खुट पृथ्वी मऽ ढुढी आ।
म्हारा जसो आदमी ती मिलगा।

अर्थात् पृथ्वी के चारों कोनों में खोज लो, यदि मेरे जैसा मनुष्य मिल जाय। ऐसा ही एक पद में भी कहा गया है –

चहु दिशा मन को छोड़ीया
सायब ढुढी लावो
भाहर भटके से ना मिले
अन्त में लय लाओ।

चारों दिशाओं में मन भटका, उस परमपिता ईश्वर को ढूँढने के लिए। तब समझ में आया कि वह बाहर भटकने से नहीं मिलता। वह तो सबके भीतर ही बैठा है।

स्वस्तिक और चौक – स्वस्तिक भारतीय संस्कृति का प्रतीक चिह्न है, जिसमें लोकमंगल की समस्त भावनाएँ समाहित हैं। संस्कृति का ऐसा सारगर्भित, संक्षिप्त, सरल, सुंदर और आकर्षण प्रतीकचिह्न विश्व में शायद ही कोई दूसरा हो।

स्वस्तिक एक आड़ी और एक खड़ी रेखा के काटने से बनता है। जिस जगह आड़ी रेखा खड़ी रेखा को काटती है, वह मूल बिन्दु है। आड़ी–खड़ी रेखाएँ स्त्री और पुरुष का प्रतीक हैं। जिनके मिलने से सृष्टि का निर्माण होता है। चार रेखाएँ दिशाओं के लोकपाल–अग्नि, इन्द्र, वरुण और सोम की प्रतीक हैं। चार रेखाएँ चार वर्णों धर्म, अर्थ, पृथ्वी, आकाश, पाताल और स्वर्ग लोक का भी प्रतीक है। स्वस्तिक गणपति का प्रतीक है। विवाहादि मांगलिक कार्यों में, जहाँ स्वस्तिक बनाया जाता है, वहाँ गणपति की उपस्थिति मानी जाती है। अथर्ववेद में गणपति को सूर्य का प्रतीक माना गया है। इस प्रकार स्वस्तिक सूर्य का प्रतीक है।

लोक का कोई छोटा सा आनुष्ठानिक कार्य बिना स्वस्तिक पूजा के प्रारम्भ नहीं होता है। कलश की स्थापना स्वस्तिक पर होती है। स्वस्तिक को देखने भर से मन में प्रसन्नता का आभास होता है। इसे कुमकुम, हल्दी, आटे, चन्दन आदि से बनाया जाता है। ये मंदिर और भवन स्थापत्य में प्रवेश द्वार पर उकेरे जाते हैं। विद्वानों का मत है कि घर के प्रवेश द्वार पर दरवाजे के दोनों पल्लों पर सिन्दूर से स्वस्तिक बनाया जाय, तो घर में श्रीवृद्धि होती है। स्वस्तिक के आगे की दो रेखाएँ रिद्धि–सिद्धि की प्रतीक हैं।

स्वस्तिक के ऊपर-नीचे को दो रेखाएँ शुभ-लाभ की प्रतीक हैं। इससे घर में लक्ष्मी का वास होता है।

लोक में सीधी भुजा का स्वस्तिक शुभ माना जाता है। उल्टा स्वस्तिक मान-मनौती, अशुभ को टालने हेतु बनाया जाता है। मान-मनौती पूर्ण होने पर उस स्थान को गोबर से लीपकर, उस पर पुनः सीधी भुजा का स्वस्तिक बनाते हैं और नारियल फोड़कर मन्नत पूर्ण करते हैं।

व्यंजनों में स्वस्तिक क का प्रतीक है। क का अर्थ सुख-शांति प्रचलित है। क का अर्थ ब्रह्मा भी है। क की आकृति स्वस्तिक से मिलती है। स्वस्तिक लोकमंगल प्रतीक है। स्त्रियाँ हर व्रत-उपवास अनुष्ठान में स्वस्तिक बनाना नहीं भूलती हैं। स्वस्तिक का लोकनाम है- चौक। इसी चौक का लोकगीतों में, शुभ कार्य में वर्णन मिलता है, जो प्रसन्नता का प्रतीक है-

घीसी भोलई चन्दन सी आँगना लिपड़ो
मोतीयन चौक पुरावो सजनी
म्हारा घर आनंद बधावो।

हे सखी! चन्दन को घोलकर सारे घर को लीप दो और मोतियों से चौक याने स्वस्तिक बनाओ। आज मेरे घर बड़ी शुभ घड़ी है। आज मेरी बहू ने पुत्र को जन्म दिया है।

चौक, सातिया - चौक स्वस्तिक का लोकरूप है। चौक को सातिया भी कहते हैं। स्वस्तिक से चौक की आकृति थोड़ी भिन्न होती है। चौक दो खड़ी और दो आड़ी रेखाओं से बनता हैं। स्वस्तिक की चार भुजाएँ होती हैं। वहीं चौक की आठ भुजाएँ होती हैं। चौक या सातिया मान-मन्नत, शुभ मंगल कार्यों में बनाया जाता है। सातिया का शुद्ध स्वरूप आगे चलकर स्वस्तिक बना होगा। चौक की आठ भुजाएँ आठ दिशाओं पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, आग्नेय, नैर्ऋत्य, ईशान, वायव्य का प्रतीक हैं। चौक की आठ भुजाएँ आठ तीर्थों की प्रतीक है। चौक के मध्य घर में समस्त ब्रह्मांड की कल्पना की जाती है। शरीर में जो आत्मा का स्थान है, वही भारतीय लोक संस्कृति में चौक का स्थान है। चौक के कारण घर में बाहरी बाधाएँ प्रवेश नहीं करती है। चौक के बीच की खाली जगह भूमि और आकाश है-

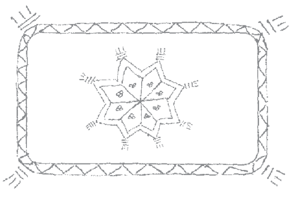

लीप्या की छाव्या म्हारा ओटला रनादेव माय,
नई ओ म्हारो चऊक की मोडण हार खादेव माय।

हे माँ! मेरा साफ-सुथरा ओटला है। उसे मैंने लीपकर सुन्दर बनाया है। उस पर चौक बनाया है। इस चौक को मिटाने वाला एक बच्चा मुझे प्रदान करो।

कलश - कलश एक चित्रांकन भी है, जो पूजा के कलश से अलग है। कलश का अलंकरण कलश स्थापना के समय, पूजा-पाठ में तथा विवाह में भाँवर (चँवरी, भौरी) और लग्न के समय किया जाता है। इसे आटे से बनाकर इसमें नौ खानों में कुमकुम, हल्दी, गुलाल आदि भरे जाते हैं। यह नौ देवियों का प्रतीक है। यह नौ नागों का प्रतीक है। इसे बनाकर गेहूँ, ज्वार या चावल की ढेरी बनाकर कलश की स्थापना की जाती है।

भरया कलश तुन ढोल्या वाजुली बाई
ढेळ क ठोकर मारी।

भरे हुए कलश को पैर लगाना या ढोलना अशुभ है। देहलीज को ठोकर मारना दोष है।

कलश अथवा घट - घट या कलश भारतीय संस्कृति का सम्माननीय एवं परिपूर्णता का प्रतीक है। संसार में सुख, शांति, धन-धान्य, शुभ-लाभ, पुण्य भरा रहे। कलश पृथ्वी और सृष्टि का प्रतीक है, जिसमें जल, अन्न, फल, पत्ते (हरीतिमा) आदि परिपूर्ण रहे। लोक में कलश मिट्टी और ताम्बे, पीतल आदि धातु के मान्य हैं। कलश की स्थापना करने से पहले कलश में ताजा पवित्र जल भरा जाता है। घड़ा याने घट जड़ता का प्रतीक है और जल जीवन का प्रतीक है। कलश में धातु का सिक्का और दूर्वा डालकर उसे पवित्रता प्रदान की जाती है। दूर्वा वंशवृद्धि का प्रतीक है। कलश जहाँ स्थापित किया जाता है, वहाँ पर बीचों-बीच आटे कुमकुम या हल्दी से स्वस्तिक, चौक या कलश को बनाया जाता है। उस पर जल से भरा कलश रखा जाता है। कलश पर कुमकुम से छोटा स्वस्तिक बनाया जाता है। कलश के मुँह पर पाँच पत्ते,

आम या नागरबेल, पात या अशोक के पत्ते रखे जाते हैं। उस पर नारियल रखा जाता है। कलश के मुँह पर अभिमंत्रित नाड़ा (लिच्छा) बाँधा जाता है। अब कलश 'पूर्ण घट' कहलाता है।

पूर्ण कलश या घट विश्वकल्याण, लोकमंगल एवं ब्रह्मांड का प्रतीक है। गेहूँ, चावल, ज्वार के दाने अन्नपूर्णा के प्रतीक हैं। कलश के ऊपर रखा नारियल पृथ्वी और शिखर का प्रतीक है। जल से भरा कलश वरुण देवता का प्रतीक है। कलश के कंठ में बँधा नाड़ा बंधन का प्रतीक है।

कलश के मुख पर विष्णु की पोषकशक्ति का वास है। कंठ में रुद्र याने शिव संहारकशक्ति विराजित है। कलश के मूल में सृष्टिकर्ता ब्रह्मा का वास है। कलश के मध्य में षोडश मातृशक्तियो का वास है। कलश में भरा जल सप्त सागरों का प्रतीक है। कलश में गायत्री और सावित्री सहित सब तरह की शांति समायी है। कलश में सभी तीर्थों का पवित्र जल भरा है। एक अकेले छोटे से प्रतीक में इतनी सारी समन्वयकारी शक्तियाँ एकत्र रूप से भारतीय लोकमनीषा ने भर दी है। यह आश्चर्यजनक ही नहीं है, बल्कि लोकमनीषा की उदात्त सोच का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण भी है।

नवरात्र में देवी के नौ रूपों के पूजन के लिये घट स्थापना या कलश स्थापना की जाती है। घट पूजा त्योहार भारतीय लोक समाजों में मनाया जाता है, जिसे गरबा पर्व कहा जाता है। गरबा या घट प्रजनन का प्रतीक है। गरबा मतलब गर्भ की पूजा का अभियोजन है। कलश में छोटे-छोटे छेद करके घट के अंदर जलता दीप रखते हैं। कलश के मुख पर भी मिट्टी का जलता दीपक रखा जाता है, जो माता ज्वाला का प्रतीक है। अब गरबा, सम्पूर्ण देवी शक्तियों का प्रतीक बन जाता है। स्त्रियाँ देवी को प्रसन्न करने के लिये गरबा नृत्य करती हैं। घट में जलता दीपक का अर्थ शरीर के अन्दर प्रकाशवान आत्मा का प्रतीक है। पंजाब में जागो नृत्य घट पूजा का ही नृत्य है। पुरातात्त्विक साक्ष्यों की दृष्टि से मिट्टी के बर्तन नवपाषाण काल में बने हैं, जिनमें दीपक और कुंभ पहले बरतन बने। इससे मिट्टी कला का विकास हुआ। लोकगीतों में मांगलिक चित्रण की परम्परा में कुंभ या कलश का महत्त्वपूर्ण स्थान है। सोहर, बधावा, जनेऊ आदि गीतों में कलश का वर्णन मिलता है।

रनुबाई न गऊर बाई पाणी सचर्‌या
उनकी लारऽ लाग्यो गणपति जाय
शीश करण की ओ देवी बावड़ी
कुंभ कलस का देवी थारा बेडीला।।

रनुबाई और गऊरबाई पानी लेने जा रही हैं। उनके पीछे-पीछे गणेशजी जा रहे है। शीशे से जड़ी बावड़ी है, जहाँ वे पानी लेने जा रही हैं। उनके शीश पर मिट्टी के कलश याने मटकियाँ रखी हैं, उससे पानी लेने जा रही हैं।

कलश पर आम के पत्ते क्यों रखे जाते हैं? यह एक प्रश्न है। इसका उत्तर यह है कि सकल चराचर जगत् में जितने भी पेड़ हैं, वे एक बार पत्तों से विहीन होते हैं और फिर उन पर दूसरे पत्ते आते हैं। आम का पेड़ सदैव हरा-भरा रहता है। उस पर कोई असर नहीं होता। यह आम की एक विशेषता है। जब तक नया पत्ता नहीं आता, तब तक पुराना पत्ता झड़ता नहीं है। तात्पर्य यह है कि सुख के पीछे दु:ख या दु:ख के पीछे सुख आएगा, आदमी को निराश नहीं होना चाहिये। सदा हरीतिमा से पूर्ण वृक्ष आम के पत्ते इसीलिये कलश पर रखे जाते हैं कि हमारा जीवन सदा हरा-भरा रहे।

दीपक या दिया - दीपक प्रकाश का प्रतीक है। दीपक को सूर्यपुत्र भी कहा जाता है। सूर्य के जाने के बाद दीपक ही यथाशक्ति अंधकार का हरण करता है। दीपक ज्ञान का प्रतीक है। दीपक की ज्योति आत्मा का प्रतीक है। दीपक अग्नि का प्रतीक है। दीपक सुख और दु:ख में समान प्रकाश देता है। दीपावली के दीपक खुशी, आनंद और प्रसन्नता का प्रतीक हैं।

वहीं मृत्यु होने पर क्रियाकर्म में दीपक अवसाद का प्रतीक है। दीपक पुत्र का प्रतीक है, इसलिये पुत्र को कुलदीपक कहते हैं।

दीपक क्षणभंगुरता का प्रतीक है। दीपक में जब तक तेल होता है, तब तक वह जलता है। इसी तरह जब तक श्वास चलती है। जब तक प्राण है, तब तक मनुष्य जीवित होता है। इसलिये शरीर की तुलना दीपक से की गयी है। दीपक की ज्योति आत्मा का प्रतीक है। दीपक आशा का प्रतीक है। दीपक

घर की मर्यादा और प्रतिष्ठा का प्रतीक है। संस्कृत के टीकाकारों ने महाकवि कालिदास को 'दीपशिखा' का अलौकिक वर्णन करने के कारण 'दीपशिखा' की उपाधि से अलंकृत कर दिया था।

जब हम पूजाघर में भगवान् की पूजा करते हैं, तब सर्वप्रथम दीपक प्रज्ज्वलित करके उसकी पूजा करने के बाद भगवान् की पूजा करते हैं। यह दीपक हमारी पूजा का साक्षी होता है। भगवान के श्रीचरणों में दीपक जलाकर हम भगवान से प्रार्थना करते हैं- हे प्रभु! हमारे मन में जो अहंकाररूपी अंधकार छा गया है, उसे आप दूर करें, हमें अच्छी बुद्धि दें, अच्छा ज्ञान दें, सन्मार्ग पर चलने की शक्ति प्रदान करें। दीपक आरती का प्राण प्रतीक है।

हमारे प्रत्येक मांगलिक कार्य में दीपक जलाकर ही कार्य का शुभारंभ किया जाता है। बहन भाई को राखी बाँधेगी, तब भी आरती में दीपक जलता रहेगा। नयी बहू के आगमन पर उसकी आरती उतार कर ही घर में प्रवेश कराया जाता है। दीपक जलाना एक शुभ कार्य है। लेकिन दीपक को बुझाना अशुभ कार्य है। दीपक से दीपक जलाना दोषपूर्ण माना जाता है।

निमाड़ में विशेष संस्कारों पर गेहूँ के आटे में दीपक बनाकर उनका पूजन किया जाता है। बच्चे के जन्म के तेरह या इक्कीस दिन बाद जब बच्चे की माँ जलदेवी का पूजन करने नदी या कुँए पर जाती है, तब वहाँ जलदेवी का चित्र हल्दी के घोल से बनाकर, आटे से निर्मित दीपक रखकर उन्हें प्रज्ज्वलित करती है।

जलदेवी माता परमेश्वरी ओ
थारा मड़ऽ मऽ गोबर घाल से कण
गोबर घोलसे वाला की माऊली
दीवलो बलऽ न जलदेवी पुजसा

हे जलदेवी माता! तुम्हारे मंदिर को गोबर से कौन लीपेगा? जलदेवी माता कहती हैं जिसे मैंने पुत्र दिया है, वही गोबर से लीपेगी। दिवलो (दीपक) जलता रहे, तब तक पूजा कर लो। जब तक जलदेवी की पूजा नहीं होती, दीपक जलते रहते हैं।

विवाह संस्कार में भी गेहूँ के आटे के ग्यारह दीपक दूल्हे के घर बनाये जाते हैं। दुल्हन के घर नौ दीपक बनाकर इनके साथ नौ गणेश भी बनाये जाते हैं। उनका पूजन करके ही दूल्हा-दुल्हन बनाये जाते हैं या दूल्हा-दुल्हन की मान्यता दी जाती है। जब दूल्हा बारात लेकर दुल्हन के मंडप में जाता है, तब दुल्हन की माँ याने सास, चार रोटी के टुकड़ों पर आटे के दीपक जलाकर दूल्हे पर उतारती है। जब दुल्हन की विदाई की जाती है, तब उसके हाथ में आटे से निर्मित एक दीपक घी से भरकर रखते हैं। विदाई के बाद जब दुल्हन जनवासे में जाती है, वहाँ उस दीपक को जलाया जाता है और गोत्र-परिवार के लोग ही उस दीपक को देखते हैं। देखने के बाद उसे जलते हुए ही एक हंडे में बंद कर देते हैं।

यज्ञ या हवन के समय भी दस दीपक और एक चौमुखी दीपक आटे से बनाया जाता है। दस दीपक दिग्पालों के प्रतीक रूप में रखकर उनकी पूजा की जाती है। चौमुखी दीपक को पत्तल पर रखकर, उसमें उड़द के दाने रख कर सिन्दूर से पूजा करके प्रज्ज्वलित करके चौराहे पर रखा जाता है। यह घर में आयी अशुभ शक्तियों को घर से भगाने का प्रतीक है।

लोक में दीपदान का महत्त्व है। कार्तिक मास, पुरुषोत्तम मास, वैकुंठ चौदस आदि पर्वों या व्रत-उपवासों में महिलाएँ आटे से बने दीपक जलाकर उन्हें पत्तों पर रखकर नदी में छोड़ती हैं।

निमाड़ के लोकप्राण उत्सव गणगौर के जवारे जहाँ बोये जाते हैं, उस स्थान पर नौ दिन तक दीपक जलता रहता है। दीपक अग्नि का प्रतीक है तो अग्नि के पहरे में अशुभ शक्तियाँ प्रवेश कैसे कर सकती हैं? दीपक यहाँ पहरेदार का प्रतीक है। नवरात्र में माता के मंदिर में देवी अम्बिका की प्राण प्रतिष्ठा से विसर्जन तक नौ दिन तक अखंड ज्योति जलती रहती है। नवरात्र में निमाड़ में गरबा लाया जाता है। कोई नौ दिन के लिये तो कोई पाँच दिन के लिये, माँ भवानी को गरबा रूप में पूजता है। इस गरबा पर एक दीपक होता है, जिसे पूजा करते समय और गरबा नृत्य करते समय जलाया जाता है। कहीं-कहीं पर नौ या पाँच दिन तक गरबे पर रखा दीपक अखंड जलता रहता है। महेश्वर के राजराजेश्वर मंदिर में सदियों से ग्यारह दीपक अखंड जल रहे हैं। सम्पूर्ण भारत में यही एक ऐसा मंदिर है, जहाँ पर ग्यारह नंदा दीपक जल रहे हैं।

दीपक को केन्द्र में रखकर लोक में कई नृत्य प्रचलित हैं, जिन्हें दीपक नृत्य कहा जाता है। गुजरात का भवाई नृत्य सिर पर

नौ घड़े रखकर उस पर दीपक रखकर किया जाता है। उत्तरप्रदेश ब्रजमंडल में चारखुल्ला नृत्य तो दीप ज्योति का महानृत्य है। यह नृत्य होली की दूज से पंचमी तक किया जाता है। निमाड़ में गणगौर और विवाह में किया जाने वाला 'मटकी नृत्य' भी दीपक का ही नृत्य है। महिला सिर पर चोमल (कपड़े का गोल आधार) रख उसपर मटकी और जलता दीपक रखकर आड़ा, खड़ा, रजवाड़ी आदि मुद्राओं में नृत्य करती है। पुरुष भी इन्हीं मुद्राओं में नृत्य करते हुए मटकी पर रखे दीपक को बुझाने का प्रयास करता है। महिला भी उसे खूब छकाती है। अन्त में पुरुष दीपक को बुझा देता है और मटकी नृत्य समाप्त हो जाता है।

दीप जीवन का प्रतीक है। अनेक लोकगीतों में दीपक जीवन के प्रतीक रूप में चित्रित मिलता –

जी हो यो ही रे दीवलो इन्द्र लुहार नऽ घड़ियो
जेम पुरयो रे सवा पलो तेल
सुन्ना की डाँडी दिया रे बलऽ।

इस दीपक को इन्द्र लुहार ने बनाया है, जिसमें सवा पला (पुराने जमाने का नाप) तेल भरा गया है। सोने की समयी में दीपक जल रहा है। 'दियाबत्ती हुयो रे मिलाप, वयलड़ी सांजुली' दिये या दीपक से ज्योति का मिलन हो रहा है। संध्या का समय है। तुलसी चौरे पर गृहिणियाँ प्रति संध्या को दीपक जलाना नहीं भूलती हैं। दीपक ज्योति, प्रकाश, उत्साह, पवित्रता और शुभकामनाओं का प्रतीक है–

सुवा रे पयलो वधावो म्हारया अवियो
सुवा रे भेजो म्हारा दादाजी दरबार
पंखेरू सोहन दाड़ी दिया बलऽ

हे तोते! मेरे यहाँ पहली बधाई आयी है। मैंने उसे अपने पिताजी के घर भेज दिया है। उस समय सोने की समयी में दीपक जगमगा उठे हैं। दीपक के माध्यम से एक बहुत ही सुन्दर बात लोकगीत में कही गयी है –

दिया बिना बाती, बइण बिना आरती
भाई बिना बइण सुनी लागऽ रे।

दीपक बिना बत्ती के सूना लगता है। बहन के बिना आरती सूनी लगती है। भाई के बिना बहन सूनी लगती है। भाई–बहन एक दूसरे के पूरक हैं। बहन नहीं होगी तो भाई की कलाई सूनी रहेगी। राखी कौन बाँधे? वहीं बहन का भाई नहीं होगा तो मंडप में मामेरा कौन लाएगा?

दीपक शरीर का प्रतीक है और उसमें जलती बत्ती आत्मा का प्रतीक है –

जगमग ज्योत झलक रह्या मोती
पारीब्रह्म निरंजन आरती
काय को दिवलो न काय की बाती
कायन तेल जले दिन राती
पारीब्रह्म निरंजन आरती
तन को दीवलो मनऽ की बाती
सोहम् तेल जले दिन राती
पारीब्रह्म निरंजन आरती

जगमग ज्योति के प्रकाश में ज्ञानरूपी मोती जगमगा रहे हैं। परब्रह्म परमात्मा की आरती करे, किसका दीपक है? किसकी बाती है और उसमें कौन–सा तेल पूरित किया है? तन (शरीर) रूपी दीपक है। मनरूपी बत्ती है और उसमें स्नेहरूपी तेल पूरित है। आओ, हम परब्रह्म पिता परमात्मा की आरती करें।

आरती – आरती भारतीय अनुष्ठान का अनिवार्य अंग है। आरती लोक की समस्त श्रद्धा और प्रार्थना का प्रतीक है। आरती स्वर्ण, चाँदी, पीतल, ताम्बे की होती है, जिसमें पूजा के निमित्त कुमकुम, चन्दन, चावल, हल्दी, शक्कर, गुड़, फूल, सिन्दूर, अबीर, गुलाल, सुपारी, नाड़ा, कपूर और जलता हुआ दीपक रखा जाता है। पूजा के पहले आरती संजोई जाती है। आरती, विवाह और मांगलिक कार्य तथा पूजा के समय संजोयी जाती है। आरती में प्रत्येक सामग्री प्रतीकार्थ होती है, जो गणेशजी, नवग्रह, देवी पूजा में चढ़ायी जाने वाली वस्तुओं का संग्रह रूप है। कथा, पूजा, अनुष्ठान समाप्त होने पर जिस देवता की पूजा की जाती है, उसकी आरती करके कार्य का समापन किया जाता है। आरती में दीपक के साथ कपूर जलाकर आरती की जाती है। आरती चार प्रकार की होती है– काकड़ आरती,

भस्मआरती, मंगलआरती, शयन आरती। उज्जैन के महाकाल मंदिर में प्रात: चार बजे महाकाल भगवान् शिव को भस्म चढ़ाकर आरती की जाती है।

भारत में नदियों की आरती की जाती है। नर्मदा और गंगा मैया की आरती बड़े धूमधाम से की जाती है। बहन-भाई की आरती रक्षा बन्धन के दिन रक्षासूत्र (राखी) बाँधकर करती है। पत्नी-पति की आरती युद्ध में जाने से पहले करती है। आरती भारत के हर युग में उतारी जाती रही है।

आरती माई आरती
करो संजा की आरती
रुडो भाभी, रुडो भरयो रे कंचुड़ो।

आओ हम लोकदेवी संध्या की आरती करें, अच्छे से टिपारे में खेल खिलौने भरे हैं।

शंख - शंख भारतीय संस्कृति का अभिन्न अंग और मांगलिक प्रतीक है। शंख भगवान् विष्णु का एक आभूषण है। शंख और घण्टी दोनों के सम्मिलित स्वर के साथ आरती की जाती है। शंख का शुभ्र रंग सात्विकता का प्रतीक है। शंख की उपस्थिति वैभव और ऐश्वर्य का प्रतीक है। जहाँ शंख है वहाँ भगवान् विष्णु की उपस्थिति मानी जाती है। शंख विष्णु के आयुध के साथ ही विष्णु भगवान् का प्रतीक भी है। पूजा के बाद शंखनाद जरूर किया जाता है।

शंखनाद युद्ध की शुरुआत का प्रतीक है। महाभारत काल तक शंख योद्धाओं का अनिवार्य आयुध हो गया था। शंख बजाकर योद्धा अपने आगमन की सूचना देते थे। इसलिये भगवान् श्रीकृष्ण का पांचजन्य, अर्जुन का देवदत्त, युधिष्ठिर का अनंतविजय, भीम का पांडू, नकुल का सुघोष और सहदेव का मणिपुष्पक शंख था। प्रत्येक शंख का स्वर और उसे बजाने का ढंग पृथक् होता है। शंख जय-पराजय का प्रतीक है। शंख की प्रतिष्ठा देवपूजा और मंदिरों में है।

घंटी, घंटा, घड़ियाल - घंटी अत्यंत प्राचीन नाद का प्रतीक है। मंदिरों के सभामंडप में और गिरजाघरों के शिखरों पर घंटा लगाने की परम्परा है। पुराने समय में राजमहलों में घंटा बजाकर न्याय की गुहार राजा से की जाती रही है। राजमहल में रात्रि के समय, समय की सूचना देने के लिये भी इसका उपयोग था। घड़ियाल जितनी बार बजेगा, उतना समय हुआ है। घड़ियाल समय का प्रतीक है। घंटिया चढ़ाना एक प्रकार की मान-मनौती है। किसी भी देवी-देवता की मान-मनौती पूर्ण होने पर मंदिर या उस स्थान पर घंटी लगायी जाती है। इसका तात्पर्य यह है कि हमारे द्वारा लगायी गयी घंटी का नाद भगवान् के श्रीचरणों तक हमेशा पहुँचता रहे। यहाँ घंटी नम्रता का प्रतीक है। घंटी या घंटा का निर्माण तांत्रिक उद्देश्य से किया जाता है। घंटाध्वनि से मनुष्य के अवचेतन मन को जगाने का कार्य करती है। जब हम मंदिर में प्रवेश करते हैं तो सर्वप्रथम घंटी बजाकर भगवान् के समक्ष उपस्थित होने का सूचक है। घंटी, शंख, घड़ियाल, झाँझर, नगाड़ा, चिमटा, ढोलक, खंजरी ऐसे वाद्य हैं, जो आरती के समय देव मंदिरों में समूह रूप में बजाये जाते हैं।

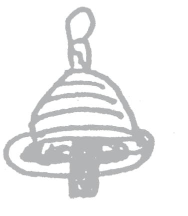

रत्नजड़ित सिगासन अद्भुत छबि राजे।
नारद करत निरंजन घंटाध्वनि बाजे।।

रत्नजड़ित सिंहासन पर श्रीभगवान् विराजमान हैं। नारद जी घंटी बजाकर उनकी आरती गा रहे हैं।

सूर्य - सूर्य प्रकृति का सबसे बड़ा अवदान है। सृष्टि में सूर्य सबसे तेजस्वी नक्षत्र है। लोक की अवधारणा में सूर्य सत्य का, प्रकाश का प्रतीक है। पृथ्वी की सारी वनस्पतियाँ सूर्य के कारण उत्पन्न होती है। सूर्य, ऋतुओं का जन्मदाता है। सूर्य की पूजा का प्रचलन आदिकाल से है। जन्म के समय सूरज पूजा की प्रथा लोक में प्रतिष्ठित है। सूर्यषष्ठी व्रत उपासना पर्व भारतीय मनीषा का सबसे महत्त्वपूर्ण प्रकृतिपर्व है। स्नान करने के पश्चात् उगते सूर्य को जल का अर्घ्य चढ़ाकर दिनभर के कार्यों में लग जाना लोक का सबसे पुराना कर्म है।

सूर्य बुद्धि और विज्ञान का प्रतीक है। सूर्य रोग, शोक और संकट दूर करने वाला देवता है। उड़ीसा में कोणार्क का सूर्य

मंदिर जगप्रसिद्ध है। लोककला में, सूर्य-चन्द्र का चित्रांकन किया जाता है। सूर्य-चन्द्र दोनों लोक के शाश्वत देवता हैं। निमाड़ के पग्ल्या (चरण चिह्न) चित्रांकन में जिरोती, नाग, व्रत, उपवासों के चित्रांकन और लोकदेवी संजा माता के गोबर से अंकित चित्रों में तो इनका सोलह दिन तक चित्र बनाया जाता है। भारत में सूर्य और चन्द्रमा को देवताओं की आँखों के रूप में निरूपित किया गया है।

सूर्य को निमाड़ी भाषा में सुरीजमल कहा गया है। सूर्य प्रभात में उदय होता है और सूर्य की उपासना निमाड़ी प्रभाती गीतों से होती है-

सुरीजमल उगियो बयड़ा केरी कोर सुरीजमल उगियो
तम वो जागो अशोक भाई उमराव सुरीज मल उगियो
तम तो लेदो श्रीराम को नाँद सुरीजमल उगियो।

सुन्दर क्षितिज में पहड़ियों की किनार से सूर्य उदित हो रहा है। हे अशोक भाई, तुम उठो और परमेश्वर का नाम लो।

माता उच्चो पीपलीयो लम्बा पान
चढ़ीया पर सुरीमल उग्यो रह्यो
माता उग्यो राजा धणियर जी की पाग
तिल्व पर सुरीमल उगी रह्यो
माता उग्यो राणी रणुबाई की गोद
पल्व पर सुरीमल उगी रह्यो

ऊँचे से पीपल के लम्बे-लम्बे पत्ते हैं। चढ़ते हुए सूर्य से पीपल के पत्ते चमक रहे हैं। चढ़ते हुए सूर्य के प्रकाश से धणियर जी का साफा चमक रहा है। मानो सूर्य धणियर की कलंगी से उदय हो रहा है। उदित होता हुआ सूर्य रानी रनुबाई की गोद में उदित हो रहा है। रानी रनुबाई के गर्भवती होने का संकेत है। मानो सूर्य रानी रनुबाई के पल्ल से उदित हो रहा है।

चन्द्रमा - चन्द्र अमृत का प्रतीक है। चन्द्रमा शीतलता और शुभ्रता का देवता है। चन्द्रमा काम और कामदेव का प्रतीक है। यह वनस्पतियों में मिठास भरने वाला है। चन्द्रमा पृथ्वी पर चाँदनी के रूप में अमृत बरसाता है। इसे कई लोकगीतों में सम्बोधित किया गया है। चन्द्रमा को चाँदा कहा है-

चाँदा थारी चाँदणी सी रात राज
रमवा जो गई थी सीता रायर म राज
रम्या-रम्या घड़ी दुई चार राज
ऐतरा म आई गई भोली तिङली राज

चन्द्रमा की निर्मल चाँदनी रात थी। नवदुर्गा का समय था। ऐसे में एक स्त्री घर से गरबा नृत्य करने चली है और उसने दो चार घड़ी नृत्य किया और उसे नींद आने लगी है-

चन्दा बिना चाँदणी तारा रे बिना रात
पुरुष बिना स्त्री सुणी लागऽ
माय बिना मायको बाप रे बिना लागऽ
भाई बिना बइण सुनी लागऽ

चन्द्रमा के बिना चाँदनी रात सूनी लगती है। चाँदनी होती ही नहीं है। तारों के बिना रात्रि की शोभा नहीं बढ़ती है। माँ के बिना मायका सूना लगता है। पिता के बिना लाड़-प्यार अधूरा होता है। भाई के बिना बहन सूनी लगती है।

लोकप्रतीकों की संक्षिप्त जानकारी भारत में वृक्षपूजा आदिकाल से आज तक अखंड रूप में प्रचलित रही है। तुलसी, पीपल, बरगद, आम, दूर्वा इनकी पूजा भारतीय संस्कृति में समाहित है।

तुलसी - जिस घर में तुलसी की पूजा नित्य-प्रतिदिन की जाती है, उस घर में यमदूत प्रवेश नहीं करते। तुलसी देवपौधा है। इसमें विष्णु भगवान् का वास है। प्रात: स्नान के बाद तुलसी पर जल चढ़ाकर पूजा करना भारतीय स्त्री की दिनचर्या का अनिवार्य हिस्सा है। तुलसी क्यारे पर दीपक लगाना भी स्त्रियों का नित्य कर्म है। तुलसी के पत्ते के बिना भगवान को भोग नहीं लगता है। कार्तिक मास में स्त्रियाँ स्नान करके भगवान, कृष्ण को तुलसी के मंजर (फूल) चढ़ाती हैं। तुलसी दल और गंगाजल मृत्यु के समय प्राणी के मुख में डालते हैं, ताकि उसके मोक्ष गति प्राप्त हो। अग्निदाग, अंतिम संस्कार के

समय तुलसी का सूखा पौधा चिता में रखकर मनुष्य को अग्निदान दिया जाता है। ग्रहण के समय तुलसीदल जल, भोजन और कपड़ों में रखने से ग्रहण का प्रभाव नहीं होता, वे पवित्र रहते हैं।

देवप्रबोधनी एकादशी को तुलसी का विवाह रचाया जाता है। तुलसी एक औषधीय पौधा है। तुलसी के पत्ते सुबह से खाने पर मनुष्य स्वस्थ और नीरोग रहता है। खाँसी आने पर चाय में तुलसी के पत्ते, काली मिर्च, अदरख डालकर पीने से आराम मिलता है। तुलसी की माला गले में पहनना लोक में शुभ, पवित्र और कल्याणकारी माना जाता है।

पीपल – पीपल का वृक्ष भगवान विष्णु का प्रतीक है। पीपल की पूजा दशामाता की साढ़े साती से ग्रस्त मनुष्य को राहत दिलाती है। पीपल की पूजा दशामाता व्रत में की जाती है। पीपल के प्रत्येक पत्ते में देवताओं का वास है। मंगलवार को पीपल का पत्ता लाकर उसे जल से धोकर उस पर केवल सिन्दूर या कुमकुम की बिन्दी लगाकर रखें। संध्या के समय बहते जल नदी या नर्मदा में विसर्जन कर दें। पत्ता छोड़ते समय प्रार्थना करे– हे भगवान्! मुझे कर्ज से मुक्ति दिलाओ, ऐसा कहकर छोड़ दे। इससे मनुष्य कर्जमुक्त होता है। पीपल की लकड़ी पवित्र है, इसलिये यज्ञ और हवन में उसका उपयोग किया जाता है।

बड़ या बरगद – वटवृक्ष आयु, गंभीरता, धैर्य, विशालता का प्रतीक है। इसमें स्वयं सृष्टिकर्ता ब्रह्मा का वास है। यह ब्रह्मा का प्रतीक है। पीपल में विष्णु, नीम में शिव और वटवृक्ष में ब्रह्मा का वास है। इन तीनों का रूप है त्रिवेणी। वटवृक्ष की पूजा ज्येष्ठ माह की वटसावित्री के दिन सुहागिन महिलाएँ पति की दीर्घायु के लिये करती हैं। वटवृक्ष विशालता का प्रतीक है। इसकी छाया सभी को सुखद लगती है। बड़ के पत्ते घुटनों के दर्द पर औषधि का काम करते हैं। वटवृक्ष अमरता का प्रतीक है।

आम – आम को देवतरू माना गया है। यह मातृशक्तियों का प्रतीक है। प्रत्येक मांगलिक कार्य में आम के पत्ते कलश के ऊपर रखे जाते हैं। आम के पत्तों से वन्दनवार तोरण बनाये जाते हैं। आम के पत्तों से विवाह मंडप आच्छादित होता है। निमाड़ के लोकप्राण उत्सव गणगौर में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। गणगौर पर्व में लड़कियाँ फूलपाती खेलकर आम के पत्ते कलश पर रखकर लाती हैं। जहाँ जवारों की वाड़ी (स्थान) होता है, आम के पत्ते वहाँ चढ़ाये जाते हैं। आम के पत्ते देवी की प्राण प्रतिष्ठा के प्रतीक हैं। आम के पत्ते आम के डंठल और कच्चे आम के बिना रनुदेवी की पूजा नहीं हो सकती है। आम की पूजा आषाढ़ मास (बारह साल) में आम और कोयल बनाकर की जाती है। इसे कोकिला व्रत कहते हैं। यह व्रत बारह साल में एक ही बार आता है। आम का फल कामनापूर्ति का फल है। आम का फल सन्तानहीन नारी की गोद में देकर उसकी गोद भरी जाती है। संत बोदरुदास बाबा के समाधि स्थल नागझिरी में यह प्रथा है। इससे वन्ध्या स्त्री को बच्चा होता है।

ताम्बा रतणीया रे तलावऽ अमरित अम्बो मवरियो
अम्बा नीचऽ छे वाट, वहाँ रड सासर वासेण
कि थारो पीयर दूर कि थारी सौतेली
नही म्हारो पीयर दूर नहीं म्हारी सासु सौतेली
हम पर सऊक को साल, ते गुण रा सासर वासेणो
हेडू थारो सऊक को साल, वाझा घर पालाणो बघाडु जी

तालाब के पास एक आम का पेड़ है। उसके नीचे एक स्त्री रो रही है। रनुदेवी ने उससे पूछा– तुम क्यों रो रही हो? क्या तुम्हारा मायका दूर है या तुम्हारी सास का दुःख है। वन्ध्या स्त्री ने कहा– मेरे पति ने मुझसे कहा है कि यदि तुम्हें बच्चा नहीं हुआ तो मैं दूसरी शादी कर लूँगा। आने वाला साल मेरे लिये सौत का साल बनकर आयेगा। हे कृपालु देवी! मुझे एक संतान दो। देवी ने उसे आश्वस्त करके कहा– इस साल तुझे बच्चा हो जायेगा। ऐसा वरदान संतानदात्री रतुदेवी ने उस स्त्री को दिया है।

दूर्वा – दूर्वा एक प्रकार की घास है, जो हमेशा ही हरी रहती है। दूर्वा प्रकृति की हरीतिमा का प्रतीक है। दूर्वा दल गणेश जी और उनके वाहन मूषक को प्रिय है। अतः गणेश जी की पूजा में इक्कीस दूर्वादल चढ़ाये जाते हैं। यज्ञ-हवन में भी दूर्वादल का उपयोग होता है। नौ समिधाओं में दूर्वा भी परिगणित है। दूब नम्रता का प्रतीक है।

म्हारा आँगनामऽ धवली दुरूव
नित्य सीचू नित पालवऽ

मेरे आँगन में दूर्वा उगी हुई है। मैं उसे रोज पानी से सिंचित करती हूँ। यह नित्य प्रतिदिन हरी होती है, पल्लवित होती है। दूर्वा को पानी चढ़ाना पूर्वजों को पानी पहुँचाने का प्रतीक है।

जिरोती – निमाड़ का भित्तिचित्र जिरोती त्योहारों के आगमन का प्रतीक है। जिरोती के बाद से ही सभी त्योहार मनाये जाते हैं।

मातृदेवी – मातृदेवी गणगौर की विदाई के समय में एक पोटली बाँधी जाती है। लोकश्रुति है कि इस पोटली में बँधकर आज सभी त्योहार समाप्त हो गये। यह गणगौर की विदाई, त्योहार की विदाई का प्रतीक है।

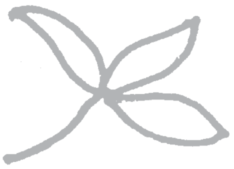

निमाड़ के प्रमुख व्रत-उपवास, अनुष्ठानों में पाँच कंकर की गौर और पैसा सुपारी रखकर पूजा करने की प्रथा है। पाँच गौर माता-पार्वती का प्रतीक है। पैसा सुपारी श्री गणेश जी का प्रतीक है।

बाँस – बाँस वंशवृद्धि का प्रतीक है। लोकश्रुति है कि किसी वन्ध्या स्त्री को इसका बीज खिला दिया जाय तो उसे संतान की प्राप्त होगी। निमाड़ में विवाह में बेटी की विदाई के समय दहेज के साथ बाँस की टोकनी और सुपड़ा आवश्यक रूप से दिया जाता है।

यज्ञोपवीत – इसे जनेऊ भी कहते हैं। यज्ञोपवीत धारण करने से आयु, शक्ति और विवेक में वृद्धि होती है। इसको कान तें लपेटकर मल-मूत्र को त्याग करने से कब्ज का नाश होता है। कान के पास नस के दबने से यह एक्यूप्रेशर का कार्य करता है। ब्लडप्रेशर, डायबिटिज, प्रमेह, बहुमूत्र रोग से छुटकारा मिलता है। यज्ञोपवीत पवित्रता का प्रतीक है। हिन्दू धर्मावलम्बी इसे धारण करते हैं। यज्ञोपवीत हिन्दू धर्म की प्रमुख पहचान है।

पान और मेहंदी – पान और मेहंदी प्रेम का प्रतीक है। जिसे भी पान और मेहंदी रचे, वह अत्यंत प्रेम करने वाला होता है। स्त्री से रचे तो वह अपने पति से अत्यधिक प्रेम करेगी, पुरुष को रचे तो वह अपनी पत्नी से विशेष प्रेम करेगा।

बिल्वपत्र –बिल्वपत्र हमेशा शिव को चढ़ाये जाते हैं। बेलपत्र समर्पण का प्रतीक है। इसे मन, वचन कर्म से जो शिव को समर्पित करेगा, वह कल्याण को प्राप्त होगा। इसलिये बेलपत्र मन, वचन, कर्म का प्रतीक माना जाता है। बेलपत्र सत, रज, तम तीनों गुणों का प्रतीक है। ज्ञान, कर्म क्रिया का प्रतीक है। बेलपत्र ईश्वर की आस्था का प्रतीक है।

पंचामृत – पंचामृत का मतलब है पाँच अमृत-दूध, दही, घी, शहद, शक्कर इनसे पंचामृत बनता है। इससे भगवान् का अभिषेक होता है।

दूध शुभ्रता का प्रतीक है। दही निष्कलंक का प्रतीक है। घी स्निग्धता का प्रतीक है। शहद शक्ति का प्रतीक है। शक्कर मिठास का प्रतीक है।

हमारा जीवन शुभ रहे। स्वयं अच्छे बनें, अपने जीवन में मधुरता लाये, मधुर व्यवहार करें, इससे सफलता हमारे कदम छुए। साथ ही हमारे भीतर महानता के गुण उत्पन्न हों, ऐसा है, पंचामृत या पाँच अमृत का महत्त्व।

चावल – हर पूजा-पाठ व्रत, उपवास, अनुष्ठान में पूर्ण (पूरा चावल, जो खंडित न हो) चढ़ाने की प्रथा है। चावल पूर्णता

का प्रतीक है। इसका सफेद रंग शुभ्रता का प्रतीक है। पूर्ण चावल को चढ़ाने का तात्पर्य है यह है कि हमें पूजन का फल पूर्ण रूप से मिले।

गोबर – गोबर किसान का सबसे बड़ा धन है। गोबर की खाद से किसान की फसल उत्पन्न होती है। गोबर की खाद से किसान धनवान बनता है। गोबर से श्राद्धपक्ष के सोलह दिन तक बालिकाएँ संजा की आकृतियाँ बनाकर उस पर फूल चिपकाती हैं, संध्या को आरती करके प्रसाद बाँटती हैं। गोबर से निर्मित आकृतियाँ संजा का स्मृति प्रतीक चिह्न है। गोबर से गणेश जी बनाकर उसे अनाज के ढेर पर बिठाकर, उसकी पूजा करके अनाज को नापते हैं। गोबर के गणेश जी से प्रार्थना की जाती है हमारा घर अन्न-धन से भरा रहे। तात्पर्य यह है कि गोबर की खाद नहीं होती, तो इतना अनाज पैदा नहीं होता, इसलिये गोबर धन का प्रतीक है। गोबर से घर-आँगन लिपा जाता है। गोबर से गोवर्धन बनाकर पूजा करना याने गोबर धन को पूजने का प्रतीक है।

अशुभ प्रतीक – काँच का स्वतः गिरकर टूटना, किसी अशुभ का होने का प्रतीक है। गुरुवार को पानी के मटके धोना, घर को लीपना, धोबी घर कपड़े देना, महिला द्वारा केशों को धोते हुये स्नान करना, पुरुष का बाल कटवाना या दाढ़ी बनाना अशुभ का प्रतीक हैं। ये दरिद्रता लाते है। दीपक से दीपक जलना अशुभ कार्य है। जलते दीपक को बुझाना अशुभ का प्रतीक है। दाना चुगते हुये पक्षियों को और पानी पीती गाय को भगाना अशुभ कार्य का प्रतीक है। गलियों में घूमने वाले अल्हड़ सांड को मारना पाप कर्म है। सांड, शिव के नंदी का स्वरूप है।

निमाड़ में प्रतीकों का संसार

लक्ष्मीनारायण तिवारी

संसार यानी सृष्टि। सृष्टि का मतलब समस्त ब्रह्माण्ड। इस ब्रह्माण्ड में जो कुछ भी दृष्टिगोचर हो रहा है, वह सब कुछ प्रकृति की असीम कृपा का फल है। प्रकृति प्रतीकमयी है। प्रकृति 'अदिति' है और अदिति की प्रकृति है। अदिति देवताओं की माता है, कश्यप पिता हैं, जिन्होंने अमृतपान किया है। अमृतमंथन की कथा अपने-आप में एक मिथकीय प्रतीक के रूप में हमारे सामने आती है। संभवत: समस्त भारतीय आख्यान परम्परा एक प्रतीक-परम्परा का ही महत्त्वपूर्ण अंग माना जा सकता है।

जब पृथ्वी पर प्रलय का प्रकोप आया, तब समूची पृथ्वी जलमग्न हो चुकी थी। केवल अपंग लोग, तपस्वी, ऋषि-मुनि और शिव की मानसपुत्री नर्मदा, जिसका एक नाम 'रेवा' भी है, बची थी। मनु ध्यानमुद्रा में हिमालय के उच्च आसन पर बैठे थे। जब प्रलय की गति शांत हुई, तब मनु की ध्यानावस्था भंग हुई और उन्होंने देखा, चारों ओर केवल जल ही जल है, पृथ्वी पर सारा वातावरण अंधकारमय हो गया है। ठीक उसी समय सूर्योदय हुआ, समूची पृथ्वी अंधकार से उभर कर प्रकाशमयी हो गयी है। तब मनु महाराज ने चारों ओर अपनी दृष्टि दौड़ाई तो अपने आपको अकेला पाया। तभी अचानक उनकी दृष्टि सूर्य की तरफ गई, उन्होंने अपने आपसे कहा- मैं अकेला कहाँ हूँ? मेरे सामने ये सूर्यरूपी बिन्दु जो है, यह बिन्दु और मैं मिलकर दस हो गये हैं। इस तरह सृष्टि की पुनर्रचना में फिर से सूर्यरूपी बिन्दु सक्रिय हो गया। सूर्य सृष्टि का पहला प्रकाशवान प्रतीक बना। मनु परम ज्ञानी तो थे ही, उन्होंने निश्छल मन वाली प्रकृति का वरण कर लिया। प्रकृति सक्रिय हुई। जल सूखने लगा। धरती निकल आई और फिर से नदी, पहाड़, पेड़-पौधे, झील, झरने, पशु-पक्षी, स्त्री-पुरुष पृथ्वी पर विचरने लगे। तब उनके पास न कोई भाषा थी और न कोई शब्द, न उच्चारण था, मनुष्य कोरा था। था तो केवल प्रकृति का स्वर। नदी-पहाड़, झील-झरनों की कल-कल, पशु-पक्षियों के चहचहाने की आवाजें। पर मनुष्य के पास ऐसा कुछ भी नहीं प्राप्त था। वह तो प्राकृतिक अवस्था में इधर-उधर भटकता रहता था। पर पेड़-पौधे और पशु-पक्षी अपने नैसर्गिक संज्ञान से

प्रजनन क्रिया में स्वाभाविक रूप से रत हुए और सृष्टि का प्राकृतिक सौन्दर्य निखरने लगा। इससे स्त्री और पुरुष को भी आभास हुआ कि हम भी सन्तानोत्पत्ति में संलग्न हो सकते हैं, इस तरह दो से तीन, तीन से चार में मनुष्य आबादी बढ़ने लगी और एक दिन पृथ्वी मनुष्यों की हो गई। यही कहानी मनुष्य की है।

कुछ समय बाद स्त्री-पुरुष में सामंजस्य का विचार उत्पन्न हुआ और वह गिरि-कंदराओं में रहने लगा। धीरे-धीरे उन्हें एक दूसरे को अपने मन के भाव समझने के लिये कुछ संकेतों का आभास होने लगा, उन्होंने चट्टानों पर नुकीले पत्थरों के सहारे अपने मन की बात उकेरने का उपक्रर्म किया। जैसे शिकार पर जाने का संकेत, हिंसक पशु का भय का संकेत, जंगली जानवरों की आकृतियाँ, मानव आकृतियों को वह आड़ी-तिरछी रेखाओं से व्यक्त करने लगा था। यहीं से चित्रों की प्रतीकात्मकता शुरू हुई।

युग बीतते गये, सदियाँ बीतती चली गईं। आज मानव सभ्यता की ऊँचाइयों के शिखर पर बैठा है। सब कुछ बदल गया, लेकिन मनुष्य अपनी प्राकृतिक अवस्था को नहीं भूला। उसने ऐसे प्रतीक रचे, जिसमें उसके वे चिह्न बचे रहे, जो प्रारंभिक मानव के थे। उसके ये अवशेष निमाड़ में मनाये जाने वाले, तीज-त्योहारों में तो खासतौर से मिल जाते हैं। ये प्रतीक बेटी को अपनी माँ से, बहू को अपनी सास से परम्परागत रूप से मिलते आ रहे हैं। महिलाएँ प्राय: मांगलिक अवसरों, तीज-त्योहारों पर घर को सुशोभित करती रहती हैं। रांगोली जैसा मांगलिक रेखांकन तो प्रतिदिन प्रति मुख्य द्वार पर प्रात: सुशोभित होता है। एक जगह राजा भरथरी ने लिखा है- रांगोली पृथ्वी का अलंकरण है।

मैं उस निमाड़ प्रांत भूमि की बात कर रहा हूँ, जिसे माँ रेवा का स्नेह प्राप्त है। विन्ध्याचल के दक्षिण और सतपुड़ा के पूर्वी पठार के मध्य में बहने वाली नदी नर्मदा ही रेवा है। रेवा निमाड़ की आत्मा है, प्राण है। अगर रेवा यानी नर्मदा को हटाकर एक तरफ रख दिया जाय, तो निमाड़ का कोई अस्तित्व बोध नहीं रहेगा।

निमाड़ प्रान्त को यदि हम पूर्णरूपेण पौराणिक जनपद कहें, तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। निमाड़ ग्रामीण क्षेत्र के लोगों का जीवन कृषि पर निर्भर है और हमारी संस्कृति पूरी तरह से कृषि सभ्यता पर आधारित है। हमारे पर्व-त्योहार कृषि चक्र पर निर्भर हैं, जिनके आधार पर अनेक लोकप्रतीक गढ़े गये हैं

निमाड़ क्षेत्र में मांगलिक तीज-त्योहारों, पर्वों को बड़ी ही आत्मीय दृष्टि से अपनाया जाता है। वर्षा के आगमन से ही तीज-त्योहार प्रारंभ हो जाते हैं। हिन्दू संस्कृति में चैत्र मास से वर्ष प्रारंभ होता है, आषाढ़ मास के आधा माह समाप्त होते-होते आकाश में काले बादल उमड़कर-घुमड़कर आने लगते हैं। महाकवि कालिदास ने आषाढ़ के मेघ को दूत बनाकर 'मेघदूत' काव्यग्रंथ की रचना की थी। आषाढ़ में कुछ-कुछ बूंदे गिरते-झरते सावन का आगमन हो जाता है। सावन शिव आराधना का महीना है, शिव जो तारक भी हैं और संहारक भी हैं। पूर्णिमा के पन्द्रह दिनों के बाद अमावस्या आती है। अमावस्या से महिलाओं के आराधना-उपासना के दिन प्रारंभ हो जाते हैं। कहते हैं मातृशक्ति एक ऐसी शक्ति है, जिससे संस्कृति सँवरती है।

श्रावणी अमावस्या को जिरोती अमावस्या कहकर संबोधित किया गया है। लोग इसे 'हरियाली अमावस्या' भी कहते हैं। हरियाली अमावस्या कहने के पीछे जो भाव हैं, वे बिलकुल स्पष्ट हैं, चारों तरफ हरियाली ही हरियाली दिखाई देती है। क्या खेत, क्या जंगल, क्या उपवन हरे- भरे वृक्ष, कल-कल करती नदियाँ सभी तरफ मनोहारी दृश्य, जो मन को आनंदित करते हैं। जिरोती अमावस्या पूर्णरूपेण महिलाओं का पर्व है।

जिरोती के संबंध में प्रचलित एक किंवन्दती है- जिरोती छोटे-छोटे बच्चों की खतरों से रक्षा करने वाली देवी है। जिरोती के संबंध में एक कथा है- जरासंध को जब उसकी सौतेली माँ ने उसे चीरकर फेंक दिया था, तब जिस बहन ने उसकी रक्षा की, वही बहन आज जिरोती के नाम से पूज्य है।

डॉ. जगदीश गुप्त ने लिखा है- जिरोती का संबंध जिस 'जरा' से है, वह जरासंध शब्द में ही उपस्थित है। सूरदास ने

चन्द्रमा विषयक विरह के पद में जरादेवी कहकर इसका उल्लेख किया है।

देहि असीस जरादेवी को, राहु केतू किन जोर है।

बौद्ध परम्परा में 'हारीति' नामक मातृदेवी की मूर्तियाँ मिलती हैं, परंतु जिरोती शब्द 'जरावती' शब्द से ही विकसित है।

निमाड़ में जिरोती रंगों की रोली है, लोककला की दृष्टि से जिरोती निमाड़ का सर्वश्रेष्ठ भित्तिचित्र है। जिरोती का चित्र जब घर की दीवार पर सुशोभित होता है, तो उसे देखकर ऐसा प्रतीत होता है, जैसे जीवन को अलंकृत करने की कोशिश मनुष्य ने बहुत पहले शुरू कर दी थी– 'जिरोती सगला तिवार लईनऽ आवज।'

जिरोती का त्योहार आने के आठ दिन पूर्व से बहन–बेटी अपने माता–पिता के घर आ जाती है। जिरोती एक चित्र है, जिसे घर की महिलाएँ जिरोती अमावस्या आने के पाँच–सात दिन पहले से बनाना शुरू कर देती हैं। घर के मध्य भाग की दीवार को गोबर मिट्‌टी से पोत दिया जाता है, जिसे निमाड़ी में 'कवला पोतना' कहते हैं। अगर चूने से पुती दीवार हुई तो उसे चूने से और उजाल दिया जाता है, दीवार अच्छी तरह सूख जाने पर उस पर जिरोती का चित्र उकेरा जाता है।

विभिन्न प्रकार के रंगों का संयोजन ही जिरोती का मूल स्वरूप निखारता है। रंग मूलतः घरों में ही सहज रूप से प्राप्त हो जाते हैं, लिपी–पुती पृष्ठभूमि पर गेरू से लाल चौकोर रंग से एक फिट वर्गाकार रूप बनाया जाता है, चौखट बनाया जाता है। उसके पश्चात् हल्दी को गोंद के सहारे सपाट पत्थर पर घिसकर पीला रंग कटोरी में इकट्‌ठा कर लिया जाता है। इसी प्रकार कोयले से काला, दहीखड़ी से सफेद, नील से नीला, पेवड़ी से पीला, पेड़ों की पत्तियों के रस से हरा, सिन्दूर से सिन्दूरी, इस तरह जितने रंग चाहिए, अलग–अलग कटोरियों में तैयार कर लिये जाते हैं। गोंद रंग को पक्का करने लिये मिलाया जाता है।

जिरोती के चित्र को आकार देने में तुवर काठी का ब्रश उपलब्ध हो जाता है, जिस पर रुई लपेटकर अपनी आवश्यकता के अनुसार छोटी–बड़ी ब्रश बना ली जाती है। सभी रंगों की कटोरियों के लिए अलग–अलग डंडी यानी ब्रश उपयोग में लाया जाता है।

जिरोती का निर्माण घर की बहू–बेटियाँ करती हैं, वे अपने सधे हाथों से रंग भरना प्रारंभ करती हैं। गेरू से पुते लाल चौखट में चार सरी याने चार, लकीरों वाली फ्रेम को पीले रंग के बेलबूटों से खूब सजाया जाता है। चौखटे की सजावट के बाद चौखटे के बीचों–बीच आदि शक्ति देवी 'जिरोती' की तीन या पाँच आकृतियाँ बनाई जाती हैं। सारी आकृतियाँ खड़ी होती हैं। जिरोती के सारे चित्र गुणित (×) एवं धन (+) की खड़ी लकीर के आधार से ही बनाये जाते हैं, मनुष्य की आकृति के लिये गुणित (×) का चिह्न उपयोग में लाया जाता है। गुणित के चिह्न को ऊपर, नीचे से एक रेखा से बंद करके मनुष्य की धड़, नीचे की ओर दो खड़ी लकीरें खींचने से पैर बनाये जाते हैं। ऊपर की ओर आयत बनाने से सिर, कान आदि की अभिव्यक्ति अपने आप बन जाती है। धड़ के ऊपरी सिरे से कुछ नीचे फिर ऊपर रेखाओं के अंकन से हाथ बन जाते हैं। हाथ में एक छोटी आड़ी लकीर डालकर उस पर पाँच छोटी–छोटी, खड़ी लकीरे खींचने से हथेली और अंगुलियाँ बन जाती हैं। आयत के बीचो–बीच एक खड़ी रेखा खींचने से आँखें, मुँह, नाक बन जाते हैं। बालक आकृति के लिये चितेरे बड़ा सरल तरीका अपनाते हैं। एक खड़ी लकीर पर ऊपर और नीचे के हिस्से में दो–दो थोड़ी तिरछी रेखाएँ मिला देने से चलते–फिरते दौड़ते बालक बन जाते हैं।

पद्मश्री रामनारायण उपाध्याय ने अपनी पुस्तक में लिखा है– यह एक बड़े विचित्र संयोग की बात है कि इन चित्रों का स्वरूप प्रागैतिहासिक काल के चित्रों से अत्यधिक मिलता है। जिरोती का भित्तिचित्र पारिवारिक जीवन की अभिव्यक्ति है। चित्र में जो आकृतियाँ समाविष्ट की जाती हैं, वे सम्पूर्ण जीवन की अभिव्यक्ति हैं। जैसे चाँद, सूर्य, मांगलिक प्रतीक स्वस्तिक, झूला, पनिहारिन, बेड़ा, गाय–बछड़ा, निसरनी मुख्य द्वार पर गमला, जिसमें खिला हुआ पुष्प, बिच्छू, दही मथती महिला का अंकन प्रतीकात्मक होता है। मध्य भाग में आदिशक्ति की तीन आकृतियाँ जिरोती देवी का प्रतीक मानी जाती हैं।

सम्पूर्ण आकृति बन जाने के बाद जिरोती अमावस्या के दिन परिवार के सभी सदस्य प्रातःकाल स्नान से निवृत्त होकर जिरोती पूजा–अर्चना में संलग्न हो जाते हैं। घर की बहू–बेटियाँ पूजा की थाल सजाकर पूजा करने की प्रक्रिया प्रारंभ करती हैं। पूजा प्रारंभ करने से पहले जिरोती की आँखें खोलने का प्रावधान

है। निमाड़ में जिसे 'डोलाखोलणूं' कहा जाता है। मुख्य आकृतियों में जहाँ आँख का स्थान होता है, वहाँ पर सफेद पर काले रंग की टिपकियाँ लगा दी जाती हैं और देवी की आँखें खुल जाती हैं, इसे 'प्राण प्रतिष्ठा' भी कहा जाता है।

आँखों के खोलते ही धूप-दीप, नैवेद्य तथा कुंकुम, हल्दी अक्षत से विधि-विधान से जिरोती की पूजा की जाती है। एक-एक कर परिवार के सभी सदस्य पूजन कर जिरोती देवी के चरणों में नमन करते हैं। पूजन के पश्चात् सबको प्रसाद बाँट दिया जाता है। बहू-बेटियाँ बड़ों के पैर छूती हैं और आशीर्वाद प्राप्त करती हैं।

जिरोती के संबंध में मेरा मन्तव्य कुछ अलग है। यदि यह जिरोती जरा देवी है, तो मध्यभाग की आकृति केवल एक होती है, जैसे कुलदेवी की आकृति मांगलिक प्रसंगों पर एक ही बनाई जाती है। मैं समझता हूँ ये तीन आकृतियाँ लक्ष्मी, सरस्वती और पार्वती की ही हो सकती हैं, क्योंकि ये तीन देवियाँ सुख-समृद्धि की प्रतीक हैं और हम जिरोती के भित्तिचित्र में घर-परिवार और सम्पूर्ण जीवन को रेखांकित करते हैं। हम इस मनोभाव से अंकित करते हैं कि आदि देवियाँ पूरे जीवन की रक्षा करने वाली हैं।

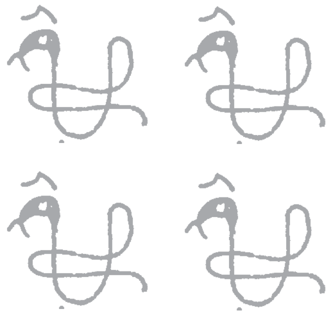

रामनारायण उपाध्याय के इस कथ्य से पूर्ण सहमत हूँ कि यदि निमाड़ में जिरोती का त्योहार नहीं होता तो निमाड़ के घरों की दीवारें चित्रों के बगैर सूनी होती। जिरोती भित्तिचित्र का अंकन पूर्णत: प्रतीकात्मक है। इसमें जो भी प्रतीक गढ़ गये हैं, वे प्राचीनतम् प्रतीक हैं। जिरोती की आकृतियों का साम्य प्रागैतिहासिक काल के गुहाचित्रों में मिलता है। निमाड़ में अभी भी उसी तरह मनुष्याकृतियाँ बनाई जाती हैं, जिस प्रकार आदिम मानव बनाता था। जिरोती चित्र की प्राचीनता का इससे सहज पता लग जाता है।

नाग का रेखांकन

जिरोती अमावस्या के ठीक चार दिन पश्चात् पाँचवें दिन नागपंचमी का त्योहार आ जाता है, अर्थात् श्रावण शुक्ला पंचमी के दिन नागपंचमी का त्योहार इसी दिन प्रात: बेला में नाग-भित्तिचित्र बनाया जाता है।

आदिकाल से वेदों में, अग्नि-वरुण, सूर्य इत्यादि की पूजा-अर्चना स्तुति का वर्णन मिलता है, उसी प्रकार लोक जीवन में नाग देवता प्रतिष्ठित है।

त्योहार के पीछे मुख्य उद्देश्य, शेषनाग की इस असीम कृपा के प्रति जन-जन की कृतज्ञता प्रकट करना है। जिन्होंने अपने फन पर पृथ्वी को धारण किया है।

भारत में नागपूजा अति प्राचीन समय से प्रचलित है, इसका प्रमाण कुछ पुराणों में मिलता है। भविष्यपुराण में नागपंचमी के बारे में लिखा है-

श्रावणे मासि पंचम्यां, शुक्लपक्षे नराधिप।
द्वारस्यो उभये लेख्या गोमयेन विषोल्वणा:।।

अर्थात्- हे राजन्! विष से भरे हुए नाग श्रावण मास में शुक्लपक्ष में पंचमी तिथि को द्वार के दोनों ओर गोबर से चित्रित किये जाने चाहिये। इससे नाग के काटने का भय घर में नहीं रहता। इसी प्रकार मत्स्यपुराण में भी कहा गया है-

नागश्चैव तु कर्त्तव्या: खड्गखेटकधारिणा:।
अत: सर्वाकृतिस्तेवा नाभेरुर्ध्वं तु मानुषी।।

अर्थात् नागों को खड्ग, खेटक आदि धारण किये हुए चित्रित करना चाहिये। अत: उनकी सारी आकृतियाँ नाभि से ऊपर मनुष्य की भाँति चित्रित करना चाहिए। इसका मतलब नागों का कभी आधा शरीर मनुष्य का होता था। कई जगह भी आज नाग इसी प्रकार चित्रित किये जाते है।

निमाड़ में नाग-पूजा का प्रारंभ कब से हुआ, कुछ प्रामाणिक तौर पर कहा नहीं जा सकता, परंतु इतना अवश्य है कि निमाड़ में कर्कोटक नागवंशी जाति के नाम पर नाग पूजा प्रारंभ हुई। उसके कई प्रमाण मिले हैं। कोरकू जनजाति के लोग अपने आपको कर्कोटक मानते हैं।

निमाड़ जनपद में नाग जिरोती की तरह प्रसिद्ध हैं। जिरोती कई रंगों से बनाई जाती है, लेकिन नाग केवल दो रंगों से संजोये जाते हैं। नाग का भित्तिचित्र जहाँ जिरोती बनाई जाती है, ठीक उसी के ऊपर बनाया जाता है। भित्तिचित्र मध्यद्वार के दोनों ओर बनाये

जाते हैं, एक तरफ नाग तो दूसरी ओर नागिन का भित्तिचित्र अंकित किया जाता है। नाग भित्तिचित्र भिन्न-भिन्न स्वरूपों में भिन्न-भिन्न जाति समाज में बनाये जाते हैं। जनेऊ के नाग, कुंडली के नाग, कोठड़ी के नाग इत्यादि। जिरोती और नाग में थोड़ी भिन्नता है, जिरोती में आकृति का महत्त्व है, जबकि नाग के चित्र में रेखा का महत्त्व है।

नागपंचमी के दिन घर की बहू-बेटियाँ प्रात: जल्दी उठकर स्नानादि से निवृत्त होकर कोयले को घीसकर उसमें गोंद मिलाकर रंग तैयार कर देती है। उसी काले रंग के द्वारा तुअर-तूलिकाओं से नाग का भित्तिचित्र निर्मित किया जाता है। नाग भित्तिचित्रों का रेखांकन केवल पुरुषों द्वारा ही किया जाता है, लेकिन पूजा सभी लोग करते हैं। नाग भित्तिचित्र के बनाने में एक विशेषता पाई जाती है, वह यह है कि बिना तूलिका उठाये कई कुंडली के नाग बनाये जाते हैं। नाग भित्तिचित्र में मध्य भाग में नाग चित्रित किया जाता है। आस-पास चाँद-सूरज नीचे के भाग में आसन ऊपर छत्र, बिच्छू इत्यादि भी चित्रित किये जाते हैं। सारे चित्र प्रतीकात्मक ही बनाये जाते हैं।

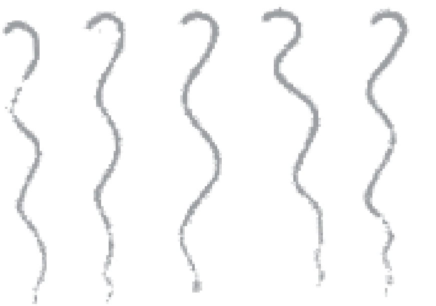

नाग का पूरा चित्र बन जाने पर ठीक जिरोती की तरह ही नाग की आँखें खोलने का प्रावधान है, जिसे निमाड़ में डोला उघाड़नू कहा जाता है। उसे 'प्राणप्रतिष्ठा' की संज्ञा दी गई है। प्राणप्रतिष्ठा के बाद दूध-दही का भोग लगाया जाता है। कपास की पोनी के द्वारा कुंकुम अक्षत से पूजा की जाती है। कपास की माला भी बनाई जाती है। कपास को करीबन तीर-चार इंच लम्बा करके दो अंगुलों से कपास को बीच-बीच में दबाकर माला की आकृति दे दी जाती है। उस माला के दोनों सिरों पर कुंकुम लगाकर आकृति के दोनों ओर चिपका दी जाती है। उससे नाग भित्तिचित्र की सुन्दरता और बढ़ जाती है।

घर पर नाग की पूजा पूर्ण हो जाने पर महिलाएँ बाँबी का पूजन करने जाती हैं। बस्ती के बाहर कहीं न कहीं बाँबी अवश्य होती है। अनेक गाँवों में तो नाग मंदिर होते हैं, लोग नाग मंदिर में जाकर नारियल चढ़ाकर पूजा करते हैं। निमाड़ में लोग नाग को 'भिलट देव बाबा' कहकर पुकारते हैं।

नागपूजा मृत्यु भय से छुटकारा पाने के उपलक्ष्य में प्रचलित रही है, क्योंकि नाग विषधारी होता है, फिर भी भगवान् शिव के गले में विषधारी नाग लिपटे रहते हैं। भगवान् विष्णु शेष नाग की शैय्या पर विश्रामरत हैं। ये सब कथाएँ मनुष्य, देवता और नाग के घनिष्ठ संबंधों की प्रतीक हैं, जिन पर समूचा लोक और शास्त्र पूरा विश्वास करता आया है। नाग देवता हैं और उनकी चहल-पहल पूरी पृथ्वी पर है। हमारे पौराणिक आख्यानों में 'नागलोक' की कल्पना की गई है। नागपंचमी का त्योहार प्राय: सम्पूर्ण भारतवर्ष में मनाया जाता है। नाग से संबंधित कुछ तथ्य इस प्रकार हैं-

(1) नाग भगवान् शिव के गले का हार है।

(2) हमारी पृथ्वी शेष नाग की फन पर टिकी हुई है। नाग जब अपनी फन बदलता है, तब पृथ्वी कम्पायमान हो जाती है। ऐसी लोक की अवधारणा है। भगवान् विष्णु शेष नाग की शैय्या पर सोते हैं।

(3) नागों की माता कद्रू को माना गया है।

(4) भगवान् सूर्य के रथ के पहिये से कर्कोटक नाग लिपट-लिपट कर चलते हैं। कुछ विशेष जाति के नाग सूर्य के रथ के आगे-आगे चलते हैं, ये सभी नाग सूर्य के अंगरक्षक हैं।

(5) कृषकों के लिए नाग वरदान स्वरूप होते है। नाग किसानों की फसल की रक्षा करते हैं। खेतों में फलने-फूलने वाले विषैले कीट पतंगों को ये नाग अपना आहार बना लेते हैं।

(6) सोते समय नाग (सर्प) का स्मरण करने से धन-धान्य की कमी नहीं रहती।

(7) निमाड़ में कई ऐसे नाग मंदिर हैं, जो वर्ष में एक बार नागपंचमी के दिन ही खुलते हैं, उस दिन नाग का विष उतारने वाले जानकार लोग उस मंदिर में मंत्रसिद्धि के लिये आते हैं। जनसामान्य का भी उस दिन ऐसे मंदिरों में सैलाब उमड़ पड़ता है। यहाँ कई प्राचीन मंदिर हैं।

महिलाओं के कुछ खास मांगलिक व्रत और उनके कुछ प्रतीक होते हैं। व्रत-अनुष्ठान, पर्व-त्योहार अपने आपमें पवित्र प्रतीक हैं, तभी तो उनके आते ही तन और मन के साथ घर-परिवार सब एक पवित्रता के भाव से भर जाते हैं।

हरतालिका व्रत

हरतालिका शिव-पार्वती की आराधना का प्रतीक पर्व है, यह व्रत महिलाएँ अपने घर-परिवार की सुख-समृद्धि के लिए करती हैं तथा अपने सौभाग्य की अखण्डता के लिए शिव-पार्वती की पूजा-अर्चना करती हैं।

महिलाएँ प्रातःकाल उठकर स्नान से निवृत्त होकर एक पटिये पर अच्छी साफ-सुथरी धुली हुई नदी की रेत के द्वारा शिव पार्वती बनाती हैं। पश्चात् धूप-दीप-पुष्प-बिल्वपत्र चन्दन, अक्षत अबीर, गुलाल से रेत द्वारा निर्मित शिव-पार्वती की पूजा करती हैं। पूजन अपरान्ह चार बजे के बाद किया जाता है। पूजने के पश्चात् विधिवत् आरती करती हैं। उस दिन महिलाएँ उपवास रखती हैं। कोई-कोई महिलाएँ पूजन करने वाले दिन पानी तक ग्रहण नहीं करती हैं।

रात्रि में जागरण का विधान है, जिसमें महिलाएँ मिलकर भजन करती हैं। प्रातः स्नान कर रेत के शिव-पार्वती को विसर्जित कर दिया जाता है।

ऋषि पंचमी

ऋषि पंचमी का मांगलिक व्रत सप्त ऋषियों की आराधना का प्रतीक है। इस दिन महिलाएँ प्रातःकाल उठकर अपामार्ग (अतिझाड़ा) पौधे की एक सौ आठ काड़ियें लेकर सिर पर रखकर स्नान करती हैं। स्नान करने के पश्चात् साफ-सुथरे पटिये पर चन्दन की सात टिपकियाँ एक कतार में लगाती हैं, पास में माता अरुन्धती का प्रतीकात्मक अंकन चंदन के द्वारा ही बनाती हैं। पश्चात् ऋषियों की पूजा-अर्चना की जाती है। पूजा, चन्दन, अक्षत, पुष्प, अबीर, गुलाल तथा धूप दीप नैवेद्य आदि से होती है। ऋषियों का नैवेद्य मोरधान का हलवा होता है। अपामार्ग (अतिझाड़ा) काड़ियाँ भी शिव-पार्वती को चढ़ाई जाती हैं। महिलाएँ उस दिन भी व्रत रखती है। व्रत में केवल मोरधान का सेवन किया जाता है। व्रत कथा कही सुनी जाती है।

हमारी संस्कृति में ऋषियों का स्मरण करना, ज्ञान परम्परा के महत्त्व को समझा जा सकता है। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि ऋषियों की पंक्ति में एक महिला विदुषी ऋषि तुल्य अरुन्धती को भी पूजा प्रतीक में शामिल किया गया है।

1. सप्तऋषि साकार विग्रहों में से हैं, जो आज भी रात में सात तारों के समूह के रूप में दिखाई देते हैं।

2. इनके पूजन के प्रति जो आस्था है, वह यह कि ऋषि हमारे पूर्वज हैं, जो देव तुल्य हैं। उनको लोक ने अपने श्रद्धा-सुमन इस पूजा के माध्यम से चढ़ाये हैं। लोक जब किसी बात को सम्मान देना चाहता है, तो वह उसे प्रतीक के रूप में प्रतिष्ठित कर देता है, और उसकी पूजा के लिए उसे पर्व-त्योहार व्रत-अनुष्ठान से जोड़ देता है। मनुष्य ऋषि सन्तान हैं, इस बात को ऋषिपंचमी के व्रत-त्योहार के माध्यम से रेखांकित किया गया है।

हलछठ

हलछठ का व्रत संतान प्राप्ति के हितार्थ किया जाता है। हलछठ की पूजा में पटिये पर लकड़ी के हल को रखकर पूजा की जाती है। हलछठ के व्रत में महिलाएँ खेत में हल के माध्यम से बोई फसल नहीं खाती हैं। हाथ से बोई गई फसल के अनाज-फलादि का उपयोग इस व्रत में किया जाता है।

1. हलछठ का मतलब यही है कि हल ही एक ऐसा शस्त्र है, जिसके द्वारा जीवन युद्ध लड़ा जा सकता है।

2. खेती को प्राथमिकता देना ही इस पर्व का मूल संदेश है।

3. भगवान कृष्ण के बड़े भाई बलराम ने तो हल को ही अपना शस्त्र बना लिया था, वे अपना शस्त्र हमेशा कांधे पर लिये चलते थे। उनकी स्मृति में भी यह पर्व मनाया जाता है। हल कृषि का प्रमुख प्रतीकचिह्न है।

अमकारिया अष्टमी

अमकारिया अष्टमी के दिन महिलाएँ स्नान से निवृत्त हो एक पटिये पर गीली मिट्टी के लोंदे से एक मकड़ी की आकृति बनाती है तथा एक कुकड़ी अर्थात् मुर्गी की आकृति बनाती हैं, उनकी विधि-विधान से पूजाकर एक नारियल भी चढ़ाती हैं। यह व्रत महिलाएँ आठ साल तक प्रति वर्ष अमकारिया अष्टमी के दिन करती हैं। यह एक अनोखा व्रत है।

इस व्रत का एक विधान है। पहला नारियल ब्राह्मण को दिया जाता है, इसके बाद चार नारियल पीहर तथा चार नारियल अपनी ससुराल में दिये जाते हैं।

कहते हैं- किसी समय में कुकड़-माकड़ दो बहनें थी, जिनके व्रत करने में चूक होने से एक का जन्म मकड़ी के रूप में हो गया तथा दूसरी का कुकड़ी (मुर्गी) का जन्म हो गया। दूसरे जन्म में इसी व्रत को करके पुनः मनुष्य जीवन उन्हें प्राप्त हो गया था।

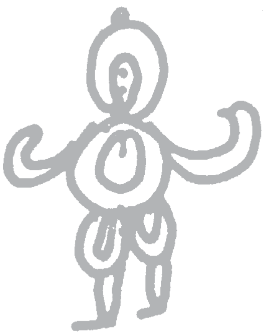

इस अनोखे व्रत के पीछे कुछ भावनाएँ हैं। जैसे मकड़ी अपने बुने हुए जाल में अपना संसार देखती है। ठीक उसी प्रकार मानव जाति अपने कर्मों के जाल में उलझी हुई रहती है।

वीरपस पर्व

निमाड़ जनपद में एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण 'वीरपस' का त्योहार आता है, यह त्योहार रक्षाबन्धन के पूर्व पड़ने वाले रविवार को मनाया जाता है।

ठीक रक्षाबंधन की तरह 'वीरपस' भी भाई-बहन के अटूट स्नेह का प्रतीक है। वीरपस के दिन भाई अपनी बहन के घर लाल या सफेद कपड़े में एक गुड़ की डली के साथ गेहूँ बाँधकर उसके साथ एक पोलके (ब्लाऊज) का कपड़ा और एक छोटी कुंकुम की पुड़िया रखकर लेकर जाता है और बहन के हाथों में सौंपता है। बहन उसे सहज रूप में स्वीकार करती है और भाई का अतिथि सत्कार करती है। बहन-भाई को माथे पर तिलक लगाकर उसके स्नेह के प्रति अपने मन के भाव दर्शाती है। लौटते समय भाई यथाशक्ति उपहार स्वरूप कुछ रुपये उसके हाथ में रखता है। इस तरह यह स्नेह का प्रतीक त्योहार परम्परागत ढंग से मनाया जा रहा है। भाई के चले जाने के बाद उन गेहुँओं को बहन अपने घर में कोठी में रखे हुए गेहुँओं में डाल देती है। इसके पीछे जो विचार है, वह बहन का घर धन-धान्य से परिपूर्ण रहे तथा बहन का जीवन सुखमय बना रहे। 'वीर' का अर्थ भाई होता है और 'पस' का अर्थ दोनों हाथ में समाने वाले गेहुँओं से है, जो भाई की भावना का प्रतीक है।

दशहरा पर्व

नवरात्रि पर्व समाप्त होते ही दूसरे दिन दशहरा मनाया जाता है, इसे विजयादशमी कहकर भी सम्बोधित किया जाता है। दशहरा पर्व सम्पूर्ण भारत वर्ष में मनाया जाता है।

कभी यह पर्व क्षत्रियों तक ही सीमित था, क्योंकि यह पर्व शक्ति और शौर्य प्रदर्शन का पर्व है। भगवान् श्रीराम ने दशहरे के दिन महाशक्तिशाली रावण का वध कर लंका पर विजय प्राप्त की थी। मर्यादा पुरुषोत्तम राम भारत वर्ष के आदर्श पुरुष हैं, इसीलिये इसे प्रतिवर्ष विजय पर्व के रूप में मनाते हैं।

प्रतिवर्ष रावण की प्रतिकृतियाँ बाँस की किमचियों से निर्मित कर उसे जलाया जाता है। लेकिन निमाड़ जनपद में दशहरा मनाने की कुछ अलग प्रक्रिया है। दशहरे के दिन घर की महिलाएँ सुबह जल्दी उठकर घर के बैठक वाले हिस्से को अच्छी तरह गोबर से लीपती हैं। तत्पश्चात् गोंद और दही खड़ी मिश्रित घोल के द्वारा दशहरा का माँडना धरती पर बनाती हैं। दशहरा मुख्य द्वार से दो-तीन फिट अंदर की ओर बनाया जाता है। निमाड़ में दशहरा दो प्रकार का बनाया जाता है- खड़ी आकृति और घोड़े पर सवार आकृति। घोड़े पर सवार आकृति राम को अभिव्यक्त करती है, खड़ी आकृति रावण को अभिव्यक्त करती है।

रावण की अभिव्यक्त करने का अभिप्राय है कि रावण ने ब्राह्मण कुल में जन्म लिया था, पर उसका कर्मक्षेत्र राक्षस प्रवृत्ति का था। मृत्यु के पश्चात् रावण का पार्थिव ब्राह्मण शरीर शेष रह गया था। उसका अहंकार मृत्यु के साथ ही समाप्त हो गया था।

खड़ा रावण दशानन न रहकर केवल रावण रह गया, एक कथा के अनुसार सेतुबंध बन जाने तथा भगवान् शिव की स्थापना के अवसर पर श्रीराम ने रावण को आमंत्रित कर उसी के हाथों सेतु रामेश्वर की स्थापना करवाई थी, तथा राम ने उस ब्राह्मण देवता के चरण स्पर्श कर अपनी सफलता के लिये आशीर्वाद प्राप्त किया था।

वस्तुत: उसी दिन से रावण को पूजने की परिपाटी मानी गई है। अश्व पर सवार राम की कृति को पूजने के पीछे कुछ इस तरह मनोभाव है कि दुराचारी रावण को समाप्त कर श्रीराम ने एक आदर्श पुरुष की भूमिका का निर्वाह किया, इसलिए वे प्रणम्य हैं।

यहाँ एक महत्त्वपूर्ण बात बताना आवश्यक है कि रावण जब सीता को हरण करके ले गया, तो उसे अशोक वाटिका में रखा गया। कहते हैं कि अशोक वृक्ष के नीचे जो बैठते है, उन्हें कभी किसी प्रकार का शोक नहीं होता है। कभी-कभी मंदोदरी एक नारी होने के नाते अपनी संवेदना प्रकट करने सीता के पास चली आती थी और उनसे कहती थी- तू महान सती नारी है, तू रावण को शाप क्यों नहीं दे देती? तब सीता उस मंदोदरी से कहती है-

गढ़ लंका म्हारो मायरो, नऽ मन्दोदरी म्हारी माय।
रावण सरका पिता हमारा, किनखऽ देवां सराय।।

दशहरे के धरती चित्र को घर की बहन-बेटियाँ बड़े मनोयोग से बनाती हैं। इसे बनाने में किसी प्रकार का कोई ब्रश अथवा तूअर काठी की काड़ी का उपयोग नहीं लिया जाता। केवल रुई के फोये का उपयोग किया जाता है। कनिष्ठका और अनामिका के बीच रुई को दबाकर सारी आकृतियाँ बनाई जाती हैं। सबसे पहले चारसर की चौकोर लकीरें खींची जाती हैं। दहीखड़ी की कटोरी में अंगुलियों को डुबो-डुबोकर दशहरा बनाया जाता है। मध्य भाग में दशहरे की मुख्य आकृति बनाई जाती है, फिर उसके आस-पास तुलसी क्यारा, बन्दर, बैलगाड़ी आदि मोटी-मोटी लकीरों के माध्यम से बनाये जाते हैं। पूर्ण चित्र बन जाने के बाद इसके पूजन का विधान है। पूजन सामग्री एक थाली में संजोकर रख ली जाती है। थाली में कुंकुम, अक्षत, हल्दी, पुष्प, दीपक, अगरबत्ती, गिलकी के छोटे-छोटे टुकड़े गुड़ मिलाकर एक कटोरी में अलग रख दिये जाते हैं। दशहरे के पूजन की पूर्ण तैयारी हो जाने के बाद जब दशहरा जीतने जाने का समय होता है, तब घर के पुरुष वर्ग दशहरे का पूजन करते हैं दशहरे के पूजन के पश्चात् बहनें अपने भाइयों, पिता, दादा आदि सभी पुरुष वर्ग सभी को माथे पर तिलक लगाकर उनकी आरती उतारती हैं और उन्हें गुड़ गिलकी और एक पान का बीड़ा खिलाकर उन्हें दशहरा जीतने के लिए विदा करती है।

गाँव के सभी लोग, अपनी-अपनी सुविधानुसार दशहरा जीतने जाते हैं। अधिकांशतया गाँवों में एक दूसरी रीति होती है, वहाँ पर शमी वृक्ष होता है, जिसकी पत्तियाँ तोड़कर घर लाते हैं, जिसे सोना पत्ती कहते हैं और घर लौटकर सबसे पहले दशहरे के चित्र पर सोना पत्ती चढ़ाकर उसे प्रणाम करते हैं, फिर घर में देवपूजन स्थान पर उन्हें सोना पत्ती चढ़ाकर उन्हें भी नमन करते हैं, पश्चात् घर के बड़े-बूढ़ों का पैर छूकर आशीर्वाद प्राप्त करते हैं।

दशहरा दो दिन का पर्व माना जाता है। पहले दिन दशहरा दूसरे दिन बासी दशहरा। इस तरह आस्था का पर्व दशहरा मिलन के साथ समाप्त हो जाता है।

विजय पर्व दशहरा एकता तथा एकजुटता का प्रतीक है। बुराई के प्रतीक रावण को जलते हुए देख मनुष्यों के मनोभाव कुछ समय के लिये बदल जाते हैं। मन में अच्छे विचारों की उत्पत्ति होती है। दशहरा बुराई पर अच्छाई की जीत का प्रतीक है।

हमें उस समय की सारी स्मृतियां ताजी हो जाती हैं, जब राम ने चौदह वर्ष वनवास भोगा और रावण जैसे दुराचारी को मार कर लंका को विभीषण को सौंपकर एक नया मित्र राज्य बनाया।

गणगौर

निमाड़ जनपद में अत्यधिक उत्साह, उमंग, श्रद्धा के साथ मनाया जाने वाला गणगौर पर्व है।

गणगौर अति पवित्रता और आस्था का पर्व है। गणगौर आने से पूरे घर को लीप-पोत कर ठीक कर लेते हैं, कोशिश यह भी रहती है कि घर में ऐसे वस्त्र जो घर-परिवार में उपयोग आते-आते अपवित्र हो जाते हैं, उन्हें धोकर शुद्ध कर लिया जाता है। फिर गणगौर की तैयारी में लग जाते हैं। कहते हैं गणगौर पर्व पर घर की चिन्दी-चिन्दी धोकर पवित्र कर ली जाती है।

गणगौर देवी स्वरूपा पार्वती तथा परमपिता शिव के घर में

आगमन का प्रतीक है। गणगौर का मूल अर्थ ही गण और गौर है अर्थात् शिव तथा जगत्-जननी माता पार्वती का युग्म।

शुक्ल पक्ष की चैत्र मास की एकादशी को माता की मूठ रखी जाती है। मूठ रखने का अर्थ है- बाँस की टोकरियों में अच्छी साफ सुथरी मिट्टी भरकर उसमें गेहूँ के दाने डाल कर आठ दिनों तक उनको अति पवित्रता के साथ पानी से उनकी सिंचाई की जाती है। इस कर्म के लिए गाँव में एक स्थान निश्चित होता है, वहीं पर गाँव की महिलाएँ टोकरियाँ ले जाती हैं। कोई-कोई प्रतिवर्ष ही गणगौर अपने घर लाता है। कोई-कोई की मान्यता पूर्ण होने पर गणगौर लाता है। जिस घर में लड़के की नई शादी हुई है, वह गणगौर अवश्य बोता है।

गणगौर की मूठ रखने के आठ दिन तक जवारों को एक व्यक्ति सींचता रहता है। कृष्ण पक्ष त्रयोदशी के दिन माता पाट पर विराजित होती हैं। बोये हुए जवारों को रखने के लिए एक चौकी को मंदिरनुमा पहले से ही सजाकर रख लेते है। ठीक सुबह स्नान कर एक थाली में आटा, दाल, चावल, गुड़, घी रखकर साथ में एक नारियल लेकर उस स्थान पर जाते हैं, जहाँ पर गणगौर बोई गई है। भरी बाड़ी की पूजा करके नारियल चढ़ाते हैं। फिर एक बड़ी थाली में पाँचों टोकरियाँ, अपने घर ले आते हैं, वे पाँचों टोकरियाँ उस रथ के अंदर रखते हैं। धूप, दीप, नैवेद्य से बड़ी श्रद्धा के साथ परिवार के सभी लोग एक-एक कर पूजा करते हैं। इस तरह गणगौर का घर पर आगमन हो जाता है।

संध्या के समय घर के आंगन को अच्छी तरह साफ कर रथ को बाहर निकाला जाता है। यहाँ उन जवारों की सिंचाई की जाती है। बाद में मोहल्ले की कुछ औरतें मिल कर रथ के आस-पास घूमकर झालरिया देती हैं, झालरिया देते समय औरतें अपनी साड़ी के पल्ले को दोनों हाथों में लेकर पंखे की तरह माता को हवा देती हैं। गीत भी गाती जाती हैं और झुक-झुककर नृत्य भी करती हैं। चार-पाँच गीत पूर्णकर घर के लोग प्रसाद बाँटते हैं। अधिकांशतया प्रसाद चने-धानी का होता है।

तीज के दूसरे दिन याने चतुर्थी को गणगौर विदा करने का दिन होता है। संध्या के समय गाँव के सारे रथ एक जगह इकट्ठे हो जाते हैं और फिर चल समारोह के साथ गणगौर माँ भगवती की विदाई होती है।

गाँव का एक स्थान तय होता है, जहाँ पर जवारे विसर्जित किये जाते हैं। नदी, तालाब, कुँआ, बावड़ी जिस गाँव में जो उपलब्ध होता है, सभी जवारे वहीं विसर्जित कर दिये जाते हैं। विसर्जन करने के पहले जवारों को गले लगाया जाता है। विदा करते वक्त मन थोड़ा उदास हो जाता है। विसर्जन के कई दिनों तक गाँव में एक सन्नाटा सा छाया रहता है। गणगौर पर्व की अनेकानेक छवियाँ लोगों के मन में साल भर तक रह जाती हैं।

गणगौर सम्बन्धी कुछ तथ्य

1. गणगौर केवल महिलाओं का पर्व है।

2. गणगौर रथों के साथ एक धणियर राजा का भी रथ सजाया जाता है।

3. ऐसी मान्यता है कि गणगौर बारह महीने में नौ दिनों तक अपने भाई के घर गाँव आती है। यहाँ बड़े उत्साह से हरे-भरे खेतों, जंगलों, बाग-बगीचों में कुछ दिन अठखेलियाँ करती हैं।

4. गणगौर पर्व के बारे में ऐसा कोई प्रामाणिक तथ्य नहीं पाया गया कि इसकी शुरूआत कहाँ से और कैसे हुई?

5. डॉ. महेन्द्र भानावत तथा श्याम परमार ने कुछ तथ्य अपनी-अपनी पुस्तकों में लिखे हैं, लेकिन उन्होंने भी इसे प्रमाणित नहीं किया।

निमाड़ के पर्व-त्योहार की प्रतीकात्मकता इसमें मौजूद है कि कोई भी तीज-त्योहार मांगलिकता से विलग नहीं हैं। इन तीज त्योहारों में जितने भी प्रतीक संजोये गये हैं, उनमें मनुष्य मन की कोई न कोई आस्था-अनुष्ठान का भाव निहित है, इसीलिए इन तीज-त्योहारों की शृंखला आज तक चली आ रही है और आगे भी चलती रहेगी।

निमाड़ के मांगलिक चिह्न

पूर्णिमा चतुर्वेदी

मांगलिक प्रतीक किसी भी संस्कृति एवं सभ्यता की अक्षुण्णता और उसके समृद्ध वैभवशाली इतिहास के परिचायक होते हैं। रीति-रिवाजों तथा संस्कारों से जुड़े ये मांगलिक प्रतीक सकारात्मक ऊर्जा से ओतप्रोत होते हैं। समय-समय पर इनके चित्रण से हमारे घर-आंगन सदैव दीपक की भाँति आलोकित होते रहते हैं। ये मंगलप्रतीक व्यक्ति के मनोभावों को प्रकट करने का माध्यम होते हैं। ये प्रतीक किसी संस्कृति की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को व्यक्त करते हैं तथा परंपरागत रूप से प्रचलित होते हैं।

निमाड़ी संस्कृति में मांगलिक प्रतीकों का उतना ही महत्त्व है, जितना कि जीवन में निरंतरता का। हम निमाड़ के बारहमासी त्योहारों की बात करें या अन्य संस्कारों व रीति-रिवाजों की, बिना इन मांगलिक प्रतीकों के अंकन या चित्रण के सब कुछ अधूरा है। हर गतिविधियों को हम इनके माध्यम से ही व्यक्त करते हैं। यह तथ्य इस बात से प्रमाणित है कि घर-आंगन जब भी लीपे-पोते जाते हैं, तो दीवारें और आँगन कोरी नहीं छोड़ी जाती हैं, उन पर तुरंत कुमकुम की पाँच बिंदियाँ बना दी जाती हैं। इसी प्रकार कलश, सातिया, सूरज, चन्द्रमा, हाथे, पेड़-पौधे, कुँआ, बावड़ी, पशु-पक्षी आदि कई चित्र हमारे पूजनीय स्थानों पर मांगलिक प्रतीक के रूप में बनाते हैं।

कलश चौक सभी मांगलिक कार्यों में कलश स्थापना से पूर्ण बनाया जाता है। कलश प्रतिष्ठा के लिये भूमि को लीपकर, ज्वार के आटे से बनाया जाता है, जिसके चारों कोनों पर चार कलशों का चित्र बनाया जाता है। इन कलशों को मोहक बनाने के लिये उनमें कुमकुम, हल्दी भरकर बीच में सातिया बना दिया जाता है।

सातिया एक आड़ी और एक खड़ी रेखा के काटने से, अर्थात् धन चिह्न (+) द्वारा बनता है। ये चारों रेखाएँ चारों दिशाओं की प्रतीक होती हैं। लोकजीवन में सीधी भुजा का स्वस्तिक (सातिया), अर्थात् घड़ी की दिशा में घुमता हुआ बनाया जाता है। सातिया कुमकुम, हल्दी, गोबर व रंगोली आदि से बनाया जाता है। इसे घर की ढेल पर बनाकर देहली पूजन तथा दरवाजे के दोनों ओर बनाकर द्वार पूजन किया जाता है। सातिया को हर पूजा के स्थान पर बनाकर साक्षात् गणेश के रूप में माना जाता है। गोद भराई में दोहरा स्वस्तिक कुमकुम के द्वारा सफेद कपड़े पर बनाया जाता है।

सातिया कभी उल्टा नहीं बनाया जाता है। उल्टा स्वस्तिक (+) मान–मनौती अथवा अशुभ को टालने के लिये हल्दी– कुमकुम या गोबर से बनाया जाता है। कार्य पूर्ण होने पर उसी स्थान पर जाकर सीधा स्वस्तिक बनाया किया जाता है। इसे मान पूरी करना कहते हैं।

सातिया की तरह ही घरों की दीवारों और दरवाजे के दोनों ओर गीली हल्दी व कुमकुम से हाथे लगाए जाते हैं, जो अपने आप में पूर्ण व भरा होने के प्रतीक हैं। निमाड़ में नयी बहू के आने पर बहू व बेटे के साथ में कुलदेवी का पूजन कराया जाता है जहाँ पर बहू से घी का उल्टा हाथा लगवाया जाता है, जितना नीचे घी की धार निकलती है व जितनी शाखाओं में निकलती है, उतना ही परिवार का वंश वृक्ष आगे बढ़ेगा, वैसे भी घी को साक्षात् लक्ष्मी के रूप में माना जाता है। उसी प्रकार जब पति–पत्नि कलश लेकर नूतन गृहप्रवेश करते हैं तो पत्नी गीली हल्दी से दरवाजे के दोनों तरफ हाथे लगाती है और पति कुमकुम चावल से उनकी पूजा करता है। उसके बाद दाँया पैर आगे रखकर गृहप्रवेश करते हैं। गृहस्वामिनी लक्ष्मी का रूप होती है, उसके द्वारा लगाये गए हल्दी के ये हाथे धनधान्य परिपूर्णता एवं संपन्नता के प्रतीक होते हैं। इसी प्रकार बच्चे के जन्म के समय जलदेवी पूजन में जच्चा बच्चे को गोद में लेकर हल्दी से जल के स्थान पर, कलश पर और जलदेवी के चित्र के चारों कोने पर हाथे लगाती है। इसी तरह महिलाओं द्वारा शीतला माता पूजन के बाद बछबारस पर गाय बछड़े की पूजा के बाद, घर आने पर घर के बाहर हल्दी के हाथे लगाती हैं। ऐसी मान्यता है कि पूजन आदि के बाद घर के बाहर लगाये गये ये हाथे वर्षभर पूरे घर–परिवार का बाहरी बाधाओं और बीमारियों से बचाव करते हैं।

सूर्य, चन्द्रमा – प्रतीक चिह्नों के चित्रण के बिना निमाड़ का कोई भी लोकचित्र अधूरा है। निमाड़ी लोकचित्रों में सबसे पहले चाँद और सूरज का ही चित्रण किया जाता है। जैसे– जिरोती, संजा, दशहरा, नाग, पग्ल्या आदि। चाँद और सूरज दिन और रात के प्रतीक जीवन की निरंतरता को दर्शाते हैं।

व्रत–पूजा में सूरज–चंद्रमा का विशेष महत्त्व है, जैसे गणेश चतुर्थी व्रत में दीवार पर घी और सिंदूर से चंद्रमा, त्रिशूल व पाँच बिंदिया या स्वस्तिक बनाकर सबसे पहले इनकी पूजा की जाती है। उसके बाद चन्द्रमा का दर्शन कर व्रत खोला जाता है। चान्द्रायण व्रत जो पूर्णिमा का व्रत, होता है, इसमें चंदन से तुलसी क्यारे पर चन्द्रमा बनाया जाता है तथा पूजा कर व्रत खोला जाता है। इस व्रत में चन्द्रमा की पूजा प्रतीक रूप में होती है, उसके बाद ही चन्द्र दर्शन किये जाते हैं। सूर्य, चन्द्रमा व तारे कई विभिन्न आकृतियों में बनाये जाते हैं।

पेड़–पौधे – लोक जीवन में कई वृक्ष और पौधों का प्रतीक रूप में चित्रण किया जाता है, जैसे तुलसी का चित्रण जिरोती लोकचित्र में, केले के वृक्ष तथा आम के वृक्ष का चित्रण भी जिरोती में किया जाता है। अन्य मांगलिक कार्यों, जैसे विवाह में कलश पर आम का वृक्ष प्रतीक रूप में बनाकर उसे सींचा जाता है, जिसे अंबा सींचना कहते हैं। इसी प्रकार संझाफूली में गोबर से केले व आम का वृक्ष में बनाया जाता है। इसी प्रकार कुलदेवी पूजन में भी केले व आम का वृक्ष दरवाजे के दोनों तरफ वंशवृद्धि व फलने–फूलने के प्रतीक स्वरूप बनाते हैं। इसी प्रकार दूर्वा का चित्रण प्रतीक रूप में पानी के स्थान जैसे बावड़ी तालाब के पास किया जाता है।

पशु-पक्षी आदि को प्रतीक रूप में पूजने के लिये बनाये जाते हैं। जैसे ऋषि पूजन में चंदन से गाय व कुत्ता बनाया जाता है। संझाफूली में कछुआ बनाया जाता है, जो कि गोबर से प्रतीक रूप में बनाते हैं। यह लंबी आयु व धैर्य का प्रतीक है। दशहरे के अंकन में घोड़े बनाये जाते हैं।

पक्षियों में विशेष कर तोते का महत्त्व अधिक है, जिसे होर्‌या भी कहते हैं। ये पर्यावरण और मित्रता के प्रतीक होते हैं, इन्हें दीवारों पर सजावट हेतु भी गेरू या खड़िया से बनाया जाता है। जिरोती में होर्‌या एक दूसरे का हाथ पकड़े हुए पंक्तिबद्ध बनाये जाते हैं, जहाँ ये मैत्री के प्रतीक होते हैं। इसी प्रकार मिट्‌ठू चौक भी रंगोली, गेरू या खड़िया द्वारा बनाया जाता है।

नाग कोयले को कच्चे दूध में शुद्ध कर, घीसकर जिरोती में तथा नागपंचमी पर नाग के प्रतीक बनाये जाते हैं तथा इनका पूजन किया जाता है। चंदन और सिंदूर से इनकी आँखें खोली जाती हैं।

गणेश-सरस्वती दीपावली के समय दीवार पर घी और सिंदूर से बिंदुओं के माध्यम से गणेश और सरस्वती का चित्रण किया जाता है, तथा इनका पूजन किया जाता है। दीपावली पर कई तरह के चौक एवं मांडने भी बनाए जाते हैं। इसके साथ ही लक्ष्मीजी के चौक एवं मांडने भी बनाये जाते हैं। इसके साथ ही लक्ष्मीजी के चरण, रथ तथा अष्टदल का चौक, शंख , कमल, तुलसी क्यारा, कलश, नारियल, दीपक, आरती आदि मांगलिक चिह्न बनाकर लक्ष्मीजी को प्रसन्न करने की परंपरा है।

निमाड़ में ही नहीं बल्कि सभी के लिये जल ही जीवन है, इसलिये निमाड़ के लोकचित्रों में जल का स्थान जैसे कुआँ, बावड़ी, तालाब आदि प्रतीक रूप में बनाये जाते हैं। मांगलिक प्रतीक हमारे सांस्कृतिक, धार्मिक और सामाजिक जीवन के पारंपरिक चिह्न हैं। हमारे जीवन का हर शुभ एवं मांगलिक कार्य इन्हीं में रचा-बसा है। मात्र इनके चित्रण एवं दर्शन से ही मन में पवित्र और सकारात्मक ऊर्जा का संचार होने लगता है। घर में समयानुसार बनाये जाने वाले इन मांगलिक प्रतीकों से घर-परिवार में सुख-शांति का अनुभव होता है। मात्र एक स्वस्तिक या पाँच बिंदियों के चित्रण से हमारे घर की दीवारें खिल उठती हैं। इन मांगलिक प्रतीकों में साक्षात् देवताओं की ही उपस्थिति मानी जाती है। यह अतिशयोक्ति नहीं होगी कि ये मांगलिक प्रतीक चमत्कारिक प्रभाव से परिपूर्ण होते हैं।

मालवा के मांगलिक प्रतीक

डॉ. पूरन सहगल

लोक की सत्ता, सामर्थ्य एवं सहधर्मिता अद्‌भुत, अगम्य एवं अतुल्य होती है। लोक को पूरी तरह से अभिव्यक्त कर पाना बहुत कठिन है। लोकसाहित्य लोक का कुशल प्रवक्ता होता है। लोकसाहित्य की अभिव्यक्ति का माध्यम भाषा होती है। कभी-कभी भाषा भी स्तब्ध होकर हकलाने लगती है, तब 'सेन' सक्रिय होते हैं। सेन अर्थात् संकेत। ये ही संकेत प्रतीकों का मूर्तरूप धारण कर लेते हैं।

यदि हम शैलचित्रों का अध्ययन करें, तब हम देखेंगे कि सभी शैलचित्र उस समय उकेरे गये थे, जब उस आदिमानव के पास भाषा नहीं थी, भाव थे, शब्द नहीं थे। विचार उठ रहे थे, अभिव्यक्ति का कोई वाचिक माध्यम नहीं था, जिह्वा थी, वह कुछ कहना भी चाहती थी किन्तु वह विवश थी। तब उस आदिमानव ने शैल गुफाओं की भित्तियों पर कुछ आड़ी-टेढ़ी लकीरें खींचकर तथा कुछ सांकेतिक चित्र बनाकर अपने भावों को प्रकट किया। वे समस्त संकेतचित्र उसकी भाषा बने। प्रत्येक चित्र प्रतीकात्मक रूप से अपनी बात कहने का प्रयत्न करता दिखता है। उन सभी संकेतचित्रों को भी हमें प्रतीकचिह्न के रूप में स्वीकारना होगा।

इसी बात को हम यों भी कह सकते हैं कि जब कोई बात या विचार हम शब्दों द्वारा व्यक्त नहीं कर पाते, तब हम किसी उपयुक्त प्रतीकचिह्न का सहारा लेते हैं। आगे जाकर वह प्रतीकचिह्न हमारी परंपरा बन जाता है। प्रतीकों को हम कभी अभिनय से, कभी नृत्यमुद्राओं से अथवा सुर संगीत के माध्यम से अभिव्यक्त करते हैं। देखा जाय तो भाषा भी तो एक प्रतीक ही है। प्रत्येक शब्द स्वयं में एक प्रतीकात्मक अर्थ का माध्यम है। हमारे भाव, अभिप्राय, अर्थ, बिम्ब मिलकर एक सांकेतिक भाषा का सृजन करते हैं। वही सांकेतिक भाषा प्रतीक कही जाती है।

प्रतीकचिह्न जब पारंपरिक रूप से लोक में सुपरिचित हो जाता है, तब वह एक सुपरिचित अर्थ भी व्यक्त करता रहता है। ठीक उसी भाँति जिस प्रकार लिपि का एक अक्षर अपना निर्धारित अर्थ तय कर लेता है। यदि हम थोड़ा और गहन अध्ययन करें, तब हम पाएँगे कि प्रतीकों के बिना सभी प्रदर्शनकारी कलाएँ निरर्थक हो जाती हैं। 'प्रतीकचिह्न' सभी कलाओं का आवश्यक प्राणतत्त्व है।

कई बार हम प्रतीक और रूपक में समानता होने का भ्रम संजो लेते हैं। जबकि एक जैसी छवि के होते हुए भी दोनों में स्पष्ट रूप से अंतर देखा जा सकता है। रूपक आरोपित होता है, प्रतीक आरोपित नहीं होता। रूपक अपनी स्वतंत्र पहचान लेकर प्रकट नहीं होता। वह छाया मात्र होता है। वह अदृश्यता को सदृश्यता प्रदान कर उसकी महनीयता में वृद्धि करने में सहायक होता है। वह उपमा अथवा उत्प्रेक्षा के रूप में प्रकट होता है। जबकि प्रतीक स्वतंत्र रूप से अपना अस्तित्व रखता है। वह अदृश्य को सदृश्यता प्रदान करने का पारंपरिक एवं सुपरिचित माध्यम होता है।

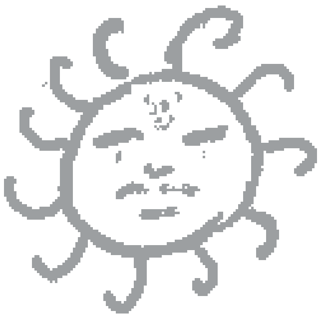

हमने पारंपरिक रूप से अपनी कल्पना के आधार पर ऐसे रहस्यों को, जिन्हें भाषा के माध्यम से अभिव्यक्ति नहीं दे सके। उन रहस्यों को, ऐसे भावों को तथा विचारों को प्रतीक रूप से अभिव्यक्त करने के लिये अनेक संकेत, चिह्न या बिम्ब निर्धारित कर दिये हैं। उन्हीं संकेतचिह्नों को या बिम्बों को हम प्रतीक कहते हैं। प्रत्येक प्रतीक स्वयं में एक गूढ़ार्थ संजोये होता है। यह ठीक वैसा ही जैसा एक बीज। जिस प्रकार एक बीज अपने भीतर एक सुंदर फूलदार, फलदार, छायादार एवं हरा भरा शीतलतादायक, सुगंधदायक और रूपदायक वृक्ष संजोये रहता है। हम बीज को हथेली पर रखकर उसके भीतर छुपे उस वृक्ष की सहज कल्पना भी कर सकते हैं। बशर्त हम उस बीज को पहचानते हों। वह नन्हा सा बीज हमें बिना बोले अपने भीतर छुपे प्रकृति के लीलाविधान और सृजनशीलता का आभास करा देता है। उसी प्रकार एक सुपरचित प्रतीक भी अपने भीतर निहित गूढ़ार्थ की सहज अभिव्यक्ति कर देता है। उदाहरण के लिए 'स्वस्तिक' प्रतीक है शिवमंगल का, कल्याणभाव का। सर्वसिद्धि का, वह प्रतीक है चतुर्दिक् वैश्विक कल्याणभाव का। स्वस्तिक को मांत्रिकों ने अलग अर्थ में माना, तो तांत्रिकों ने भिन्न अभिप्राय में। यदि वह सर्वसिद्धि योग का प्रतीक है तो सर्ववास्तु दोष निवारण का तंत्रप्रतीक भी है। स्वस्तिक को स्वयं सिद्धिदाता गणपति का प्रतीकात्मक स्वरूप मानते समय हम चार क्रास लकीरों की कल्पना नहीं करते। हमारे सामने तब साक्षात् गणपति ही विराजित दिखते हैं। इसलिए स्वस्तिक विघ्नहरण तंत्र, मंत्र का स्वतंत्र प्रतीक है। वह गणपति की उपमा के लिये उपयुक्त नहीं होता है। वह तो स्वयंसिद्ध, सिद्धिविनायक ही मान्य होता है।

ऐसे ही अनेक प्रतीक हमने निर्धारित किये हैं। वह कलश भी हो सकता है, ओम् भी। वह हाथ का पंजा भी हो सकता है, क्रास चिह्न भी हो सकता है। वंशी, शंख, मयूर, पंख, कमल अथवा तिलक भी हो सकता है। सारे के सारे प्रतीकचिह्न स्वयं में एक सांस्कृतिक महनीयता को लिये होते हैं। वे हमारे आचरण, सामाजिक सरोकार, पारिवारिक सौजन्यता और राजनैतिक गरिमा की अभिव्यक्ति की व्याख्या और समीक्षा करते हुए परंपरा से हमारे लिए सर्वमंगल मांगल्य का शिवशंकर भाव संजोये हुए, हमारी सामासिक संस्कृति और सभ्यता के आधार तत्त्व हैं।

इनका निर्धारण किसी एक व्यक्ति ने नहीं किया होता है। लोकद्रष्टा ऋषियों, सामाजिक संरचनाकारों तथा चिन्तकों ने समय-समय पर जिन मंगल प्रतीकचिह्नों का निर्धारण किया है, इन प्रतीकों में आध्यात्मिक संदेश तो है ही सामाजिक निर्देश भी निहित है। इस पारंपरिक शैली में हमारे पूर्वजों के चिन्तन, अनुभव, मंत्रशक्तियाँ निहित हैं। ये प्रतीकचिह्न केवल आध्यात्मिक ही नहीं हैं, इनमें वैज्ञानिकता तथा तर्कज्ञान भी है।

प्रत्येक प्रतीक स्वयं में एक सूत्र होता है। उसमें अर्थवत्ता की अद्‌भुत क्षमता होती है। हमारे जीवन के सभी व्यापार, वह कला हो अथवा साहित्य, सभी में प्रतीक अपना प्रभाव बनाये रखते हैं।

हमारी सामाजिक एवं प्राचीनतम संस्कृति के लिये ये प्रतीक

कुशल प्रवक्ता की भाँति कार्यशील हो जाते हैं। हमारे देवपुरुषों, हमारे तापसों, हमारे आराध्य अवतारों और त्रिदेव शक्तियों को हमारे ऋषियों ने प्रतीकों के माध्यम से व्यक्त किया है। वंशी को देखते ही हमें कृष्ण की छवि के दर्शन होते हैं। वंशी और शंख यदि साथ-साथ हैं, तो हमारी विचार प्रक्रिया मुखर हो उठती है। वंशी और शंख दोनों युगल कृष्ण के प्रतीक हैं। वंशी, कला-संगीत और प्रेम शांति का संदेश देती है तो शंख क्रांति ओर युद्ध का संदेश देता है। दोनों प्रतीकों के माध्यम से हम कृष्ण के समूचे जीवन दर्शन को समझ लेते हैं। ऐसे प्रतीक त्रिदेवों के हैं। विष्णु के शंख, चक्र, गदा, पद्म, ब्रह्मा के वेद, कमल, शंकर के त्रिशूल एवं डमरू। इन प्रतीकों को देखते ही हमें सम्बंधित देव की छवि के दर्शन भावरूप हो जाते हैं। इतना ही क्यों? क्या ये प्रतीक केवल रूप सज्जा के लिये हैं? कदापि नहीं। शंख सम्पूर्ण जगत् में निनाद का, प्राणों के संचरण का और सदा सचेत करने का प्रतीक है। वह शुभ मंगलदायी एवं दर्शनीय है, सागर का सारतत्त्व एवं लक्ष्मी का सहोदर है। लाभ और शुभ फल देने वाला है। चक्र केवल आयुध ही नहीं, सृष्टि की भ्रमणशीलता का भी प्रतीक है। गदा अमोघ अस्त्र हैं। पद्म सृष्टि की सौंदर्यशीलता का प्रतिनिधि पुष्प है। ब्रह्मा सृष्टि के रचयिता हैं, चारों वेदों के ज्ञान रूप में हमारे आराध्य हैं। शिव का प्रतीक त्रिशूल जहाँ संहारक शक्ति का प्रतीक है, वहीं रुद्रभाव का भी। शिव में तमस-रजस एवं सत्व तीनों का सामंजस्य है। त्रिशूल इन तीनों गुणों का भी प्रतीक है। डमरू नादशक्ति का प्रतीक है। नाद ही तो ब्रह्म है। नाद ही प्राण है। नाद ही सृष्टि का संचरण करता है। नाद ही शब्दशक्ति है। डमरू ही ताल, लय का स्रष्टा है। डमरू ही शिव के तांडव नृत्य का माध्यम है। डमरू ही प्रलयंकर की प्रलयकारी शक्ति है।, वीणा केवल संगीत का माध्यम नहीं है। वह तो वीणापाणि शारदा की प्रतीक है। विद्या और साहित्य की देवी सरस्वती की प्रतीक वीणा अज्ञान से ज्ञान की ओर प्रेरित करने का माध्यम प्रतीक हमारे ऋषियों ने निर्धारित किया। वीणा के दर्शन होते ही हमें माता सरस्वती की छवि के दर्शन हो जाते हैं।

ऐसे ही अनेक प्रतीक हमारे देवताओं, अवतारों और वीर नायकों के लिये निर्धारित हैं। युगानुरूप कई मांगलिक प्रतीक बिसार दिये जाते हैं, कई प्रतीक नये जुड़े भी जाते हैं। इसका यह आशय कदापि नहीं है कि पुराने प्रतीक समाप्त हो गये हैं। मनुष्य सदा चिन्तनशील बना रहता है। लोक की सृजन एवं चिंतन प्रक्रिया रुकती नहीं है। इसके चलते बदलाव होता है। बदलाव ही तो सृष्टि का सत्य है। सृष्टि स्थिर नहीं है। उसमें सृजन प्रक्रिया निरंतर रहती है। फाल्गुन मास में पेड़ों के पत्ते झड़ने लगते हैं, किन्तु नवीन कोपलें भी प्रस्फुटित होती रहती हैं। चैत्र में नया प्रस्फुटन होता है। क्षरण और सृजन की प्रक्रिया साथ-साथ चलती रहती है।

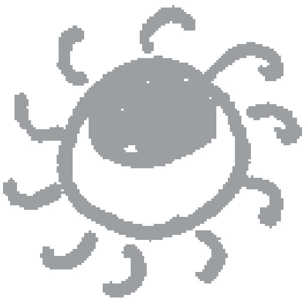

इसी प्रक्रिया का प्रतीक 'ओम्' है। 'ऊँ' सृष्टि की शिव+शक्ति एवं सृष्टि का प्रतीकात्मक स्वरूप है। 'अ' कार, 'उ' कार एवं 'म' कार का समुच्चय है ओम्। इसी की उच्चारण ध्वनि ओंकार कहलाती है। समूची प्राणशक्ति का स्पंदन ओंकार से ही होता है। इसकी मांगलिक शक्ति समूचे सृष्टि व्यवहार को प्राणवान बनाती है। यह शिव और शक्ति दोनों का सम्मिलित प्रतीक है। तंत्रशक्ति का इसमें अद्‌भुत समावेश है। इसकी आकृति तंत्रशास्त्र में अत्यंत शक्ति प्रदायिनी मानी गयी है। ऋषियों ने स्वस्तिक और ओम्- दो प्रतीक ऐसे निर्धारित किये हैं, जिनके दर्शनमात्र से सर्वमंगल हो जाता है। ऐसी आस्था और विश्वास लोकजीवन में व्याप्त है। प्रतीकों का निर्धारण मनुष्य के आदिम युग से माना जाता है। उसने समय-समय पर अनेक प्रतीकों का मांगलिक निर्धारण किया। जो दृश्य था उसके लिये भी और जो अदृश्य था उसके लिये भी। तंत्र-मंत्र झाड़-फूँक, टोने-टोटके सबके सब प्रतीकों पर आधारित हैं। प्रतीक केवल रेखाचित्र अथवा ज्यामितीय लकीरें नहीं हैं। उनका आधार मानव के मनोभाव, चिन्तकों के तर्क-चिन्तन और वैज्ञानिकों के वैज्ञानिक प्रयोग हैं। प्रतीक कई बार सीधे-सीधे समझ में नहीं आते। उनकी अर्थगम्यता कई बार दुरूह होती है, किन्तु जब हमारे अनुभवीजन उनका रहस्य उजागर करते हैं तब आश्चर्यचकित हो जाना पड़ता है। प्रकृति के गूढ़ रहस्य एवं दैवीशक्तियों को अद्‌भुत ढंग से प्रतीकों के माध्यम से व्यक्त किया गया है। ये प्रतीक अनेक बार पुराकथाओं का बीजरूप बन जाते हैं।

सूर्य–चन्द्र सृष्टि के ज्योतिस्वरूप मांगलिक प्रतीक, लोक संस्कृति के ऐसे लोकमान्य अंकन हैं, कि इन्हें सर्वत्र उकेरा जाता है। जितना भी लोकचित्रावण है, उन सब में सबसे ऊपर दाहिने पक्ष में सूर्य एवं बाए पक्ष में चन्द्रमा अंकित किया जाता है। सूर्य सृष्टि की ऊर्जाशक्ति एवं प्राणदाता है। सूर्य का मांगलिक प्रतीक यश और प्राण ऊर्जा प्रदान करने वाला माना जाता है। चन्द्रमा शांत है तो सूर्य ओजवान। दोनों के प्रकाश से प्राप्त शक्तियाँ ही फसलों एवं प्राणियों को जीवन देती, बढ़ाती हैं। चन्द्र से झरने वाला अमृत औषधियों को अमृतमय बनाता है। इसी प्रकार नवग्रह का प्रतीकात्मक अंकन सभी ग्रहों का प्रतिनिधित्व करता है। इन सारे ग्रहों को किसी ने देखा नहीं है। आकाशीय उपस्थिति के आधार पर ही इनका प्रतीक अंकन किया जाता है, जो पारम्परिक रूप से आज भी मान्य है एवं मंगलदायी है।

कलश केवल पात्र नहीं है, वह तो समग्र विश्व मण्डल का प्रतीक है। उसके मुख में विष्णु, कंठ में रुद्र, मूल में ब्रह्मा तथा मध्य में समस्त मातृशक्तियाँ स्थित हैं। उसकी कुक्षी में सातों सागर, सातों द्वीप, वसुंधरा, चारों वेद समाहित हैं। यह कलश इन समस्त शक्तियों और तीर्थों का प्रतिनिधि प्रतीक है। इसके शीर्ष पर पंच पल्लव और श्रीफल स्थापित है।

श्रीफल तो सर्वमंगल मांगल्य के रूप में अनेक अंकन समूहों में चितराया जाता है। एक वनवासी लोककथा के अनुसार श्रीफल का सृजन विश्वामित्र जी ने किया था। वे अपना पृथक् लोक निर्मित करना चाहते थे। अपनी सृष्टि हेतु वे मानव के सदृश एक जीव बनाना चाह रहे थे। जब वे विफल हो गये तब उन्होंने श्रीभगवान से प्रार्थना की कि मैंने तपोबल से यह जीव बनाया है। मेरे श्रम को आप सफल करें। इसमें प्राणों का संचार मैं नहीं कर सका, किन्तु यह शीश व्यर्थ नहीं जाय, ऐसी कृपा मुझ पर करें। तब श्रीहरि ने कहा कि यह तुम्हारा सृजन श्रीयुक्त मान्य होगा। प्रत्येक कार्य में प्रथम पूज्य माना जाएगा। इसका दर्शन मात्र मंगलदायी होगा। तब से लेकर आज तक श्रीफल मंगलप्रतीक के रूप में मान्य है, तथा इसका अंकन श्रीहरि के वरदान के रूप में किया जाता है।

केलीवृक्ष, आम्र पल्लव एवं आशापाला (लोक में अशोक वृक्ष) के पत्तों से बने वंदनवार के प्रतीक मांडनों में अवश्य दर्शाये जाते हैं। द्वार पर इनका अंकन अथवा बंधान शुभमंगल का प्रतीक माना जाता है। विवाहादि अवसरों पर द्वार पर इनका अंकन भी किया जाता है। ये तीनों वृक्ष देववृक्ष की श्रेणी में माने जाते हैं। आम्र में अम्बामाता तथा आशापाला वृक्ष में ब्रह्मा का निवास लोक में मान्य है तथा केलीवृक्ष गणपति का। माया के मांडने में भी दोनों ओर केली वृक्ष मांडा जाता है।

तिलक का अपना महत्त्व है। इसे प्रतीक रूप में धारण किया जाता है। शिव तिलक, (त्रिपुंड), विष्णु तिलक, रामानुज सम्प्रदाय का तिलक, रामस्नेही सम्प्रदाय का तिलक, ज्योति स्वरूप तिलक, नाग तिलक अंग्रेजी के 'यू' आकार का तिलक, अर्द्धचन्द्राकार एवं पूर्ण चन्द्र तिलक, सूर्य तिलक, त्रिशूल तिलक और भी अनेक प्रकार के तिलक प्रतीक रूप में भिन्न सम्प्रदायों के प्रतीकात्मक रूप में मस्तक पर धारण किये जाते हैं। तिलक का मस्तक पर अंकन शुभ माना जाता है। इसलिये बिना तिलक धारण किए ब्राह्मण का प्रवास पर जाते समय, समक्ष मिलना अशुभ माना जाता है। अपने–अपने सम्प्रदाय का तिलक प्रतीक मुख्य द्वार पर अंकित करने का भी प्रचलन है।

द्वार पर ही एक और प्रतीकचिह्न चक्राकार मत्स्य युगल का है। इसका अंकन दो रूपों में देखने को मिलता है। केवल मत्स्ययुगल अथवा मत्स्ययुगल के मध्य में कलश। इसे वास्तुदोष का निवारक माना जाता है। प्रलयकाल के समय मत्स्य ने ही सृष्टि की बीजरूप में रक्षा की थी। मत्स्य विष्णु का अवतार है। इन्हीं कारणों से मत्स्य को प्रतीक रूप में मंगलदायी माना गया है।

कच्छप का प्रतीक चिह्न अनेक स्थानों पर चितराया जाता है। संझा के मांडने में तो यह प्रतीक अवश्यंभावी है। यह दीर्घायु होने का प्रतीक है। श्रीहरि के रूप में भी यह पूज्य है। समुद्रमंथन के समय श्रीहरि रूप कच्छप ने ही मंदराचल को धारण किया था। हस्ति (हाथी) का अंकन शुभ लाभ के रूप में द्वारों के दोनों तरफ किया जाता है। यह समुद्रमंथन के नवरत्नों में से एक रत्न (ऐरावत) है। गणपति का स्वरूप भी समझा जाता है। हाथी वनजीवों में

सबसे बुद्धिमान माना जाता है। यह अंकन प्रतीक यश समृद्धि का दाता है। द्वार पर श्रवण का अंकन श्रावण मास में किया जाता है। यह प्रतीक माता-पिता की सेवा का माना जाता है। श्रावण मास से लगाकर वर्षभर द्वार के दोनों ओर श्रवण के शुभ प्रतीक मँडे रहते हैं। कहीं-कहीं नाग का प्रतीकचिह्न भी द्वार पर चित्राया जाता है। धरणीधारक नाग की पूजा लगभग पूरे भारत में की जाती है। नाग का प्रतीक उसके धरणीधारक के रूप में किया जाता है।

द्वार के दोनों ओर चँवरी का शुभ प्रतीक बनाया जाता है। चँवरी के पाँच अथवा सात कलश माने जाते हैं। सबसे ऊपर नारियल का अंकन किया जाता है। ये प्रतीकचिह्न 'माया' में भी अंकित किये जाते हैं।

श्री का प्रतीक सदा शीर्ष पर होता है। यश और समृद्धि सिद्धि के रूप में 'श्री' का प्रतीक माना जाता है। ऐसा ही प्रतीक चिह्न मुस्लिम समाज में 786 अंक के लिखने में मान्य है। क्रास चिह्न का अंकन 'क्षमा' के प्रतीकचिह्न के रूप में प्रभु ईसामसीह के शूल रूप में किया जाता है।

'पगलिया' (चरणचिह्नों) का प्रतीकात्मक अंकन लोक में दो रूपों में होता है। प्रथम दीपावली के दिन मुख्यद्वार के प्रवेश पर अथवा सीढ़ी के प्रथम पायदान पर लक्ष्मी माता के शुभ चरण की चित्रावण की जाती है। इसका अंकन माता लक्ष्मी के गृह में प्रवेश के प्रतीकात्मक रूप में मान्य है। 'पगलियों' का दूसरा अंकन बालक (पुत्र) जन्म पर उसके पितृ परिवार को उसके चरणचिह्न सिंदूर में पोतकर किसी कागज पर चिह्नित कर दिये जाते हैं। नाई या ब्राह्मण उन पगलियों का शुभ समाचार लेकर बालक के पितृ परिवार में जाता है और उन्हें उनकी वंशवृद्धि की मंगल सूचना देता है। विशेषकर मालवा अंचल और राजस्थान अंचल में प्रथम प्रसव मायके में होता है। इसी कारण पुत्र उत्पन्न होने व कुशल मंगल की सूचना 'पगलियाँ' प्रतीक द्वारा भेजी जाती है। इसी पगलिया में सातिया, खिलौने, गाय (बछड़े सहित), झुनझुना, कलश, मोर, कलशधारिणी सधवा तथा पगले चित्रांकन के ऊपरी भाग में परंपरागत दाहिनी ओर सूर्य और बायी ओर चन्द्रमा अंकित किया जाता है।

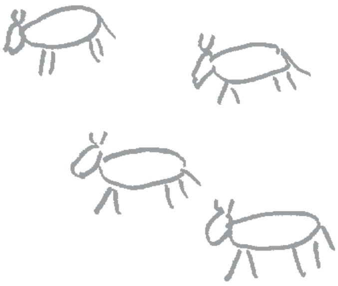

विवाह के समय माया का मंडावण किया जाता है। उसमें प्रतीकचिह्नों के रूप में गणपति, चँवर डुलाती रिद्धि-सिद्धि, कलश, बाजोट का अंकन मांगल्य प्रतीकचिह्न विवाह के निर्विघ्न रूपसम्पदा के भाव से मांडे जाते हैं।

'नाग' को प्रतीकचिह्न में अनेक चित्रावण मंडावण में अंकित किया गया है। भित्ति पर ये चित्रावण की जाती है- बालिका, फूलमाला, रक्षासूत्र तथा मात्रिकाएँ चितरायी जाती हैं। ये सभी प्रतीक परिवार की सुख-समृद्धि को दर्शाते हैं।

श्राद्धपक्ष में कन्याओं द्वारा सोलह दिन तक गोबर से संजा की मंडावण की जाती है। उसे ऋतु फूलों और हरे पत्तों से सजाया जाता है। इससे जहाँ उनमें रंगविधान की कुशलता आती है, वही उसमें मांडे गये चिह्नों द्वारा अपने भावी सुखमय (वैवाहिक) जीवन की आकांक्षाएँ भी निहित रहती हैं। यह मंडावण सोलह दिनों तक मांडी जाती है। प्रत्येक दिन का पृथक्-पृथक् प्रतीक चिह्न होता है। यथा तारा, चाँद-सूरज, ध्वज-पताका, वीजणा (पंखा), सात्या, आरती, चौपड़, हाथी, बावड़ी, कछुआ, गणपति, फूल, चिड़िया, सातिया जोड़। सोलहवें दिन पूरा कोट मांडा जाता है। उसमें ये सभी प्रतीक चिह्न मांडे जाते हैं।

इन्हीं प्रतीकों में कहीं-कहीं पंचफूल, दही बिलोनी, बालक, छड़ी भी मांडी जाती है। ये सभी प्रतीक चिह्न कन्या अपनी सुख सौभाग्य की कामना और आकांक्षा के लिये मांडती है। सोलह मांडने कन्या के सोलह वर्षों के प्रतीक हैं। षोडशी होने पर उसके विवाह की आयु व मंगल मांगल्य तथा सवार्थ रिद्धि-सिद्धि की कामना वह संज्ञा से करती है। एक दिन एक वर्ष का प्रतीक है।

एक विचित्र प्रकार का प्रतीकचिह्न द्वार पर मांडा जाता है, जो देखने में अमंगलदायी किन्तु वास्तव में मंगलदायी होता है- वह है 'उल्टा सातिया'। द्वार के दोनों तरफ उल्टे चक्र में काले रंग

से सातिया मांडा जाता है। यह उल्टा सातिया सिद्धि विनायक के प्रति भक्त का रुष्ट भाव प्रकट करने का प्रतीक है। जिस महिला के संतान नहीं होती, वह द्वार पर दोनों ओर उल्टा सातिया बनाती है। यह काले रंग से ही मांडा जाता है। संतान होने पर गणपति की विशेष पूजा करने पर अंकन मिटा कर सीधा सातिया मांडा जाता है। चौपड़ सुखमय जीवन में मनोरंजन का प्रतीक है, वहीं दही बिलोनी (मथानी) घर में भरपूर दूध, दही होने की कामना का प्रतीक है।

जैन समाज का मांगलिक चिह्न जिसे स्वस्तिक कहा जाता है, एक निर्धारित आकार में रेखांकित किया जाता है। उस आकृति के भीतर अभयमुद्रा में हस्त तथा हस्त में चक्र का प्रतीक मांडा जाता है। हस्त आशीर्वाद के प्रतीक में तथा चक्र धर्मचक्र के रूप में मंगल प्रतीक है। यह मांगलिक प्रतीक भगवान महावीर स्वामी के पच्चीसवें निर्वाण मोक्षोत्सव पर निर्धारित हुआ। अब इसका अंकन प्रत्येक मांगलिक अवसरों पर क्षमा और अहिंसा भाव से किया जाता है।

'हल' का अंकन आज लुप्त होता दिख रहा है। ग्रामीण अंचल में मांगलिक अवसरों पर भित्तियों पर उस प्रतीक का अंकन देखा जाता है। यह प्रतीक कृषि (फसल) की प्राकृतिक आपदा से बचाने के लिये किया जाता रहा है। यह प्रतीक बलदाऊ जी के शस्त्र के रूप में भी माना जाता है। विवाह के अवसर पर द्वार के दोनों ओर हल स्थापित कर मुख्य तोरण द्वार बनाया जाता है। वहीं दोनों ओर हल प्रतीकात्मक अंकन करने का चलन भी रहा है। अब इसका अंकन कम होने लगा है। यह हल कृषि की रक्षा और अच्छी फसलों के उपजाने का मांगलिक प्रतीक है।

ज्यामितीय अंकन भी मांगलिक प्रतीकचिह्नों के रूप में मांडे जाते है। त्रिकोणीय, चतुष्कोणीय, पंचकोणीय, षट्‌कोणीय, अष्टकोणीय आकारों का मंडावण का चलन आज भी है। इनमें से अनेक आकार जंतर के रूप में भी मांडे जाते हैं व उनकी पूजा की जाती है– यथा श्रीयंत्र, सूर्ययंत्र आदि। इसी प्रकार पुष्पाकार प्रतीकचिह्नों का अंकन भी किया जाता है– पंचपंखुड़ी, अष्टपंखुड़ी आदि।

मालवांचल की लोकसंस्कृति वस्तुतः भारतीय संस्कृति की प्रतिनिधि संस्कृति है। मालवा भारत का नाभिस्थल है। यहाँ के समस्त मंगलप्रतीक पूरे भारत के मंगलप्रतीक हैं।

प्रतीकों के माध्यम से हमने समस्त शुभ भावनाओं को साकार एवं सात्विक रूप से प्रस्तुत किया है। हमने अपने मन में संचित मंगलभाव, आस्था, विश्वास प्रतीकों के माध्यम से साकार किये हैं। अदृश्य को सदृश्य, निराकार को साकार, अनुपस्थित को उपस्थित करने का प्रयत्न किया है। सातों समुद्रों और समस्त तीर्थों को कलश में समाहित करने का हमारा भाव असम्भव को भी सम्भव करने में सफल हुआ है। यही कारण है कि ये मंगल प्रतीक हमारी संस्कृति, सभ्यता, निष्ठा और विश्वसनीय के आधार स्तम्भ के रूप में युगों–युगों से पारंपरिक रूप से मंगल के मांगल्य का विश्वास बने हुए हैं।

प्रमुख गोत्र अभिप्रायों की उत्पत्ति

निरंजन महावर

गोत्र अभिप्रायों की उत्पत्ति में गोंड जनजाति की ऐसी मान्यता है कि इन प्राणियों अथवा जीव जन्तुओं ने प्राचीन काल में इन लोगों की रक्षा या सहायता की है। कुछ लोग इन्हें अपना पूर्वज एवं पूज्य मानते हैं तथा न तो इन्हें मारते हैं न ही इनके मांस का आहार करते हैं। संपूर्ण गोंडवाना क्षेत्र के समस्त कोईतुरों के गोत्रों का यदि सर्वेक्षण किया जाये तो उनकी संख्या कई सौ तक पहुँच जाएगी! अत: उनके जो प्रमुख भाईबंदी गोत्र अभिप्राय हैं तथा अन्य कुछ प्रमुख गोत्रों की उत्पत्ति का वर्णन प्रस्तुत किया गया है, जो पर्याप्त होगा।

बैतूल जिले से गंगाप्रसाद खत्री ने कुछ गोत्रों की उत्पत्ति से संबंधित सामग्री एकत्र की है, जिसका रसेल एवं हीरालाल ने अपने ग्रन्थ में उल्लेख किया है। यहाँ उन्हें उद्धधृत किया जा रहा है:

(1) गज्जामी, धुरवा गोत्र का एक उपगोत्र– गज अर्थात् बाण, इनके एक पूर्वज ने बाण (तीर) से एक बाघ का शिकार किया था। इस कारण से इस गोत्र का गज्जामी नामकरण हुआ। इनका अभिप्राय बाण है।

(2) गौरीबंस धुरवा– इनके प्रथम पूर्वज ने अपने देवताओं की पूजा बाँस के पिंड (Clump) में की थी। अत: इनका गोत्र गौरी बंस हो गया। ये लोग बांस के पिण्ड को कोई हानि नहीं पहुँचाते।

(3) कसद्या धुरवा, धुरवा गोत्र का एक उपगोत्र– इनके प्रथम पूर्वज को एक वृक्ष पर कोसे का एक कोया दिखाई पड़ा। उसने उस कोये (Cacoon) में अपने देवताओं की पूजा की।

(4) कोहका पाथ – कोहका अर्थात् भिलावा का फल तथा पाथ अर्थात् बालक। इसके गोत्र के प्रथम पूर्वज ने सर्वप्रथम अपने

देवताओं की पूजा भिलावा के वृक्ष में की थी तथा उसे एक बालक की बलि प्रदान की थी। इस गोत्र के लोग भिलावा के फल या फूलों को नहीं खाते।

(5) जगल्या – जो या तो सोता नहीं या जो जगाने का काम करता है। इनका प्रथम पूर्वज देवखुला (देवस्थान) में संपूर्ण रात्रि जाग रहा था, अत: इस गोत्र का नाम जगल्ला पड़ गया।

(6) सरियाम अथवा पथ – इस गोत्र के प्रथम पूर्वज ने देवखुला के पथ की झाड़ू से सफाई की थी।

(7) गुड्डम – गुड्डा उस स्थान को कहते हैं, जहाँ मुर्गी अण्डे देती है। इस गोत्र के प्रथम पूर्वज को मुर्गी ने देवखुला में अण्डे दिये थे। अत: इनके गोत्र का नाम गुड्डम पड़ गया।

(8) इरपाची अर्थात् महुए का वृक्ष – महुए के वृक्ष की उत्पत्ति देवखुला में हुई थी अत: महुए का वृक्ष एक पवित्र वृक्ष है। इस गोत्र के लोग महुए के वृक्ष को नहीं काटते।

(9) अदमाची अर्थात् धवड़ा वृक्ष – इनके प्रथम पूर्वज ने अपने देवताओं की स्थापना धवड़ा वृक्ष के नीचे की थी। अत: धवड़ा वृक्ष इनके लिए पवित्र है और वे उसे किसी भी प्रकार से हानि नहीं पहुँचाते।

(10) सराती धुरवा अर्थात् कोड़ा या हंटर – इनके प्रथम पूर्वज ने कोड़े मारकर देवताओं के पुजारी की पिटाई की थी।

(11) सुइबादिवा अर्थात् सेही – इस गोत्र के प्रथम पूर्वज की पत्नि के पास एक सेही थी, जो एक वृद्ध के खेत की फसल को चर जाती थी। उसने उसे पकड़ने का प्रयास किया, परन्तु वह उसे पकड़ नहीं सका। वह खेत में चर कर उस स्त्री के पास वापस चली जाती थी। उस वृद्ध ने उस स्त्री से उसका कौन सा गोत्र है पूछा। वृद्धा कुछ समझ नहीं सकी कि उससे क्या पूछा जा रहा है, उसने कहा– 'सुइबादिवा' और तब से ही यह उनका गोत्र हो गया। इस गोत्र का अभिप्राय सेही हो गया।

(12) वटका अर्थात् पत्थर – इस गोत्र के लोग पाँच देवताओं के प्रतीक स्वरूप पाँच पत्थरों की पूजा करते हैं। कुछ लोगों का कहना है कि इस गोत्र के प्रथम पूर्वज युवक थे जो यह नहीं जानते थे कि देवखुला कहाँ हैं। अत: उन्होंने पाँच पत्थर स्थापित कर उन्हें एक मुर्गे की बलि प्रदान की। चूँकि उन्होंने बकरे की बलि नहीं चढ़ाई थी, इसलिए वे बकरे के माँस का आहार नहीं करते।

(13) तुमरेचावाइका अर्थात् तेंदू वृक्ष – ऐसा कहा जाता है कि इस गोत्र का प्रथम पूर्वज वन में अपनी गर्भवती पत्नी के साथ भ्रमण कर रहा था। उसकी पत्नी ने जब कुछ तेंदूफल देखे तो उसे उन्हें खाने की इच्छा हुई। संभवत: इसके पूर्व यह मान्यता रही होगी कि तेंदू के फल खाने के कारण वह गर्भवती हुई होगी। इस गोत्र के सदस्य तेंदू के फल तो खाते हैं, परन्तु वे न तो इसके वृक्ष को काटते हैं और न ही उसके पत्तों को किसी भी रूप में उपयोग में लेते हैं।

(14) तुमदान वाइका – तुमदान एक प्रकार का कद्दू या लौकी प्रजाति का फल है। उनका कहना है कि इसकी लता देवखुला में ऊगती है। इस गोत्र के सदस्य अपने घर में इससे पानी तो पी लेते हैं, परन्तु इसे लेकर घर से बाहर नहीं जाते।

(15) गधामार उइका अर्थात् गधे को मारने वाला – कुछ लोग मानते हैं कि इस गोत्र के प्रथम पूर्वज ने एक गधे की हत्या की थी, जबकि कुछ अन्य लोगों की मान्यता यह है कि इनके प्रथम पूर्वज ने गधे की देवखुला में हत्या की थी।

(16) सटी–कुमरा अर्थात् बकरा – इस गोत्र के लोग पूर्वकाल में अपने देवताओं को एक ब्राह्मण बालक की बलि चढ़ाते थे। एक बार एक चोरी गये बालक के माता–पिता ने उन्हें पकड़ लिया। उन्होंने देवताओं से प्रार्थना की कि उस बालक की रक्षा करें। तभी वह बालक एक बकरा बन गया। इस गोत्र के लोग बकरे का न तो माँस ही खाते हैं, न ही उसे मारते हैं और न ही देवताओं को उसकी बलि प्रदान करते हैं।

(17) अहके अर्थात् नदी का दूसरी ओर का किनारा– इस गोत्र के सदस्यों का कहना है कि धुरवा गोत्र का एक व्यक्ति

नदी के दूसरी ओर की एक स्त्री से विवाह करके ले आया था और उसने ही इस गोत्र की स्थापना की।

(18) तिरगाम अर्थात् अग्नि – इस गोत्र के सदस्यों का कहना है कि इनके एक पूर्वज का हाथ उस समय देवखुला में जल गया था, जब वह बलि हेतु भोजन तैयार कर रहा था।

(19) टेकाम अर्थात् टीक का वृक्ष – इस गोत्र के देवता टीक (सागौन) वृक्ष में निवास करते हैं। इस गोत्र के सदस्य टीक के पत्तों में भोजन नहीं करते, परन्तु घर के छप्पर की छवाई में उसके पत्तों का उपयोग करते हैं।

(20) मनाया – गोंडी भाषा में मनि याने पुत्र तथा अपा याने पिता। इस गोत्र के सदस्यों का कहना है कि इनके पूर्वजों ने एक ब्राह्मण पिता और पुत्र की बलि चढ़ाई थी और वे बकरा बनने से बच गये थे। जैसा कि एटी कुमरा वाले मामले में हुआ था। इस गोत्र के लोग न तो बकरे को मारते हैं, न ही उसका माँस खाते हैं।

(21) कोरपाची अर्थात् मुर्गे की बीट – इस गोत्र के प्रथम पूर्वज ने मुर्गों की बीट अपने देवताओं को भेंट में चढ़ाई थी।

(22) मण्डनी अर्थात् स्त्री की जनेन्द्री – इस गोत्र का प्रथम पूर्वज अपनी पत्नि के साथ देवखुला में सो गया था।

(23) पैय्याम अर्थात् बछिया – इस गोत्र के लोग अपने देवताओं को बछिया की बलि चढ़ातें हैं, दूसरे लोगों का कहना है कि इस गोत्र का कोई देवता ही नहीं है। इन्हें गोंड समाज में सर्वाधिक निम्न कोटि का माना जाता है।

गोंड जनजाति के गोत्र पाँच प्रमुख गोत्र भाईबंदी में बंटे हुए हैं जैसा कि पूर्व में ही उल्लेख किया गया है। अत: ये पाँच गोत्र अभिप्राय ही प्रमुख गोत्र हैं, जिनके आधार पर विवाह सम्बन्ध निर्धारित होते हैं। ये पाँच गोत्र हैं – नागवंश, कच्छिमवंश, कुंजामी या बकरावंश तथा सोरी अथवा बाघ वंश। परन्तु भिन्न-भिन्न स्थानों पर इनमें भिन्नता भी देखने को मिलती है। उदाहरणार्थ उसेंडी अबूझमाड़ का एक प्रमुख गोत्र है, परन्तु कोण्डागाँव क्षेत्र में इस गोत्र से कोई भी गोंड परिचित नहीं है। गोत्रों की उत्पत्ति तथा अभिप्रायों से सम्बन्धित कुछ दिलचस्प कथाओं का उल्लेख वेरियर एल्विन ने अपने ग्रन्थ 'मुरिया एण्ड देयर घोटुल' में भी किया है, वे यहाँ प्रस्तुत है ।

पृथ्वी के निर्माण के उपरान्त उसे स्थिरता प्रदान करने हेतु लिंगो तथा उसके भाइयों ने उस पर विशाल पर्वत रख दिये और उस पर एक नदी प्रवाहित कर दी। पृथ्वी (भूदेवी) रोने लगी– 'यहाँ मेरी पूजा एवं सेवा करने वाला कोई भी नहीं है।' लिंगो ने उससे कहा– दुखी मत हो। हम तुम्हारे लिए पुजारी की व्यवस्था करेंगे। लिंगो अपने भाइयों के साथ लंजीगढ़ गये, जहाँ नेतामी राजा रहता था। उसके सात पुत्र एवं सात पुत्रियाँ थीं। लिंगो ने उनसे कहा– 'मध्य लोक में पृथ्वी बनकर तैयार है। हम तुम्हें लेने आए हैं। यह सुनकर राजा नेतामी राजा मरकाम अपने बेटे-बेटियों तथा सोरी, कवाची, पोयामी, कुहरामी तथा कादो प्रजाजनों के साथ मध्यलोक के लिए चल पड़े। राजा नेतामी और राजा मरकामी के पास बहुत अधिक साजो सामान था, इसलिए वे धीरे-धीरे चल रहे थे, जिसके कारण वे अन्य लोगों से पीछे रह गये थे। मार्ग में एक विशाल नदी मिली। लिंगो ने भाइयों से कहा कि हम लोग तो देवता हैं, इसलिए नदी को पार कर लेंगे, परन्तु ये मनुष्य कैसे पार करेंगे। लिंगो ने नदी तट पर उगी हुई घास से एक रस्सी बनाई और उसे नदी के दोनों किनारों पर फैला दिया। प्रजाजन रस्सी की सहायता से पार उतर गये। वे राजा से द्वेष रखते थे, अत: उन्होंने रस्सी को काट दिया। राजा नेताम तथा राजा मरकाम को इस बात की जानकारी नहीं थी और वे रस्सी पकड़ कर नदी पार करने लगे। वे मझधार में पहुँच कर डूबने लगे। वे रोने लगे। उनके रोने की आवाज सुनकर डंडी मछली जो सभी जलचरों की रानी है, उसने एक कछुवे को उनकी सहायता के लिए भेजा। तब से नेतामी तथा मरकामी कछुवे को अपना देवता मानने लगे।

नेतामी गोत्र की उत्पत्ति

दो बच्चे जो भाई-बहन थे, वे नदी किनारे बैठकर रो रहे थे। तभी एक कछुवा आया और उसने लड़की को दूसरे किनारे पहुँचा दिया और चला गया। दोनों बच्चे नदी के दो किनारों पर रो रहे थे। तभी एक कुत्ते ने आकर लड़के को अपनी पूँछ पकड़ा कर पार लगाया। तबसे ही इनका पूज्य नेतामी अर्थात् कुत्ता हो गया, परन्तु वे कछुवे की भी पूजा करते हैं।

कछुवा तथा बड़ादेव

सर्वप्रथम वारंगल से बारह कोइतुर भाई बस्तर आए थे। नदी में बाढ़ आने वाली थी। छै भाइयों ने जल्दी से चावल को

पानी में मिलाकर खा लिया और नदी पार कर गये। दूसरे छै भाइयों ने चावल में घी मिलाया जिससे चावल पकने में विलम्ब हो गया और वे नदी के तट पर बैठकर रोने लगे। तभी एक कछुवे ने आकर उनसे कहा कि यदि वे उसकी पूजा करेंगे और कभी भी किसी कछुवे को नहीं मारेंगे और न ही उसका मांस खायेंगे, तो वह उन्हें नदी पार करवा देगा। उन्होंने कसम खाई कि वे कभी भी ऐसा नहीं करेंगे। कछुवे ने उन्हें नदी पार करवा दी। तब से वे छै भाई उसे बड़ादेव के रूप में पूजने लगे। डोंगर (बस्तर स्थित) में बड़ादेव कछुवे के रूप में विचरण करते हैं।

बोध मछली और काणा पेन

जंगल में एक बहुत बड़ा तालाब था। भारी वर्षा के कारण तालाब का बांध टूटने की आशंका से उसके नीचे की ओर बसे हुए एक गाँव के लोगों ने सोचा कि यदि बांध टूटा तो सब बह जायेंगे, अत: एक नाली बनाकर उसके जल को दूसरी ओर मोड़ देना चाहिए। जब नाली पूरी नहीं बनी और सब लोग थक गये, तब उन्होंने सोचा और काणा से कहा कि वह नाली खोदने का काम करे। जब वह अपने लकड़ी के फावड़े से खुदाई कर रहा था, तब गाँव के लोग सुस्ता रहे थे, उन्होंने कहा कि यदि काणा को तालाब में फेंक दिया जाए तो काम जल्दी पूरा हो जाएगा। जब काणा ने यह सुना तो वह भय से तालाब में कूद गया और पानी में बहने लगा। उस तालाब में एक विशाल मछली रहती थी। उस मछली ने क्रोधित हो उसकी एक आँख खाली। तब से काणाबोद नदी में ही रहने लगी और हम देवता के रूप में उसकी पूजा करने लगे।

सोरी अथवा बाघ गोत्र

दो बालक उत्पन्न हुए, जिनमें से एक बाघ था और एक मानव। जब बालक बड़े हुए तो उनमें से एक बालक अपने अन्य ग्यारह भाइयों के साथ खेत की ओर जा रहा था। उसी समय एक बाघ आया और उसने पूछा कि तुम लोग कौन हो ? यह सोचकर कि बाघ अपने स्वजातीय को नहीं खाएगा, पारी-पारी से उन सभी ने कहा- कि हम बाघ हैं। यह सुनकर बाघ ने उन्हें छोड़ दिया। जब उसने वास्तविक सोड़ी से पूछा कि तुम कौन हो तो उसने कहा कि वह सोड़ी है। बाघ ने क्रोधित होकर कहा, सब लोग सोड़ी नहीं हो सकते और वह उसे खा गया। तब से हम लोग बाघ से नाराज हैं और जब भी कोई बाघ मारा जाता है, तो हम लोग उसके मुँह में एक पैसा तथा एक अंडा रख देते हैं।

सोरी गोत्र में मधुमक्खी भी उनका गोत्र अभिप्राय है। बारह भाई एक बार शहद के लिए वन में गये। वहाँ उन्होंने नदी तट पर एक वृक्ष देखा। उस वृक्ष का प्रतिबिम्ब नदी में दिखाई पड़ रहा था, जिस पर मधुमक्खी के छत्ते लगे हुए थे। ग्यारह भाई शहद प्राप्त करने के लिए नदी में कूद पड़े और डूब गये। सबसे छोटा भाई तब तक वृक्ष पर लगे हुए छत्ते की ओर देख रहा था। वह शहद हेतु वृक्ष पर चढ़ गया और उसे वह मिल गया। इस प्रकार से सोरी गोत्र की उत्पत्ति हुई।

कुछ गोत्रों की उत्पत्ति स्वप्नों के आधार पर हुई प्रतीत होती है, तो कुछ गोत्रों की उत्पत्ति निवास स्थान परिवर्तनों के कारण। एक युवती के पति की मृत्यु युवावस्था में ही हो गई। वह दु:ख में विलाप कर रही थी। उसे स्वप्न में उसके पति ने आकर कहा- 'मेरी पूजा दूल्हा देव की तरह करो तो मैं तुम्हारा बना रहूँगा। दूसरे दिन उसने दूल्हा देव की पूजा की। उसके उपरांत प्रत्येक रात्रि में उसका पति आकर उसके साथ शयन करने लगा। वह गर्भवती हो गई और उसने एक पुत्र को जन्म दिया। उस गाँव के बड़े बुजुर्गों ने उससे पूछा कि वह बालक किसका पुत्र है? उसने कहा- 'यह बालक दूल्हा देव का पुत्र है।' वे सब उसकी बात पर हँस रहे थे कि तभी वह मृत बालक घर से बाहर निकला। तब सभी लोगों ने स्वीकार किया कि वह वास्तव में दूल्हा देव ही था, जिसने वह बालक प्रदान किया था। इसीलिए हम नेतामी लोग अपने आपको अविवाहित वंश का कहते हैं और हमारी स्त्रियाँ चूड़ी नहीं पहनती।

नेतामी और पोयामी दोनों का ही गोत्र अभिप्राय कछुवा है और दोनों की उत्पत्ति समान माता-पिता से हुई है। अकाल के समय एक पोयामी नेतामी के घर कुछ अन्न मांगने गया तो नेतामी ने यह कहकर उसे मना कर दिया कि उसके पास अन्न नहीं है। तब पोयामी ने कहा कि तुम काम धंधा करने के लिये मेरी बेटी को रख लो। इस बात पर राजी होकर उसने उसकी लड़की को रख कर उसे अनाज दे दिया। जब पोयामी लड़की को लेने नहीं आया तो उसने उस लड़की से विवाह कर पत्नि बना लिया। उस लड़की ने एक कन्या को जन्म दिया जो नेतामी थी और उसके भाई का एक पुत्र उत्पन्न हुआ जो पोयामी था। दोनों बच्चों के बड़े होने पर उनका विवाह हो गया। वह लड़की उस लड़के की 'दूधबहिनी' थी।

छत्तीसगढ़ी मांगलिक प्रतीक

रामकुमार वर्मा

भारत के हृदय स्थल के करीब बसा है छत्तीसगढ़। एक दशक पूर्व यह ठीक मध्य में मध्यप्रदेश का एक बड़ा हिस्सा था। पृथक् छत्तीसगढ़ राज्य बन जाने के बाद सम्पूर्ण भारत वर्ष में अपनी विशिष्ट पहचान बनाने के लिये संघर्षरत है। छत्तीस गढ़ों के कारण इसे छत्तीसगढ़ नाम दिया गया है। प्राचीन काल में इसका नाम दण्डकारण्य, दक्षिण कोसल, महाकोसल, चेदीसगढ़ था। प्राचीन समय में राज्य की सुरक्षा हेतु 'गढ़' अथवा 'दुर्ग' को सहायक माना गया। बाद में गढ़ों की महत्ता के कारण ही इस गढ़ बहुल क्षेत्र का नाम छत्तीसगढ़ पड़ गया। इन गढ़ों के प्रमाण आज भी प्रदेश में मिलते है। 'धान' के अधिक उत्पादन व विपुलता के कारण इसे 'धान का कटोरा' भी कहा जाता है। इस राज्य की विशिष्ट सांस्कृतिक परम्पराएँ हैं। एक तिहाई भाग में वन प्रदेश हैं, जहाँ जनजातियाँ आज भी अपनी आदिम अवस्था में निवास करती हैं। उनके अपने राज, समुदाय, पंचायतें व लोक परम्पराएँ हैं। इन पर अन्यों की दखल नहीं है। जनजातियों के साथ ही मैदानी भागों, जिसे 'खालसा राज' कहा जाता है, अनेक जाति समुदाय के लोग अपने ग्रामीण परिवेश में निवास करते हैं। नगरीय क्षेत्रों में लोग अपनी सभ्यता की पृष्ठभूमि में रहते हैं। इन सबका अपना रहन-सहन, बोली-बात, संस्कृति, जीवनशैली एवं आस्था के प्रतीक हैं, जो प्रदेशवासियों के संस्कारों, निवासस्थलों, पर्वों, तीज-त्याहारों के समय उभर कर दिखते हैं।

छत्तीसगढ़ के लोग अपने इष्टदेवी-देवताओं, मिथकों, परम्पराओं, रीति-रिवाजों, लोक देवताओं के प्रति विशेष आस्था रखते हैं। इतना अधिक विश्वास करते हैं कि मानों उसमें विधाता ने प्राण फूँक दिये हैं। कुछ दशक पूर्व जिस बेडौल या अनगढ़ प्रस्तरखण्ड को बंदनबूक कर चबूतरे पर विराजित किया था, उसे आस्थावानों ने भव्य मंदिर का रूप दे दिया। उसकी कीर्ति की पताका चारों ओर फहराने लगती है।

पग-पग पर आस्था के प्रतीक परिलक्षित होते हैं। अपने परिवारजनों, समुदाय व सर्वहित की कामनाएँ भी इसमें समाहित होती हैं। कुछ प्रतीकों को अब मांगलिक प्रतीकों के रूप में चिह्नित कर लिया गया, उसके मूल स्वरूप के साथ थोड़ा-बहुत परिवर्तन के साथ सहज में स्वीकार कर लिया गया है, जो प्रदेश की विशिष्ट सांस्कृतिक प्रतीक के रूप में स्थापित हैं। ये प्रतीक कहीं न कहीं लोक आस्था से जुड़े होने के साथ सुरक्षा, मंगल कामना एवं सुख-समृद्धि की चाह को व्यक्त करने वाले होते हैं।

तुलसी चौरा

तुलसी का पौधा औषधीय गुणों से युक्त होता है। तीक्ष्ण व स्वाद में चरपरा होने के साथ ही सदा शुद्ध वायु उत्सर्जित करने वाला होता है। इस बात से हमारी पुश्तें हजारों वर्ष पूर्व परिचित हैं। यही कारण है कि वर्तमान में सभी घरों में तुलसी पौधा रोपने के लिये अलग से चबूतरा बनाया जाता है। तुलसी चौरा घर के आंगन के बीचों-बीच या पर्याप्त जगह न होने पर किसी एक किनारे पर बना लिया जाता है। समय-समय पर इसकी लिपाई-पुताई रंग-रोगन किया जाता है। हमेशा तुलसी के पौधे का हरा रहना घर-परिवारजनों की सुख-समृद्धि का प्रतीक माना जाता है। सुहागिनें विशेष रूप से पूजा-अर्चना करती हैं। यह औषधीय पौधे के रूप में गुणकारी होने के साथ चौबीस घण्टे ऑक्सीजन देने वाला है। यह सर्वदा मंगल का प्रतीक है। नगरों के साथ ग्रामीण क्षेत्रों की महिलाएँ माता तुलसी के महत्त्व को अच्छी तरह से समझती हैं। उन्हें वृन्दा-तुलसी, रुक्मिणी द्वारा तुलसी की भक्ति से अन्य रानियों की रक्षा व सौभाग्य प्राप्ति, तुलसी विवाह की पौराणिक कथा प्रसंगों का ज्ञान है। घर में किसी तरह की पूजा-अनुष्ठान तुलसी चौरा के पास ही होती है।

रोज संध्या चौरा में एक दीप जलाया जाता है। सुबह स्नान करके आते समय तालाब, नदी से एक लोटा पानी अवश्य लाते हैं, जिसे तुलसी के पौधे को बड़ी श्रद्धा के साथ अभिसिंचित करते हैं। प्रत्येक घर में तुलसी व इसके लिये बने चबूतरे को मांगलिक प्रतीक के रूप में पूजा जाता है।

गौरी गणेश

सभी देवताओं में गणेश जी की पूजा सर्वप्रथम होती है। पौराणिक प्रसंग के अनुसार जनपदीय परम्पराओं में भी गणेश की स्तुति व पूजा प्रथम की जाती है। शास्त्र की बात का लोक में आना अपने आपमें अनोखा है। छत्तीसगढ़ के आदिवासी अंचलों में भी बूढ़ा देव, महादेव के साथ गणेश जी की पूजा करने के प्रमाण हैं। बस्तर के दंतेवाड़ा जिला के बस्तर क्षेत्र में गणेश की विशाल प्रस्तर प्रतिमा प्राप्त हुई है। साथ ही प्रत्येक प्राचीन मंदिर में गणेश जी की प्रतिमा है। यहाँ किसी शुभ कार्य या अनुष्ठान के समय धातु के ठाकुर देव या अन्य प्रतिमा के पूर्व गोबर से बनाये गौरी गणेश की प्रथम पूजा की जाती है। 'गणेश' बुद्धिदाता व मंगलदाता हैं। इस तरह दोनों को एक साथ रखकर पूजित किया जाता है। 'गोबर' का बनाया जाना इसलिये पवित्र माना जाता है कि 'गो' का अर्थ 'गाय' है, जो सदा सुख देने वाली है। 'बर' वर का आशय है देने वाला। इस तरह 'गोबर' हमेशा सुख देने वाले के रूप में अर्थ किया जाता है, पवित्र माना जाता है। 'गौरी-गणेश' गोबर के लोंदे से दो समान भाग में अनगढ़ रूप में गढ़ा जाता है। उसे चौक पूर कर रखते हैं। इसके ऊपर रूई को हल्दी पानी में भीगा कर रंगा जाता है। दोनों के बीच हरी दूब रखी जाती है, ताकि एक साथ होने से माँ-बेटे के संबंध में दुराव रहे। दूब की आड़ रख दी जाती है। पूजा के सारे नेंग पहले गौरी-गणेश पर किये जाते हैं, फिर दूसरे देवताओं पर। इनको प्रथम पूजित माने जाने का चलन जनपदीय परम्पराओं में है। जहाँ पूजा-अनुष्ठान में कोई द्विज-ब्राह्मण नहीं होते हैं। वहाँ 'गौरी-गणेश' की स्थापना कर मौलिक रूप में पूजा-अर्चना कर ली जाती है। इस तरह गौरी-गणेश मांगलिक प्रतीक रूप में पूजा-पाठ में रखे जाते हैं।

कलश

प्रत्येक हर शुभ कार्य में कलश की स्थापना की जाती है। यह वैभव व सम्पन्नता का प्रतीक होने के साथ ही सदा मंगलकारी होता है। सत्यनारायण कथा, विवाह, मकान प्रतिष्ठा या किसी भी पूजा-अनुष्ठान में पारम्परिक चौक पूरने के बाद कोला, पीतल,

तांबा, मिट्टी आदि के बर्तन (लोटा) का उपयोग कर कलश बनाया जाता है। पूजा कलश तैयार करते समय लोटे के ऊपर मोहलाइन पत्तों से बने दोने में धान या चावल भरते हैं। उसके ऊपर दीपक रखकर जलाया जाता है। पूजा करते समय इसकी पृथक् मंत्रोच्चार कर स्थापना की जाती है। तब वह पूरी तरह वैदिक रूप ले लेता है। ग्रामीण व आदिवासियों में पूजा या होम करते समय कलश की स्थापना की जाती है। इसे मांगलिक प्रतीक के रूप में स्थापित किया जाता है। पूजा-पाठ के अलावा विवाह के समय विशेष प्रकार का कलश बनाया जाता है। इसे 'करसा' कहा जाता है। विवाह के समय इसे दो की संख्या में बनाते हैं। मंडप पर लगे दोनों बाँसों के साथ एक-एक करसा रखा जाता है। यह मिट्टी की छोटी मटकी से तैयार किया जाता है। विशेष रूप से विवाह शुरू होने पर 'तेलमाटी' के नेग के साथ ही घर की बहन-बुआ या कुँवारी कन्याएँ इसे सजाती हैं। चारों ओर गोबर की पतली-पतली दीवारें बनाते हुए उस पर धान को खड़ा-खड़ा चुभाती है। बीच-बीच के खाली हिस्सों में खेतों का प्रतीक चावल को कई रंगों में रंग कर चिपकाती है। तब कलश सजावटी होने के साथ परिवार की सम्पन्नता का प्रतीक बन जाता है। जब इस पर नांदी रखकर बाती जला दी जाती है, तो ऐसा प्रतीत होता है मानो कोई बड़ा मांगलिक कार्य हो रहा हो। कलश से कोई भी अनुष्ठान विशिष्ट लगता है। यही कारण है कि जनपदीय संस्कृति में भी प्रत्येक शुभ कार्य में 'कलश' या 'घट' की स्थापना अवश्य की जाती है। छत्तीसगढ़ में कांसा का बर्तन 'फूलकांस' कहलाता है। इसे जितना साफ करो उतना ही चमकदार दिखता है। इसको कलश के रूप में पूजा-प्रतिष्ठा में रखा जाता है। जलरत के अनुसार साज-सज्जा करके इसे विशिष्ट रूप दिया जाता है। पूजा-पाठ या अनुष्ठान की पूर्णाहुति तक कलश में दीपक का जलते रखना बड़ा ही शुभ माना जाता है।

चौक पूरना

सम्पूर्ण प्रदेश में किसी भी शुभ कार्य, पूजा-अनुष्ठान करने के पूर्व भूमि की स्वच्छता व अलंकरण करने की अनोखी परम्परा है। छत्तीसगढ़ में इसे 'चौक पूरना' कहा जाता है। यह केवल भूअलंकरण मात्र नहीं है। अपितु मानव मन की अभिव्यक्ति का एक अद्भुत नमूना है। इसी कारण इसे 'अभिव्यक्त रेखाएँ' कहते हैं। अलग-अलग प्रदेशों में इसका नाम अलग है, पर मूल भावना एक ही है। वह है मंगल प्रतीक। प्रतीक चौक पूर कर मन में जहाँ पवित्रता की भावना पल्लवित होती है, वहीं पूजा-प्रतिष्ठा वाली जगह की स्वच्छता भी हो जाती है। छत्तीसगढ़ में इसे 'सीता चउक' या 'छिता चउक' कहा जाता है। ग्रामीण क्षेत्रों के कुछ समुदाय में 'स' के स्थान पर 'छ' का उच्चारण होता है। इसलिये 'छिता चउक' भी कहा जाता है। इस संबंध में दंतकथा प्रचलित है कि रामायण काल (त्रेतायुग) में धनुषयज्ञ के समय सीता जी ने स्वयंवर में भगवान शिव के धनुष को रखने के पूर्व उस जगह को गोबर से लीपा। चावल आटे से चौकोर चउक (चौक) पूरी। उसके ऊपर लकड़ी की चौकी रखी, फिर मखमली चादर के ऊपर धनुष को रखा। इसी चौक का नाम 'सीता चौक' पड़ गया। कुछ विद्वान् इसे मांगलिक चौक भी कहते हैं। प्रदेश में जब कभी कोई शुभ कार्य होता है, कथा-पूजा होती है, ज्योति कलश की स्थापना की जाती है, तब ऐसे चौक बनाये जाते हैं। इन चौकों के नमूनों व रेखांकनों को सूक्ष्म रूप से देखने से पता चलता है कि इसमें भारतीय मांगलिक प्रतीकों का सुन्दर समावेश है। विशेष रूप से स्वस्तिक गोपदम, वर्तुल, अर्धवर्तुल, सूर्य, चन्द्र, केन्द्रवर्धनी, सर्पली रेखाएँ, समान्तर रेखाएँ, मोर, पद्म, चक्र, शंख, गदा आदि का समावेश होता है।

इसी के साथ अगहन बृहस्पति में माता लक्ष्मी की विशेष पूजा-अर्चना की जाती है। कुछ घरों में महिलाएँ लक्ष्मी की मूर्ति को स्थापित कर अगहन मास में पड़ने वाले प्रत्येक गुरुवार को विशेष प्रकार के चौक बनाती हैं। घर के दरवाजे में माता लक्ष्मी के पाँव से लेकर जहाँ माता लक्ष्मी की मूर्ति स्थापित की जाती है, वहाँ तक संकरी या गोपद बनाते हुए ले जाती हैं। एक पर एक कड़ी जोड़ती जाती है। अंत में मांगलिक चौक बना होता है। साथ में आँगन की शोभा के लिए सुन्दर सा चौक बनाया जाता है। इसे 'गुरुवारीय चौक' कहा जाता है। जनपदों में ब्राह्मण, राजपूत, वैष्णव, कुर्मी, अग्रवाल समुदाय की महिलाएँ इसमें काफी दक्ष होती हैं। इन चौकों को उसके आकार व रेखाकृतियों के आधार पर कुसियादी कोपशहा, कमलगट्टा, मंदरस छाता, धनाही, चाँदनी, गाँठिया, गुणाही, ऋणाही, अमरबेल, संतियाँ, चैनफांस, कमलकुंज, आदि नामों से जाना जाता है। इसी तरह देव उठनी के दिन भी विशेष प्रकार के चौक बनाये जाते हैं। इस दिन भी पशुधन व माता-लक्ष्मी को समर्पित होकर चम्मच, झारा, सीढ़ी, हंसिया,

गोपद, गुप्ती, कजरौटी, हंडा, कलश, सिक्के, कढ़ाही, कोपरा व मांगलिक चौक बनाती हैं। अन्य अवसर- जैसे शोभा यात्रा, जन्मोत्सव, विवाह, मृतक कर्म पर डण्डा चौक बनाते हैं। शुभ कार्यों के समय पूर्व-पश्चिम तथा मृतक कर्म के समय उत्तर-दक्षिण की ओर पाँचों अंगुलियों के सहारे चावल, गेहूँ के आटे से रेखांकन करते हैं। इसे 'डंडा चौक' कहा जाता है। इस तरह सम्पूर्ण प्रदेश में पृथक्-पृथक् आकार व नमूनों के चौक बनाये जाते हैं, जो सर्वत्र मंगल के प्रतीक हैं। महिलाओं या बनाने वाले व्यक्ति के मन में व्याप्त सुन्दरता व मूल भावनाओं का प्रकटीकरण इन रेखाओं के द्वारा होता है। यही कारण है कि इसे अभिव्यक्त रेखाएँ कहा जाता है। एकदम सरल एवं झक सफेद चावल आटे से बने चौक सुन्दर के साथ मंगल प्रदान करने वाले होते हैं। इन्हें देखते ही मंगल का भान होता है।

तोरण पताका

जनपदीय संस्कृति में पूजा-अनुष्ठान सहित मांगलिक कार्यों में 'तोरण-पताका' लगाने का चलन है। यह सजावटी होने के साथ ही सदा मंगलकारी माना जाता है। मंदिरों में जहाँ बड़े आकार के छाजा चढ़ाये जाते हैं, वहीं खेतों, सरहदों, देवस्थानों, जंवारा पूजन के समय तोरण पताका लगाया जाता है। 'तोरण' हमेशा आम की पत्तियों का बनाया जाता है। पूजा-प्रतिष्ठा सम्पन्न हो जाने के बाद घर के मुख्य दरवाजे के ऊपर चौखट में या छप्पर पर तोरण लगाया जाता है। इसे काशी से भाँजी गई सुतली में आम की पत्तियों के डंठल को पिरोकर बनाया जाता है। नाई को तोरण बाँधने का न्यौछावर भी दिया जाता है। जब कोई नया घर बनाता है, उस समय तो और भी प्राथमिकता से तोरण लगाया जाता है। तोरण लगा देखकर यह सहज में ही अंदाजा लगाया जा सकता है कि यहाँ कोई मांगलिक कार्य सम्पन्न हुआ है।

जनपदों में 'पताका' लगाने का भी चलन है। यहाँ तक लोक देवी-देवताओं में होम-धूप करते समय काला, लाल, सफेद तीन रंगों का बना पताका बांस की छोटी तिलियों के सहारे लगाते हैं। यह दर्जियों के घर से लाया जाता है। बैगा व तांत्रिक लोग भी इसका उपयोग करते हैं। विशेष रूप से इसका उपयोग जंवारा पर्व, गाँव की सरहदी पूजा, चुरैतीन देवी, काली माता, शीतला माता के मंदिर में लगाया जाता है। काला रंग काली माता, लाल हनुमान व सफेद रंग सत्य का प्रतीक होता है। सावन मास में हरेली त्योहार के समय भी घरों की सुरक्षा की दृष्टि से इस अभिमंत्रित करके लगाया जाता है। इन्हें देखते ही मन में मंगल की भावना जाग जाती है।

मंगरोहन

विवाह के समय विभिन्न मांगलिक वस्तुओं का उपयोग किया जाता है। विवाह पूरी तरह से मांगलिक कार्य है। जनपदीय संस्कृति व नगर जीवन दोनों में ही वैवाहिक सामग्रियों के रूप में लगभग समान तरह की वस्तुओं का उपयोग किया जाता है। बनावट व रंग-रोगन में भले ही भिन्नता होती है। इसमें प्रमुख होता है 'मगरोहन'। अनेक स्थानों पर इसे 'मानिक खम्भा' भी कहा जाता है। सम्पूर्ण वैवाहिक संस्कार मगरोहन को साक्षी मानकर किया जाता है। यह लकड़ी का बना होता है। इसे महुआ या गूलर की लकड़ी से बनाया जाता है। इसे मण्डप में बांस के 'मण्डवा' के सहारे लगाया जाता है। कहीं-कहीं इसे एक ही लगा दिया जाता है। इस बारे में कथा प्रचलित है कि जब गांधारी का विवाह सम्पन्न हो रहा था, बीच-बीच में कुछ न कुछ बाधाएँ उत्पन्न हो जाती थी, तब किसी संत के कहने पर गूलर वृक्ष की शाखा से पुतला बनाया गया और विवाह के सारे नेंग पहले इसी मगरोहन का किया गया। तब उसका विवाह बिना किसी बाधा के निर्विघ्न सम्पन्न हो गया। द्वापर युग के इस पौराणिक प्रसंग का चलन जनपदीय संस्कृति में होना एक विशिष्ट बात है। इसे बढ़ई घर से बनवाकर बाजे-गाजे के साथ न्यौछावर देकर लाया जाता है। विवाह में आयी महिलाएँ दौतेला नामक नेंक करती हैं। आँगन में पण्डित व सुवासिनों की उपस्थिति में इसे मड़वा के साथ लगाया जाता है। इसे वर-वधू मानकर प्रथम के सारे नेंक इन्हीं पर किया जाता है। तब वर-वधू पर नेंग करते हैं। इसका स्थानीय चलन के अनुसार बनाव-शृंगार भी किया जाता है। बढ़ई भी परिवारजनों को मगरोहन सौंपने के साथ निर्विघ्न विवाह सम्पन्न होने की कामनाएँ करता है। इस तरह 'मगरोहन' मांगलिक प्रतीक होने के साथ ही स्थानीय संस्कृति की मांगलिक कृति है।

लंगूर वीर

हनुमान जी को जनपदीय संस्कृति में 'लंगूर बीर' की संज्ञा दी जाती है। यही वजह है कि यहाँ लगभग सभी गाँवों में हनुमान

जी का मंदिर मिल जाता है। राम के अनन्य सेवक होने के कारण जनपद में लोग हनुमान जी को सदैव रक्षक के रूप में पूजते हैं। इसी का लोकचित्र के रूप में लंगूर बीर बनाया जाता है। विशेष रूप से जब क्वार और चैत्र नवरात्रि पर्व के समय बैगा बंदन का घी या तेल में घोल कर अंगुलियों के सहारे बंदर की लोकाकृति बनायी जाती है। कोई चित्रकार गाँव में हो तो हनुमान जी का चित्र बनवाया जाता है। पर बैगा के हाथों बने लंगूर बीर को बड़ा पवित्र माना जाता है। इन्हें आस्था के साथ पूजित किया जाता है। यह हर प्रकार से रक्षक माना जाता है। जब घर या गाँव में माता शीतला या महामाया में जंवारा का अनुष्ठान किया जाता है, तब इसमें कई तरह की बाधाएँ उत्पन्न होने की आशंका रहती है। इसीलिये पंडा अपने हाथों से हनुमान जी का प्रतीक पुतलानुमा चित्र बना देता है। बाजू में त्रिशूल की रेखाकृति बना दी जाती है, जो दुर्गा माता के विशेष शस्त्र के रूप में रक्षक होता है। दरवाजे पर बना देने से घर वाले आश्वस्त हो जाते हैं कि हमारे अनुष्ठान में किसी तरह की बाधा नहीं आएगी। बजरंगबली सदैव सहायता करेंगे। बैगाओं द्वारा किये गये चित्रांकन एकदम सरल व मौलिक होते हैं, जो इसके जनपदीय होने को प्रमाणित करते हैं। इसको देखते ही मन में श्रद्धा व सुरक्षा का भाव पैदा हो जाता है। पंडा लोग इसे ज्योति वाले कक्ष के दरवाजे के दोनों ओर खप्पर, ज्योति पात्र, मुख्य प्रवेश द्वार पर बनाकर आश्वस्त हो जाते हैं। साथ ही इस मांगलिक प्रतीक को रास्ते चलते लोग भी देखकर जान जाते हैं कि इस घर में जंवारा का अनुष्ठान किया गया है। इस तरह लंगूर बीर मांगलिक प्रतीक के रूप में चित्रित किया जाता है।

हाथा

पौराणिक ग्रंथों में शरीर के विभिन्न अंगों की उपयोगिता प्रारब्ध, यश, कीर्ति, परोपकार, पुण्य प्राप्ति में योगदान आदि का उल्लेख है। पैरों की धन्यता तीर्थ यात्रा करने, नेत्रों की ईश्वर दर्शन करने, मुख की भगवद् भजन करने, कर्ण का ईश्वर का गुणानुवाद सुनने में है। इस तरह की पौराणिक बातें, जीवन मूल्यों का हस्तांतरण जनपदीय संस्कृतियों में हुआ है। ऐसी आस्थाएँ व विश्वास लोगों के मन में है कि वे भले ही वैदिक रीति-नीति को न जानते होंगे, पर लोकरीति को मानने का हर संभव प्रयास करते हैं। यहाँ हाथों से पुण्य कमाने, आशीर्वाद देने, शुभ कार्य करने, दान देने में भला मानते हैं। इसी को पूर्णता प्रदान करने की दृष्टि से एक लोकचलन है। वह है 'हाथा' देना। इसका सीधा सा अर्थ साथ देना या हाथ देना है। यह कई तरह से प्रतीकों के माध्यम से अभिव्यक्त होता है। जब कोई नया घर या भवन बनाता है या कोई नयी वस्तु खरीदता है, तब बहन और बुआ मिलकर पाँच, सात, नो हथेलियों को दीवार या वस्तु पर लगाते हैं। पूजा-प्रतिष्ठा होने के बाद बहनें काँसे की थाली में चावल पीसकर ऐपन तैयार करती हैं। उसमें हल्दी डालती हैं। फिर हथेलियों को डुबाकर हाथा लगाती हैं। हाथों के बीच में बंदन का टीका लगाकर शुभाशीष देती हैं। यह बहनों द्वारा भाइयों को दिया गया मंगल प्रतीक है। सदा सुख-समृद्धि की कामना करते हुए बहनें हाथा लगाती हैं। सम्पूर्ण प्रदेश में इसका प्रचलन है। लगाने के ढंग व सामग्रियों में भिन्नता हो सकती है, पर मूल भावना एक जैसी है। किसी-किसी समुदाय में घी से हाथा पारने का चलन है, जो उनकी सम्पन्नता का प्रतीक है।

इसी तरह दीपावली के दिनों में राउत स्त्रियाँ अपने मालिक के घरों में शुभ-आशीर्वाद व पहचान के रूप में 'हाथा' बनाती हैं। इसे 'राऊताइन हाथा' कहा जाता है। कई बार राऊताइन स्त्रियाँ समूह में जाकर 'हाथा' बनाती हैं। यह पूरी तरह से रेखाकृति ही होती है। पर सूक्ष्म अध्ययन से पता चला कि वह गोवर्धन पर्वत का प्रतीक है। इसे सजावटी बनाने के लिये वे टेहर्रा, नील, सेम पत्ती, पोई पत्ती, तरोई पत्ती, आलता, माहूर का भी उपयोग करती हैं। सबसे पहले मुख्य दरवाजे के पास मालिक के घर की पहचान के लिये, दूसरा गौशाला में गोधन वृद्धि की दृष्टि से और तीसरा रसोई घर या कोठी (अन्न भण्डार) में बनाती हैं। तीनों के नमूनों में थोड़ी-थोड़ी भिन्नता होती है। ज्यादा कलात्मक व सुन्दर रसोईघर वाला बनाया जाता है। सुन्दरता के आधार पर घर मालिकन राउताइनों को सेर-सीधा, रुपया देती हैं, कई घरों में उसे साड़ी भी दी जाती है। यह राउताइन महिलाओं की कलात्मकता की अभिव्यक्ति है। जब शाम या रात्रि तक राउत बाजे-गाजे के साथ के गावों को सोहई बाँधने के लिए आते हैं, तब सोहई बाँध लेने के बाद गौशाला व रसोईघर के पास वाले हाथा पर गोबर में धान लिटाकर थाप मारते हैं, मालिक की सुख-समृद्धि की कामना करते हैं। इसे 'सुखधना' कहा जाता है। यह संपूर्ण प्रदेश में बनाया जाता है। भले ही आकार व रेखाकृतियों में भिन्नता लगे। साजा गाँव की सत्तर वर्षीया राऊताइन मेहतारी बहुत ही कलात्मक

हाथा बनाती है, जो वह अपने मायके से सीखकर आयी है। इस तरह दोनों प्रकार के हाथे प्रदेश में मांगलिक प्रतीक के रूप में बनाये जाते हैं। इसे बहुत दिनों तक मिटाया नहीं जाता।

ग्वालिन दिया

संपूर्ण छत्तीसगढ़ में मिट्टी की गुड़िया बनायी जाती है। इसके सिर पर दीपक लगाये जाते हैं। साथ में उसके हाथों में भी दीपक होते हैं। इस तरह वह दीपक लिये आती प्रतीत होती है। इसे कुम्हार जाति के लोग दीपावली के पहले बनाते हैं। भट्टी में पकाकर उसे कलात्मक रूप से रंगाई करते हैं। फिर स्थानीय बाजारों व गाँवों में घूम-घूमकर बेचते हैं। इसे ग्रामीण व नगर दोनों क्षेत्रों के लोग बड़ी आस्था के साथ खरीदते व दीपावली से लेकर देवउठनी एकादशी तक उसमें बाती व तेल डालकर जलाते हैं। कतारों में जब दीपक जलते हैं, तब ऐसा प्रतीत होता है मानो कोई नवयौवना दीपों की थाल लेकर आ रही हो। चूंकि संपूर्ण प्रदेश में ग्वालिनों को घर के भीतर काम करने की अनुमति होती थी। उनके कार्यों की स्वच्छता के कारण भीतर तक काम करवाते थे। इसलिये प्राचीन समय में घरों, गढ़ों, महलों, व दरबारों में ग्वालिनों से ही दीपक जलवाये जाते थे। इसी के प्रतीक स्वरूप ये ग्वालिन दिये आज भी मांगलिकता लिये हुए हैं। रूप, रंग, बनावट दीपकों की संख्या में भिन्नता होती है। पर संपूर्ण प्रदेश में ग्वालिन दिया जलाये जाने का प्रचलन है। राजस्थान के महलों, राजघरों में रहने वाली पातुरें महलों में दीपक जलाने का काम करती थीं। ये पातुरे नवयौवना होती थी। ये रनिवास के साथ सारे महल में दीपक चिराग जलाने का कार्य करती थीं। उसी के प्रतीक के रूप में यहाँ 'ग्वालिन' दिया का उपयोग किया जाता है। कुछ वर्षों पूर्व इसका प्रचलन और भी बढ़ा है। पच्चीस से तीस वर्ष पूर्व उतना चलन नहीं था। पर इसकी महत्ता बढ़ने तथा माँग को देखते हुए कुम्हारों द्वारा आकर्षक ढंग से ग्वालिन दिया बनाये जाने से लोगों का ध्यान आकर्षित हुआ है।

हो सकता है कि ग्वालिन दिया बनाने वाले कुम्हारे राजस्थान के राजघरानों की पातुरों के बारे में ज्यादा न जानते हों, पर इतना अवश्य जानते हैं कि स्त्रियों द्वारा घरों में दीपदान करने, प्रतिदिन दीपक जलाने का कार्य शुभ माना जाता है। अब वे ग्वालिन के मौलिक स्वरूप, की जगह पर पुतली या माता लक्ष्मी की मूर्ति थाप देते हैं। उसके सिर व चारों ओर दीपक लगाते हैं। इस तरह अब दीपक माता लक्ष्मी के सिर पर रखा जान पड़ता है। सच तो यह है कि मूर्तिकला का विकास तो हुआ, पर स्वरूप व मिथक बदल गया। अधिकांश लोग ग्वालिन दिया को तुलसी चौरा में ही रखते हैं। उसी पर दीपक जलाते हैं। कई घरों में दीपावली के बाद किसी सुरक्षित स्थान पर रख देते हैं, इसे देखते ही किसी शुभ मूर्ति या मंगल का भाव मन में उपजता है। वर्तमान में ग्वालिन दिया-परम्परा मांगलिक प्रतीक होने के साथ ही प्रदेश की प्रतिनिधि लोकशिल्प कला का स्थान ले चुकी है। इसी बात को ध्यान में रखते हुए प्रदेश के कुम्हार समुदाय के कलाकारों द्वारा नये-नये ढंग से ग्वालिन दिये का निर्माण किया जा रहा है। अब ग्वालिन माता लक्ष्मी के साथ ही तोता, मैना, मयूर की मूर्तियाँ भी इसी के साथ सखियों के रूप में बनाने लगे हैं।

नांदिया बैल

पशुधन में गाय के बाद बैलों का बड़ा महत्त्व है। कृषिप्रधान राज्य होने के कारण ही आज सारा कृषिकर्म बैलों पर निर्भर है। विशेष रूप से मझोले व छोटे कृषकों को अपनी खेती बाड़ी के कार्यों के लिए बैलों पर भरोसा है। छत्तीसगढ़ में पोला त्योहार के दिन बैलों की विशेष पूजा की जाती है। इसके प्रतीक के रूप में कुम्हारों द्वारा 'नांदिया बैल' बनाया जाता है। वे इसे गाँवों में घूम कर बेचते हैं। फिर पोला त्योहार के दिन किसान इसके पैरों में सिली पहिया लगाकर चलने योग्य बनाते हैं। सुबह से तैयार करने के बाद इस दिन बनाये गये विशेष पकवान ठेठरी, घुरमी चढ़ाकर होमधूप देकर पूजा करते हैं। दोपहर बाद बच्चे इसे खिलौनों के रूप में उपयोग करते हैं। इसकी बनावट बेहद मौलिक व पारम्परिक होती है। सिंधु घाटी सभ्यता काल में खुदाई से जिस तरह के खिलौने मिले हैं, उसमें 'नंदी' या नांदिया बैल' भी ठीक इसी तरह है। बनावट में बहुत ज्यादा भिन्नता नहीं है। उस समय से आज तक कुम्हारों द्वारा इसे निरंतरता प्रदान की जा रही है।

इस तरह की निरंतरता मांगलिक प्रतीकों की एक खास विशेषता है। नहीं तो इसका चलन बंद हो जाता। बदलते परिवेश व भौतिकता के युग में यदि ऐसे मांगलिक प्रतीकों का चलन है, तो वह निश्चित रूप से शुभकारी है, सर्व मंगलकारी है।

'नांदिया बैल' के बारे में एक दंतकथा प्रचलित है कि एक बार शिव-पार्वती आकाश मार्ग से भ्रमण करने निकले और नीचे धरती पर उतरे। एक कुम्हार बैलों का निर्माण कर भट्टे के आसपास सुखाते जा रहा था। बैल बड़े मौलिक और जीवंत दिख रहे थे। कुम्हार पसीना बहाकर इस काम को कर रहा था। तब पार्वती ने कहा- 'हे देवता! इन बैलौ में प्राण क्यों नहीं डाल देते।' जीवित हो जायेंगे तो कुम्हार का घर भर जाएगा। पार्वती के कहने पर शिवजी ने एक जोड़ी बैलों में प्राण डालकर जीवंत कर दिया। पर कुम्हार के सामने एक शर्त रख दी कि दिन भर बैलों से काम लेने के बाद रात्रि में इन्हें एक कमरे में बंद रखना। ध्यान रखना यह रहस्य तुम्हारे सिवाय कोई और न जाने। कुम्हार ने हामी भर दी। शिव-पार्वती प्रसन्न मुद्रा में वहाँ से लौट गये। इधर कुम्हार भी खुश हो गया। वह दिन भर खूब काम लेता और रात्रि में एक कमरे में बंद कर देता। घर में बता दिया कि इस बारे में कोई न पूछना। कुछ दिनों बाद बेटे का विवाह कुम्हार ने किया। घर में नई बहू आयी। शुरू के कुछ महिनों तक वह इस ओर ध्यान नहीं दिया। पर वह बहुत धीरज नहीं रख पायी। ससुर के मना करने पर भी उसने एक रात्रि के मध्य में चुपके से कमरे का किवाड़ खोलकर देख लिया। तब बैल मिट्टी के थे। वह चुपचाप सो गयी। सुबह उसका ससुर बैलों को निकालने गया। वह बैल मिट्टी के ही रह गये। उसे अपनी बहू पर बहुत गुस्सा आया। पर क्या करता? मन मारकर रह गया। इस दिन पोला का त्योहार था। इसी दिन से प्रदेश में नांदिया बैल की पूजा का प्रचलन हुआ। गाँवों में आज के दिन किसान बैलों की दौड़, कबड्डी, खो-खो का खेल, फुगड़ी का खेल मैदान में करते हैं। टुए (टोटका) के रूप में ठेठरी-घुरनी पकवान भर कर पोला भी दुपट्टे में पटकते हैं। ये सारे प्रतीक पर्व नांदिया बैलों के साथ निकटता से जुड़े हैं।

इस तरह नांदिया बैल की पूजा लोकप्रचलित होने के साथ ही नागर शैली में लोग शिव की सवारी नंदी के रूप में पूजते हैं। बहुत संभव है कि वे लोकप्रचलित इस दंत कथा को न जानते हों, पर नंदी के रूप में ही पूजा करते हैं।

बस्तर अंचल में विशेष प्रकार के नांदिया बैल बनाये जाते हैं, जो पूरी तरह से मौलिक व सजावटी होते हैं। प्रत्येक गाँव के सरहद पर एक चबूतरे पर स्थापित होता है। अन्य देवी-देवताओं व देवस्थानों में इसे विशेष रूप से स्थापित किया जाता है। वहाँ के कुम्हार पोला पर्व के साथ ही सजावटी शिल्प के रूप में बारहों महीने नांदिया बैल बनाते हैं। बाजार, हाट के अलावा विशेष स्थानों, शहरों में इसे बेचने के लिये ले जाते हैं। शहरी लोग मांगलिक प्रतीक के रूप में इसे अपने घर के सामने, कमरों में, पूजास्थान के पास बड़ी श्रद्धा के साथ रखते हैं।

मोर पंख

भारत में 2000 से अधिक पक्षियों की प्रजातियाँ हैं। इसमें सर्वाधिक भव्य, मनमोहक और आकर्षक पक्षी 'मोर' है। संस्कृत में मोर को मयूर व छत्तीसगढ़ी में इसे मंजूर कहा जाता है। वर्षा के पूर्व बादलों की गर्जन रिमझिम बरखा के समय जब मोर मोरनी के समक्ष नृत्य करता है, तब उसके पंखों की सुंदरता मन को सहज ही आकर्षित कर लेती है। मोर की चाल में सुकुमारता होती है। यही कारण है कि छत्तीसगढ़ी लोकसंस्कृति में भी मोर को सम्मानजनक स्थान मिला है। लोकगीतों में इसे साक्षी, प्रेमी, संदेशवाहक, सुंदरता, ऐश्वर्य के प्रतीकों के रूप में शामिल किया गया है। मोर कला, साहित्य, धार्मिक अनुष्ठानों तथा विधि-विधानों में समाहित है। ऋग्वेद में उल्लेख है कि इन्द्र के घोड़ों के बाल मोर पंखों जैसे और पूंछ मोर के समान थी। अथर्ववेद में मोर के जोश का उल्लेख साँपों को मारने तथा उसके टुकडे करने के संदर्भ में है। ब्राह्मण ग्रंथ ऐतरेय आरण्यक और सांख्य में मोर को स्वर्ग का एक मनोहर पक्षी बताया गया है। रामायण में भी कई स्थानों पर मोर का संदर्भ आता है। रावण के विरुद्ध युद्ध में सहायता किये जाने पर इंद्रदेव ने मोर को पूंछ पर नयनाकृति भेंट स्वरूप दी थी। एक अन्य घटना में जब सीता राम

के लिये विलाप कर रही थीं, तो उन्हें देख मोरों द्वारा सीता की भावनाओं के साथ एकीकृत होकर भावातिरेक तथा दु:ख में अपना सुंदर नृत्य रोक दिये जाने का संदर्भ भी प्राप्त होता है। महाभारत में भी मृत व्यक्तियों को पक्षियों व कीड़ों विशेषकर मोरों द्वारा खाये जाने का विवरण है। महाकवि कालिदास ने कुमारसंभव में शिव तथा पार्वती के विवाहोपलक्ष्य पर मोरों द्वारा प्रस्तुत लालित्वपूर्ण, मनोहारी नृत्य का विस्तृत विवरण किया है। मेघदूत में भी कालिदास ने जीवन के आनंद के सर्वोच्च प्रतीक के रूप में मोर को दर्शाया है। 'रघुवंश महाकाव्य' में महाकवि कालिदास ने –'षड्जं वदति मयूर:' में मोर को शिक्षा तथा भारतीय संगीत की देवी सरस्वती के साथ भी निकट रूप से संबद्ध बताया है। सांगीतिक सप्तक के मूल प्रमुख स्वर षड्ज के निर्माण में मयूर को उद्धृत किया है। माता सरस्वती जिस वीणा को सदा हाथ में धारण करती है, वह 'मयूरी वीणा' कहलाती है। भारत के सांस्कृतिक इतिहास में हड़प्पा संस्कृति में एक अस्थि कलश पर चित्रण मिला है, जिसमें मोर को चित्रित किया गया है। इसमें मृत व्यक्ति की आत्मा को अर्थात् सूक्ष्म शरीर को मोर के उदर पर अनुप्रस्थ मुद्रा में अवस्थित दिखाया गया है, उस समय के समुदाय में ऐसा विश्वास था कि ये पक्षी आत्मा को दूसरे विश्व में ले जाते हैं।

प्रादेशिक मिथकथाओं में अनेक प्रसंगों पर मोर का उल्लेख मिलता है। श्रृंगाररस भरे लोकगीतों व ददरिया में 'मोर मैना-मंजूर' का संबोधन प्रेमिका द्वारा प्रेमी के लिये किया जाता है। इसी तरह जब गौरा-गौरी उत्सव के समय गोंड महिलाएँ 'सुवा' गीत गाती हैं, तब 'मैना-मंजूर' को साक्षी के रूप में मानकर अपने मन की बातों को जनसमुदाय के सामने प्रस्तुत किया जाता है। छोटे-छोटे बच्चे भी दीवारों पर, अपनी अभ्यास पुस्तिका में और घरों की दीवारों पर मिट्टी की पतली उभार रेखाकृति बनाते हैं। छत्तीसगढ़ में मोर को हर तरह से मंगल प्रतीक माना जाता है।

स्वस्तिक

स्वस्तिक को मंगल प्रतीक चिह्न के रूप में सर्वत्र बनाते हैं। प्रदेश में नये बर्तन का उपयोग आरती की थाली, दरवाजे के बीच में या पल्लों पर भी स्वस्तिक की रेखाकृति बनाते हैं। घर, दुकान, खाता-बही, मंदिरों में स्वस्तिक बनाया जाता है। तुलसी चौरा व घर के प्रवेश द्वार पर बनाया जाता है। यह कल्याण की कामना से मंगल करने की भावना से, बनाया जाता है। छत्तीसगढ़ी में स्वस्तिक को सुस्तिक चिह्न कह देते हैं। इसी को आधार मानकर चौक भी बनाते हैं। इसे स्वस्तिक चौक कहा जाता है। इसका विस्तार जितनी बड़ी जगह है, उतना बड़ा किया जाता है। यह चारों दिशाओं की ओर से शुभ संदेश, कल्याणकारी कार्य होने का प्रतीक है। चारों दिशाओं में इसके अनन्त विस्तार होने की संभावना रहती है। ग्रामीण क्षेत्रों, दीवारों, किवाड़ों, कमरों, पूजा के लिये रखी गयी मूर्तियों, मंदिरों के शिखरों पर 'स्वस्तिक' जरूर बना होता है। ग्रामीण क्षेत्रों के लोग भी शुभ कामनाओं की दृष्टि से स्वस्तिक बड़ी पवित्र भावना से बनाते हैं। नये सामान, बर्तन या धातु के वस्तुओं पर घी, चंदन, वंदन, गुलाल या चावल, आटे के घोल से स्वस्तिक चिह्न बनाते हैं। लोकपरम्परा में ऐसे शुभ प्रतीकों का सहज रूप में शामिल होना इसकी मंगलकारिता, लोककल्याण की जनभावना को व्यक्त करता है। यही कारण है कि परम्परा में कई पीढ़ियों से इस शुभ चिह्न प्रतीक का सर्वत्र उपयोग किया जाता है। हर प्रकार की मंगलकारी सामग्रियों में स्वस्तिक का शुभ प्रतीक बना होता है।

प्रदेश के शिल्पकार बढ़ई, सुनार, मकान बनाने वाले मिस्त्री, राउताइन भी स्वस्तिक के प्रतीक को मंगल कामना से अपने शिल्पों में उपयोग करते हैं, जो इस बात को स्पष्ट करता है कि स्वस्तिक सर्वत्र मंगल कामनाओं का प्रतीक है।

सावनाती

संपूर्ण छत्तीसगढ़ में सावन मास के प्रथम दिन घी, हरे गोबर का उपयोग कर 'सावनाती' बनायी जाती है। इसे महिलायें घर के प्रवेश के दोनों ओर से लेकर घर के चारों ओर दोहरी रेखाएँ खींच कर बनाती हैं। गोबर से रेखा खींचते समय पाँचों अँगुलियों का उपयोग किया जाता है। चूँकि सावन में घटाटोप वर्षा होने लगती है। तब पेड़-पौधों सहित आसपास के घास-

फूस, वातावरण में रोगाणु फैला चुके होते हैं। इसके प्रकोप से मानव व पशु धन दोनों को खतरा बना रहता है। छत्तीसगढ़ में आज भी ग्रामीण क्षेत्रों में बड़ी संख्या में पशुपालन किया जाता है। अत: इनकी सुरक्षा की दृष्टि से गोबर की रेखाएँ खींचकर व बंदर, मनुष्य, शेर, पुतले का रेखाचित्र बनाकर एक तरह का टोटका पूर्ण करते हैं। इसके पीछे मान्यता यह है कि जब कोई रोगाणु या बाहरी तत्त्व घर में प्रवेश करता है, तब यही पुतले उनसे संवाद करते हैं। उन्हें बाहर खदेड़ देते हैं, उन्हें भीतर प्रवेश नहीं करने देते। यह लोकमांगल्य व लोकास्था का प्रतीक है। रेखाकृति बेहद मौलिक होती है। पाषाणकाल के गुफाचित्रों की भाँति आज भी उसी मूल स्वरूप में रेखांकन करना अपनी मौलिकता को प्रकट करता हैं। आर्यों ने जिन भावों व अर्थों में स्वस्तिक को लिया होगा और अपने विभिन्न संस्कारों में शामिल किया होगा, उसके अनुरूप लोकजीवन में स्वस्तिक जैसे विशिष्ट सांस्कृतिक प्रतीक का शामिल होना अपने आप में अनोखा है। यही कारण है कि इसे प्रादेशिक संस्कारों में भी यथास्थान शामिल किया गया है। बुजुर्ग बताते हैं कि प्रारम्भ में इस चिह्न की बनावट केवल धन के चिह्नों की तरह थी। पर आगे चलकर और विस्तार किया गया। इसी विस्तार के साथ इस प्रतीक के संदर्भों व सांस्कृतिक मूल्यों पर काफी व्यापकता के रूप में देखा जा रहा है। प्रदेश में स्वस्तिक को सार्वदेशिकता के साथ स्वीकार किया जा रहा है।

जैत खम्भ

छत्तीसगढ़ में सतनामी समुदाय के लोग काफी संख्या में निवास करते हैं। प्राय: कुछ क्षेत्रों को छोड़कर सभी गाँवों में कहीं अधिक तो कहीं कम सतनामी समुदाय के लोगों का निवास है। ये संत बाबा घासीदास द्वारा स्थापित सतनामी पंथ को मानते हैं। यही कारण है कि ये लोग अपने को सतनामी कहते हैं। सदा सत्य व सादगीपूर्ण जीवन बिताना इनका मूल उद्देश्य है। इस बात का प्रतीक वे अपने निवास ग्राम में 'जैत खम्भ', 'जैत खाम' या 'जय स्तम्भ' के रूप में लगाते हैं। यह पहले केवल औरा-धौरा नामक पेड़ की सूखी लकड़ी से बनाया जाता था। पर अब सीमेंट, पत्थर तथा अन्य लकड़ी से बना लिया जाता है। यह सत्य, सादगी के साथ ही साथ मंगल का भी प्रतीक है। इसे देखते ही मन में सहज रूप से शुभ, कल्याण व मंगल का भाव जाग उठता है। गुरु घासीदास बाबा की जन्मतिथि अट्ठारह दिसम्बर के अवसर पर जयन्ती का समारोह प्राय: सभी ग्रामों में मनाया जाता है। उस अवसर पर जैत खम्भ के सामने मंगल आरती की जाती है। खम्भे पर सफेद रंग का कपड़ा चढ़ाया जाता है। इसे पालो चढ़ाना कहा जाता है। ऊपर सफेद रंग का ध्वज, झण्डा भी लगाया जाता है। सदा सत्य का प्रतीक यह जैत खम्भ लोगों को सादगीपूर्ण व सत्य-निष्ठा के साथ जीवन जीने की प्रेरणा देता है। इसकी बनावट खम्भे जैसी ही होती है। चौकोर या गोल चबूतरे पर खम्भा सीधा लगाया जाता है। सबसे ऊपर पीतल या किसी धातु का बर्तन व छाजा लगाते हैं। कहीं-कहीं पर ढोठरा स्तम्भ भी एक साथ लगाया जाता है। यह न सिर्फ सतनामी, अपितु सभी जाति-धर्म के लोगों को सत्य का संदेश देता है। सभी में समरसता का भाव भरता है। यही कारण है कि इसे मांगलिक प्रतीक के रूप में शामिल किया गया है। यह सदैव मंगल का प्रतीक माना गया है। सतनामी समुदाय का अधिकांश क्रियाकलाप यहीं पर सम्पन्न होता है।

मउर

वैवाहिक संस्कार में बहुत से नेंग व मांगलिक प्रतीकों का उपयोग किया जाता है। बहुत-सी सामग्रियों को मंगल कामना की दृष्टि से नेंगों में शामिल किया जाता है। इन्हीं में वर-वधू को विवाह के अंतिम नेंग, बारात जाते समय 'मउर' की पूजा कर मुकुट के रूप में वर के सिर पर बाँधा जाता है। यह मंगल व विनय का प्रतीक माना जाता है। वधू भी मंडप में फेरे के पूर्व मउर पहन लेती है। विवाह संस्कार में मउर बड़े महत्त्व की सामग्री है। छत्तीसगढ़ में पहले मउर बनाने का कार्य पटेल (मरार) समुदाय के लोग करते थे, पर अब तो बाजार में बना-बनाया सहज में ही मिल जाता है। इसे छिन्द की सूखी पत्तियों, रंगीन व चमकीले कागज से बनाया जाता है। आजकल सीधा पगड़ी पहनकर बाजू वाला छोटा मउर बाँध लेते हैं, पर गाँवों में आज भी पारम्परिक मउर का ही प्रचलन है। इसे पवित्र व मंगल का प्रतीक माना जाता है। विवाह सम्पन्न होने के बाद भी इसे एक माह तक घर में रखा जाता है। आषाढ़ मास लगने के बाद ही तालाब या नदी में इसे श्रद्धा के साथ विसर्जित किया जाता है। विवाह मंडप में वर-वधू की शोभा मउर से बढ़ती है। यही कारण है कि इसे मांगलिक प्रतीक माना जाता है। चूँकि विवाह के समय वर व वधू को

राजा-रानी के रूप में माना जाता है। ऐसे में उनके सिर पर आकर्षक मुकुट होना सर्वथा उचित है। कीमती मउर को लोग वैवाहिक स्मृति के रूप में संभाल कर रख भी लेते हैं।

चंदन-चोवा

मस्तक पर तिलक व चंदन लगाना प्रदेश का मांगलिक प्रतीक है। यहाँ के विभिन्न जाति समुदाय में पृथक्-पृथक् सामग्रियों जैसे चंदन लकड़ी, गंगा की मिट्टी से बना चंदन, गुलाल का तिलक लगाकर मन में शुद्धता व शांति का भाव लाया जाता है। यह सर्वथा मांगलिक प्रतीक की श्रेणी में आता है। जब चंदन का लेप मस्तक पर लगता है, तब वह ऐसा लगता है, मानो देखने वालों को भी कल्याण प्रदान करेगा। इसी कारण विद्वान इसे मंगल टीका भी कहते हैं। सूक्ष्म दृष्टिपात करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि चंदन-चोवा लगाने के बाद मनुष्य सदा मंगलकारी कार्यों में संलग्न रहता है। इस तरह इसका नित्य उपयोग करना ही मंगल भावनाओं को सर्वत्र विकसित करना है। छत्तीसगढ़ में विभिन्न जाति समुदाय के लोग चंदन-चोवा लगाने को अलग-अलग नाम देते हैं। इसका स्वरूप भी अलग-अलग होता है।

आठे कन्हैया

प्रदेश के मांगलिक प्रतीकों में भित्तिचित्रों की लम्बी श्रृंखला है। ऐसे चित्रों को आनुष्ठानिक चित्रों के क्रम में रखा जा सकता है, जो कि मांगलिक होने के साथ ही पौराणिक कथाप्रसंगों को अभिव्यक्त करते हैं। यहाँ भादों मास में कृष्ण जन्माष्टमी के समय 'आठे कन्हैया' नाम से चित्र बनाते हैं। ये चित्र एकदम मौलिक होने के साथ ही कलात्मकता से भरपूर होते हैं। द्वापर युग की घटना में जब राक्षस राजवंश ने अपने ही भांजों को मारने का काम प्रारम्भ किया, तब उसने अपनी मृत्यु के भय से बहन देवकी को कारावास में डाल दिया था। एक-एक कर उसकी सात संतानों को मौत के घाट उतार दिया था। तब देवकी इन संतानों की याद में एक-एक पुतले का चित्रांकन कारावास की दीवारों पर करती गई। इसी घटनाक्रम को याद करके प्रदेश में कृष्ण जन्माष्टमी के दिन 'आठे कन्हैया' के नाम से चित्रांकन किया जाता है। जन्माष्टमी की संध्या के समय कुँवारी कन्याएँ, माता या बहन रसोईघर या किसी कमरे की दीवार पर प्राकृतिक रंग तोरई, सेम, पोई भाजी की पत्तियाँ, आलता, माहूर, स्याही, टेहर्रा, सूवा पाँखी रंग का उपयोग कर आठ पुतलों का चित्र लोकशैली में बनाती हैं। रात्रि तक इस चित्र को बना लेते हैं। इस दिन लोग उपवास रखते हैं। इस चित्र के सामने कृष्ण का फोटो रखकर पूजा-अनुष्ठान पूर्ण करते हैं, तभी फलाहार ग्रहण करते हैं। इस तरह यह प्रदेश का आनुष्ठानिक चित्र होने के साथ ही मांगलिकता का प्रतीक है। दैनिक जीवन की व्यस्तता के बाद भी इस लोकचित्र शैली का जीवन्त रहना इसके मांगलिक होने को स्पष्ट करता है।

लोगों की कामना हमेशा मंगलमय जीवन की होती है। लोकसंस्कृति में प्रचलित मांगलिक प्रतीकों का लोगों ने हर स्थिति में उपयोग किया है। इसकी परम्परा को भावी पीढ़ी को सौंपने का कार्य प्रभावी ढंग से हो रहा है। इसे प्रयास करके बढ़ाना समय की मांग है। जन-जन में ऐसे प्रतीकों के प्रति आस्था तो बनी हुई है, इसे व्यापक रूप प्रदान करने की भी जरूरत है।

भोजपुरी के मांगलिक प्रतीक

डॉ. रामनारायण सिंह 'मधुर'

पश्चिमी बिहार एवं उत्तरप्रदेश के कुछ पूर्वी जिलों को मिलाकर भोजपुरी क्षेत्र बनता है। इन जिलों में अधिकांश रूप से भोजपुरी बोली जाती है। इस क्षेत्र में प्रचलित रीति-रिवाज, उत्सव, परम्पराएँ करीब-करीब एक सी हैं। यहाँ प्रचलित मांगलिक अवसरों के प्रतीकों का संक्षेप में उल्लेख किया जा रहा है।

शादी-ब्याह, व्रत-कथा तथा शुभ अवसर पर चौक पूरा जाता है। आँगन को गाय के गोबर से लीपकर सूखा आटा लेकर चौकोर चित्र बनाया जाता है। स्वस्तिक निशान वाले कलश को जल से भरकर, उसे अन्न से भरी परई (ढक्कन), जिसके चारों तरफ आम के पत्ते लगे रहते हैं, चौक के सामने रख दिया जाता है और ढक्कन के ऊपर मिट्‌टी का दीपक जलाया जाता है। कलश के सामने चौक पर दूल्हा-दुल्हन या व्रती कथा सुनने वाले को लकड़ी के पीठे या कम्बलकालीन पर बिठाया जाता है।

आम्र पल्लवों के बंदनवार से वलयित, बाँस और रंग-बिरंगे सरपत के मण्डप की छाया में, अबीर-कुंकुम और अक्षत की वेदी पर मंगलकलश की प्रतिष्ठा की जाती है, फिर गंगा-यमुना तथा अन्य तीर्थों का आवाहन कर सागर को न्यौता कर, जल के राजा वरुण को पधराया जाता है।

यहाँ के जनजीवन में मंगलकलश का बहुत महत्त्व है। यह जीवन की पूर्णता, उल्लास एवं सौन्दर्य का प्रतीक है। द्वारचार पर औरतें मंगल कलश से बारातियों का स्वागत करती हैं। यहाँ तक कि जब कोई यात्रा या शुभ कार्य हेतु घर के बाहर जाने लगता है, तो उसके सामने जल से भरा घड़ा रखा जाता है।

अक्षत - अक्षत अर्थात जो क्षत न हो, साबुत चावल टूटा हुआ नहीं। पूजन में अक्षत का उपयोग अनिवार्य है। किसी भी पूजन

के समय गुलाल, हल्दी, अबीर और कुंकुम अर्पित करने के बाद अक्षत चढ़ाये जाते हैं।

शास्त्रों में चावल का अधिक महत्त्व बताया गया है। देवी-देवता को इसे समर्पित किया ही जाता है। किसी व्यक्ति को जब तिलक लगाया है, तब भी अक्षत का उपयोग किया जाता है। अक्षत पूर्णता का प्रतीक है। पूजा में अक्षत चढ़ाने का तात्पर्य है कि हमारी पूजा अक्षत की तरह पूर्ण हो। शुभ परिणय के अवसर पर दूल्हे को अक्षत का तिलक लगाकर उसके भावी जीवन में शांति और पूर्णता की कामना की जाती है। दूल्हे के परिवार की औरतें चावल और दूब से दूल्हे को सिर से पैर तक चूमती (स्पर्श) हैं और गाती हैं -

साठी का चौरा हालरी दूब री
चूमहीं चलैलीं दूलहा की माय री।

साठी (जल्दी उत्पन्न होने वाला) का चावल हालरी (हरी) दूब की तरह हरा-भरा आनन्दमय जीवन हो दूल्हे का। और फिर आगे गाती हैं-

मथवा जे चूमि-चूमि दिहलीं असीस रे
जीयसु दूलहा लाख बरीस हो।
अस रे जीयस जस धरती धान रे
अस रे जीयस जस रहनीक चानरे।

माँ या चाची या भाभी या अन्य औरतें दूल्हे के सिर को चूम कर आशीर्वाद देती हैं- तुम लाख वर्ष (लम्बी आयु) की आयु प्राप्त करो और तुम्हारा जीवन रात के चाँद की तरह शांतिमय और शीतल (आनन्दमय) हो।

महावर - श्रृंगार प्रसाधनों एवं सौभाग्य चिह्नों में पाँवों का श्रृंगार विशिष्ट स्थान रखता है। महावर को आलता कहा जाता है। यह लाख का रस है, अत: लाक्षारस भी कहा जाता है। मांगलिक अवसरों पर पति-पत्नी की ऐड़ियों को आलता से रंगने की प्रथा है। शादी-ब्याह में दूल्हे एवं दुल्हन की ऐड़ियों को रंगा जाता है। महावर की रचना में शरीर शोभा के साथ सौभाग्य कामना का भाव पूर्णरूपेण विद्यमान रहता है। सौभाग्यवती स्त्रियाँ स्वयं या नाइन से महावर रचवाने का कार्य कराती हैं। बिहारी का एक दोहा है-

पाँव महावर दैन को नाइन बैठी आय,
फिर-फिर जान महावरी ऐड़ी मींजति जाय।

नाइन नायिका के पाँवों में महावर लगाने के लिये उसकी ऐड़ियों को साफ करती है, पर भ्रम में पड़ जाती है, कहीं उसने महावर लगा तो नहीं रखा है। वस्तुत: उसकी ऐड़ियाँ इतनी लाल हैं कि नाइन को उन्हें बार-बार रगड़ने पर भी महावर लगे होने का भ्रम हो जाता है।

कोहबर, बिंदिया, चित्रकारी - कोहबर दो शब्दों कोह+बर से बना है। कोह अर्थात् क्रोध या रूठना, बर अर्थात् दूल्हा। कोहबर का यहाँ शाब्दिक अर्थ में प्रयोग नहीं होता। अब तो कोहबर में दूल्हा-दुल्हन का एक साथ मिलन होता है। शादी के बाद लड़की वाले घर में विदाई के बाद (लड़के वाले घर में) बने कोहबर में परिणीत जोड़े बिठाये जाते हैं। कोहबर वाला घर और उनकी दीवारें गेरू से बनाये गये चित्रों से सुसज्जित रहती हैं। वस्तुत: कोहबर शुभ एवं शुचिता का कक्ष माना जाता है। पहली बार पति के घर आने पर वर-वधू का गठजोड़ कर यहाँ बिठाया जाता है।

दीवारों पर बेल-बूटे, तरु -लता, फूल -पत्ते, चन्द्र-सूर्य एवं विविध देवी-देवताओं के चित्र उकेरे जाते हैं। यह कार्य विशेष कर सौभाग्यवती स्त्रियाँ करती हैं। दरवाजे के दोनों तरफ भी चित्र बनाये जाते हैं।

ललाट पर बिंदी या बिंदिया (टिकुली) लगाना सुहाग-सौख्य का परिचायक माना जाता है। बिंदिया भी विविध आकार-प्रकार की होती हैं और देखने में सुंदर लगती हैं। इस संदर्भ में एक गीत भी है-

तोहरे मथवा का टिकुलिया चमकदार बाय
मारत जिया हमार बाय

बिहारी का एक प्रसिद्ध दोहा है-

कहत सबै बेंदी दिये आंक दस गुनो होत।
तिय लिलार बेंदी दिये अगणित बढ़त उदोत।

एक बिंदी मात्र लगाने से अंक की कीमत दस गुना बढ़ जाती पर वही बिंदी जब सौभाग्यवती स्त्री के ललाट पर लगती है तो उसकी श्रीशोभा कई गुना बढ़ जाती है।

बुन्देली के मांगलिक प्रतीक

डॉ. दुर्गेश दीक्षित

बुन्देलखण्ड की सांस्कृतिक परम्परा अत्यधिक सम्पन्न और लोकमंगलकारिणी है। यहाँ के संस्कार, व्रत, उपवास और देवपूजन–विधियाँ लोकमंगल की भावना से आपूरित हैं। यहाँ के व्रत और उपवासों में परोपकार और जनकल्याण की भावना निहित है। ऐसा लगता है कि यहाँ की संस्कृति में गीतकार की मूल भावना का समावेश स्वत: ही हो गया है–

सर्वे भवन्तु सुखिन:, सर्वे सन्तु निरामया:।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दु:खभाग्भवेत्।।

यहाँ तक कि देव मंदिरों में दर्शन करते समय बुन्देल बालाएँ कहा करती हैं–'हे भगवान्! सबखौं खुशी राखियौ फिर पछांई कैं हमाये लरकन बिटियंन पै पंजा राखैं रइयौ।' बुन्देलखण्ड के हर व्रत और उपवास के महत्त्व का प्रतिपादन करने के लिये किसी न किसी लोककथा के कहने का प्रचलन है। लोककथा के अंत में प्राय: कहा जाता है कि 'जैसे उन दुखियंन के दिन फिरे, उसई हे लच्छमी मइया, सबके दिन फेरियौ।'

बुन्देलखण्ड के हर मांगलिक कार्य का कोई न कोई विशिष्ट मांगलिक प्रतीक निर्धारित होता है। हर मंगल कामना के पूर्व स्वस्तिक (सांतिया) और ओम् चित्रांकन की परम्परा है। किसी नवीन वस्तु या मशीनरी का पूजन करते समय उसके अग्रभाग पर स्वस्तिक का चित्र उकेर कर मंगलकामना की जाती है।

चौक – हर मंगल कार्य के शुभारंभ के पूर्व चौक पूरकर मंगल–कलश स्थापना की परम्परा है। ये किसी भी मांगलिक तथा शुभ अवसरों पर बनाये जाते हैं। जन्म, विवाह, त्योहार या किसी भी शुभ कार्य में चौक पूरने की प्रथा है। जिस जगह चौक पूरा जाता है, उस स्थल को पहले गाय के गोबर से लीपा जाता है और फिर गेहूँ के आटे से लाइनें, बिन्दु बनाकर चौक तैयार किया जाता है। हर मांगलिक कार्य में चौक का विशेष महत्त्व है। विवाह चौक, गणेश चौक, नौरता के चौक में थोड़ा बहुत अंतर होता है किन्तु उसकी संरचना में गेहूँ के आटे का ही उपयोग किया जाता है। सोहर और विवाह के गीतों में चौक का वर्णन किया जाता है। जरा उस सोहर गीत की पंक्तियों को सुनिये–

आज दिन सोनें कौ महाराज।
गौआ कौ गोबर मंगाव मोरी सजनी।।
ढिक धर आँगन लिपाव महाराज।
ढिक धर आँगन लिपाव मोरी सजनी।।
मुतियन चौक पुराव महाराज।
मुतियन चौक पुराव मोरी सजनी।
कंचन कलस धराव महाराज।।

सतिया – बुन्देलखण्ड के मांगलिक प्रतीकों में सतिया का विशेष महत्त्व है। यह मांगलिक आकृति पुत्रोत्पत्ति के अवसर पर आँगन की दीवाल पर गोबर से गोलाकार तैयार की जाती है। इसमें सात चक्र होते हैं। इसी कारण से इसका नाम सतिया रखा गया है। यह हिन्दी के स्वस्तिक शब्द का विकृत रूप है। प्राय: इसकी संरचना प्रसूता की ननद किया करती है। सोहरे गीतों में इसका संकेत किया जाता है –

ननदी जो आबैं सतिया धराबैं,
सतिया धराई नेंग मांगे, बहानौ पिया तुम कर लइयौ,
दादा गये परदेसैं, तिजोरी कौ तारौ लगो है

सुराँती – इस मांगलिक प्रतीक का अंकन दीपावली के अवसर पर पूजाघर की दीवाल पर किया जाता है। यह लक्ष्मी माता की पूजा का प्रतीक है। सुराँती की साज–सज्जा सोलह दीपों से की जाती है। इसी कारण से इस आकृति में सोलह खाने होते हैं। ऊपर की ओर लक्ष्मी जी की आकृति उकेरी जाती है। पूजा के अवसर पर हल्दी, चावल, चंदन और नैवेद्य से पूजन किया जाता है और उनसे सुख–समृद्धि का वरदान मांगा जाता है। बुन्देली वधूटियाँ मनोयोग से 'सुराँती' का अंकन किया करती हैं।

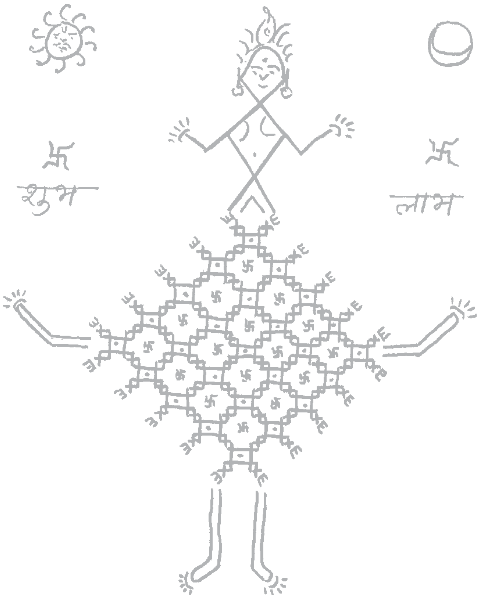

करवाचौथ माता–यह व्रत बुन्देलखण्ड में कार्तिक कृष्ण पक्ष चतुर्थी को रखा जाता है। यह सौभाग्यवती महिलाओं का एक महत्त्वपूर्ण व्रत है। यह व्रत सौभाग्य समृद्धि, संतति और यश की प्राप्ति के लिए कष्टसाध्य व्रत है। अन्न की तो बात ही अलग है, पूरे दिन जल तक ग्रहण नहीं किया जाता है। इस व्रत की सीमा सूर्योदय से चंद्रोदय तक है। चतुर्थी के चंद्रोदय के पश्चात् भित्ति पर चौथ मइया की आकृति का पूजन–अर्चन किया जाता है। मैदा के श्वेत पकवानों से पूजन–अर्चन करने के पश्चात् चंद्रमा को अर्घ्य देकर, महिलाएँ कथा सुनाकर अपने–अपने अविचल सुहाग का वरदान मांगती है,। महिलाएँ नवीन वस्त्राभूषण धारण करके सुसज्जित होकर अखण्ड सौभाग्य को प्राप्त करती हैं। इस व्रत की लोककथा में व्रत के खण्डित होने पर महिला को विधवा और व्रत के पूर्ण होने पर पुन: पति के जीवित होने का वर्णन किया गया है और कथा के अंत में कल्याण कामना करते हुए कहा जाता है–'जैसे चौथ मइया की कृपा सैं ऊं दुखयारी कौ पति जीवित हो गऔ, ऊसई सबई के पतियंन की आवरदा बढ़ा दिइयौ।' नारी के लिए सुहाग से बढ़कर और कौन सा मांगलिक कार्य हो सकता है? इस व्रत के मांगलिक प्रतीक चौथ माता का चित्रांकन और चन्द्रमा को भित्ति पर चित्रित किया जाता है।

पकोरयाऊ पूनें – इस पर्व को गुरुपूर्णिमा कहा जाता है। यह आस्था और श्रद्धा का पर्व है। शिष्यगण गुरुजनों का चरण वंदन करके, दक्षिणा अर्पित करके आशीर्वाद प्राप्त करते हैं। यह

समृद्धि सम्पन्नता और श्रीवृद्धि का पर्व है। इस अवसर पर हर परिवार में पुत्रवधुओं के आगमन की मंगलकामना की जाती है और मुख्य द्वार के दोनों ओर नववधुओं की आकृति अंकित करके हल्दी, चावल से पूजन करके घी और गुड़ से उनका मुँह मीठा किया जाता है। यह पर्व संतति सुसम्पन्नता का प्रतीक है। आषाढ़ की पूर्णिमा को यह पुनीत पर्व मनाया जाता है।

हरयारी अमावस्या – बुन्देलखण्ड में यह पर्व सावन की अमावस्या को मनाया जाता है। श्रावणमास सुख, समृद्धि और आनंदमयी हरीतिमा का प्रतीक है। अपने खेतों की हरी फसल को देखकर कृषक समुदाय फूला नहीं समाता है। किसी कवि की ये काव्य-पंक्ति कितनी सटीक है–

हरी फसल की चूनर ओढ़े धरती बनीं दुलइया।
सावन दूला और बराती सब हरवारे भइया।।

बहिनों को अपने अपने मायकों का और अपने भाइयों का स्मरण हो आता है। वे अपने भाइयों से मिलने के लिए लालायित होने लगती हैं। भाई भी अपनी बहिनों से मिलने को आतुर हो जाते हैं।

सावन के आगे माह, वीरन मोय लुआबे अइयौ।
मन में भरो उछाह, वीरन मोय लुआबे अइयौ।

इस अवसर पर मुख्य द्वार के दोनों ओर भित्ति पर बेटियों की आकृति उकेरी जाती है और वधुएँ हल्दी, चावल, पुष्प और प्रसाद अर्पित करके उनका पूजन-अर्चन करती हैं।

वैमाता – वैमाता का शुद्ध रूप 'वयमाता' है, ये आयु संवर्धिनी माता हैं। ऐसी मान्यता है कि इनकी कृपा से नवजात शिशु की आयुवृद्धि होती है। इस मान्यता की परिपुष्टि के लिए प्रसूता के शयनकक्ष की भित्ति पर वैमाता की आकृति का काल्पनिक अंकन किया जाता है। विधिवत् पूजन-अर्चन करने के पश्चात् नवजात शिशु की आयुवृद्धि की कामना की जाती है। पं. गुणसागर सत्यार्थी लिखते हैं– वैमाता की पुतरिया बनाते समय पहले गुणा का चिह्न बनाते हैं। इसके ऊपर और नीचे की रेखाओं के दोनों सिरों को आड़ी रेखा खींचकर जोड़ते हैं। नीचे दो रेखाएँ खींचकर पैरों का आकार देते हैं। ऊपरी रेखा के बीचों बीच तास के पत्ते पर बनी ईंट का आकार खड़ा करते हैं, जिसके अंदर आँखें, नाक, मुख, बिन्दी सजाते हैं। यह अंकन प्रसूति के छठवे दिन घर की वयोवृद्ध महिला करती है। यह प्रथा बुन्देलखण्ड में अनेक वर्षों से प्रचलित है।

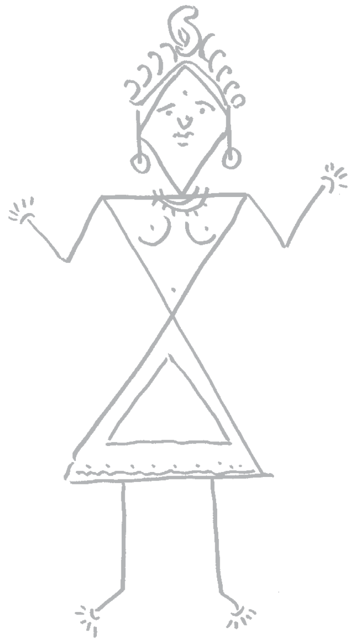

नौरता – इसके नामकरण से ही स्पष्ट है कि यह नवरात्रि का पुनीत पर्व है। क्वांर मास की नवरात्रि में इसका आयोजन किया जाता है। यह कन्याओं के भावी जीवन का प्रशिक्षण है। इस अवसर पर वे नौ दिन तक गौरा-पार्वती की अर्चना करके अपने भावी अचल सुहाग का वरदान माँगती हैं। एक चबूतरे को छाब-लीप-पोतकर, रंग-बिरंगे चौक पूरकर, एक सीढ़ीनुमा सिंहासन बनाकर गौरा-पार्वती की पुतरिया स्थापित करके समवेत स्वर में गीता गा-गाकर मंगलकामना किया करती हैं। दीवाल पर एक मिट्टी की भूत की पुतरिया और दोनों ओर सूर्य, चंद्रमा बनाये जाते हैं। उनके गीतों में परिवार और भाइयों को सद्कार्य करने की प्रेरणा दी जाती है। चंदा, सूरज, गौरा जनकल्याण की भावना के प्रतीक हैं। उनके एक गीत की कुछ पंक्तियाँ देखिये, जिनमें जनकल्याण की भावना दिखायी दे रही हैं –

को जू आं भइया।
चंदा जू आं भइया, सूरज जू आं भइया।।
जे मोरे भइया लुआवन जैहैं, चलावन जैहैं।
क्वारी कन्या ब्याहत जैहैं, ब्याही सी कन्या चलावत जैहैं।
फूटे से ताला बंधावत जैहैं, अंधे कुआ उगरावत जैहैं।।
नंगी डुकरियां पहरावत जैहैं।
वन की चिरइयां चुनावत जैहैं।
लीले से घोड़ा कुदावत जैहैं।

यह मंगल कामना का पुनीत पर्व है।

हरछट – यह त्योहार भाद्रपद कृष्णपक्ष षष्ठी को मनाया जाता है। यह भगवान् श्रीकृष्ण के ज्येष्ठ भ्राता बलराम जी का जन्मदिवस है, इस कारण से इस पर्व का नाम 'हलषष्ठी' है। नारदपुराण में इसे ललिताव्रत कहा गया है और अग्निपुराण में इस व्रत को 'अक्षय षष्ठी' की संज्ञा दी गयी है। बुन्देलखण्ड में हरछट देवी की पूजा महुआ और अचार से की जाती है। इस दिन महिलाएँ हल का जोता हुआ अन्न और गाय का दूध ग्रहण नहीं करतीं। लोककथा में गाय, भैंस का दूध मिलाकर बेचने वाली ग्वालिन के शिशु की हल के फाल से मृत्यु हो गयी थी, किन्तु सत्यता प्रकट करने पर हरछट मइया की कृपा से ग्वालिन का पुत्र जीवित हो गया था। पूजा के अवसर पर छेबले के पत्ते, जरिया के काँटे और काँस के पौधों का गुच्छा बनाकर प्रस्तुत किया जाता है। महिलाएँ समाई के चावलों का उपयोग करती हैं। इस अवसर पर महिलाएँ घर की दीवाल पर मटकी सिर पर रखे हुए ग्वालिन का चित्रांकन करती हैं। यह पर्व सुख, संतति और समृद्धि प्रदायक है। महिलाओं के मन में इस व्रत के प्रति अटूट आस्था और विश्वास है।

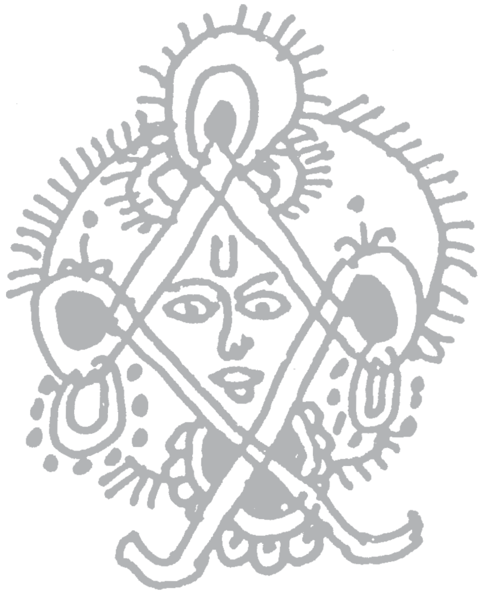

वट पूजा – इस व्रत का दूसरा नाम वट सावित्री है। यह पर्व ज्येष्ठ कृष्णपक्ष की अमावस्या को मनाया जाता है। यह सौभाग्यवती महिलाओं का पुनीत पर्व है। महिलाएँ अपने सुहाग की रक्षा के लिए वटवृक्ष की पूजा करती हैं। इसी कारण से इसके साथ सती सावित्री का नाम जोड़ा गया है। बुन्देली में वट को बरा कहा जाता है और उससे वर का साथ प्राप्त करने का वरदान मांगा जाता है। ऐसी मान्यता है कि वट वृक्ष में शंकर-पार्वती का निवास है। इसी कारण से बुन्देली बालाएँ वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर, माँग भरकर, माँहुर-मेहंदी लगाकर वट की पूजा करते हुए शंकर-पार्वती से अचल सुहाग का वरदान माँगती हैं। ग्रामों में तो वटवृक्षों के समीप जाकर विधिवत् पूजन अर्चन करती हैं। जिन स्थानों पर वटवृक्ष नहीं होता है वहाँ की महिलाएँ घर की भित्तियों पर वटवृक्षों का अंकन करके पूजा करती हैं।

बुन्देलखण्ड में इस प्रकार के अनेक मांगलिक पर्व-त्योहार और व्रत हैं, जिनकी विभिन्न प्रतीकों के माध्यम से पूजा-अर्चना की जाती है। बुन्देलखण्ड के कुछ प्रमुख मांगलिक प्रतीकों के उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं, जो बुन्देली की सांस्कृतिक परम्परा का आदर्श प्रस्तुत करते हैं।

मांगलिक प्रतीक - बीजासेन

पं. गुणसागर सत्यार्थी

बुन्देली लोकजीवन में ही नहीं बुन्देलखण्ड और राजस्थान के बीच बसे मालवा में भी लोकमंगल की प्रतीक 'बीजासेन' माता प्रमुख और अनिवार्य रूप से न जाने कब से पूजी जा रही हैं। पत्रिका 'कल्याण' (जनवरी 1987) में श्रीमती सुमित्रा देवी व्यास का आलेख - 'मालवा के दशपुर की लोकमाताएँ' शीर्षक से प्रकाशित हुआ था। इस आलेख में उन्होंने मालवा की पाँच प्रमुख लोकदेवियों का उल्लेख किया है। पाँचवीड़ु लोकदेवी के रूप में लोकमाता बीजासेनी देवी का नामोल्लेख मात्र है। शेष चार देवियों का जिस प्रकार परिचयात्मक विवरण उन्होंने दिया, वैसा विवरण वे पाँचवीं लोकमाता बीजासेनी देवी का नहीं दे सकी हैं। कल्याण के उसी अंक में स्व. मुरलीमनोहरसिंह खंगार का आलेख है, जिसका शीर्षक है- 'बुन्देलखण्ड में खंगार राजाओं द्वारा शक्ति उपासना का प्रसार'। इस लेख में उन्होंने लोकमाता बीजासेन के बारे में दो बातें कहीं हैं- बीजासेन को खंगार राजाओं के (1193 से 1347 ई.तक का शासन काल) राज्य में राजदेवी के रूप में पूजा जाता था, तथा यह कि इस देवी को प्रतिष्ठापित करने का श्रेय खंगार वंश को है।' पहली वाली बात के पर्याप्त प्रमाण हैं, परन्तु दूसरी वाली बात में उनका अपनी जाति के प्रति पूर्वाग्रह ही दिखायी देता है। यह बात विवेक बुद्धि एवं तर्क मानने को तैयार नहीं कि 1193 ई. पूर्व बीजासेन माता की पूजा नहीं होती थी। बीजासेन राजमाता नहीं, लोकमाता हैं। राजाओं के राज बनते-बिगड़ते और टूटते रहे हैं, जबकि लोक स्वयं में शाश्वत है। वह जब अनादिकाल से जीवन्त है, तब बीजासेन जैसी लोकमाता का पूजन भी अनादिकाल से ही है। वैदिक युग से अद्यतन ऐसा कोई युग नहीं कि जिसमें लोकजीवन जीवन्त न रहा हो। डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल ने बाबू कृष्णानंद गुप्त द्वारा संपादित त्रैमासिक पत्र- 'लोकवार्ता' के जनवरी 1946 के अंक में एक लेख लिखा था- 'महामहिम लोकजीवन'। इस लेख का यह अंश यहाँ उल्लेखनीय है-

'भारतीय इतिहास में किसी भी युग की झलक उसके पुरातत्त्व की सामग्री शब्दों के रूप में कहीं न कहीं छिपी पड़ी है। वैदिक युग के शब्द कहीं घर किये बैठे हैं, तो कहीं श्रौत-सूत्रों की शब्दावली आयुष्मति बनकर सुरक्षित है, कहीं गुप्तयुग की परम्पराएँ पहचान में आती हैं और कहीं मध्यकाल की धारा का स्पष्ट दर्शन मिलता है।' ऐसे महामहिम लोकजीवन की परम्पराओं को किसी राजवंश के काल से बाँधा नहीं जा सकता।

बुन्देलखण्ड क्षेत्र में तो बीजासेन देवी के अनेक पूजा स्थल हैं- झाँसी में बीजासेन का मंदिर, टीकमगढ़ में बीजासेन माई की मढ़िया, शिवपुरी जिले के पिछोर में बीजासेन का मंदिर, मालवा क्षेत्र में मन्दसौर के इलाके में बीजासेन देवी के पूजास्थल हैं। टिमरनी (इटारसी) के निकट गहन वन में एक पहाड़ी के शिखर पर प्राचीन बीजासेन मंदिर लगभग एक हजार वर्ष से भी अधिक पुराना है। उज्जैन की प्राचीन बस्ती में बीजासन देवी का प्राचीन मंदिर है, जहाँ आज भी आसन्नप्रसवा स्त्रियों को आशीर्वाद कामना से ले जाकर पूजा-अर्चना सपन्न की जाती है। महाराष्ट्र के ग्राम्यांचलों में भी बीजासेन माता के पूजा स्थल हैं। आचार्य दुर्गाचरण शुक्ल ने बताया कि उनकी स्मृति भी बाल्यकाल में सुना बीजासेन माता की पूजा के समय गाया गीत आज भी जीवन्त है-

बीजासेन माई मोय दरसन दयेव
बैसवाड़े की माई मोय दरसन द्येव
दरसन द्येव मोय दरसन द्येव।

इन पंक्तियों से प्रतीत होता है कि लोकमाता बीजासेन की पूजा किसी युग में बैसवाड़ा क्षेत्र (गंगा-यमुना का दुआव क्षेत्र) में मूर्त रूप में अवश्य रही होगी। इस प्रकार यह बात हम समझ सकते हैं कि लोकदेवी बीजासेन का क्षेत्र व्यापक और कालजयी है।

साधारणत: एक अथवा तीन वर्ष में बीजासेन माता का अनुष्ठान सम्पन्न करने की बुन्देलखण्ड की लोकपरम्पराएँ हैं, परन्तु पुत्र जन्म और विवाह संस्कार के पश्चात् तो इसे अनिवार्य रूप से करना ही पड़ता है। ऐसे विशेष मांगलिक अवसरों के वृहद् अनुष्ठान को बुन्देली लोकभाषा में 'पाटा भरना' कहा जाता है। पूजा के लिए सोमवार, शुक्रवार और अष्टमी तिथि शुभ मानी जाती है, कहीं-कहीं चतुर्दशी और पूर्णिमा की पूजा शुभ मानी जाती है। पूजा रात्रि के समय की जाती है, इसे रहस्यमय या गोपनीय माना जाता है, इसलिये पूजा के समय परिवार के अतिरिक्त अन्य कोई वहाँ उपस्थित नहीं रहता। लकड़ी के एक पटे पर नया लाल कपड़ा बिछा दिया जाता है, नौ चौक बना दिए जाते हैं, सामने लोकमाता बीजासेन देवी के प्रतीक रूप में घृत और सिंदूर मिलाकर दीवार पर नौ गोल बिन्दु लगा दिये जाते हैं जिन्हें नौ टिपकी टीपना कहते हैं। नौ बिन्दुओं के ऊपर बीचों-बीच एक पुतरिया (लोकचित्रण में पुतली का आकार) लिखने की भी परम्परा देखने को मिलती है। यह पाँचवीं टिपकी के ठीक ऊपर होती है। यही बीजासेन या बीजासेनी देवी हैं। नौ गोल बिन्दुओं पर काँच के नौ बूँदा (टिकुली) लगाते हैं। प्रसाद के रूप में हलुवा के साथ नौ पूड़ियाँ, नौ चौकों पर रख दी जाती हैं। उपहार रूप में नौ चूड़ियाँ, नौ पान, नौ सुपारी, नौ लोंग, नौ इलायची, नौ प्रकार की मेवा और नौ ही मिठाइयाँ, नौ खूँट के रूप में बीजासेनी माई को अर्पित कर दी जाती हैं। दीपक प्रज्वलित रहता है और पूजा करने वाला व्यक्ति मौन रूप से बीजासेन देवी के लिए नौं होम करता है। माथा टेककर प्रणाम के साथ अनुष्ठान पूरा होता है। परिवार का वयोवृद्ध मुखिया परिवार के सदस्यों को प्रसाद देता है। जो भी प्रसाद को ग्रहण करता है, उसे बीजासेन माता का यह अनुष्ठान जीवन भर करना आवश्यक होता है। ऐसी मान्यता है कि पूजा पूर्णता एवं सफलता हेतु सौभाग्यवती स्त्रियों को भोजन कराने की परम्परा है। इसे बीजासेनी की सुहागिनें कहा जाता है। ये सुहागिनें वही स्त्रियाँ होती हैं, जिनके घर-परिवार में इस अनुष्ठान की परम्परा यथावत् होती हो, उनके घरों में आने वाली नव-वधू को परिवार की ओर से बीजासेनी देवी का यंत्र उपहार स्वरूप देने की प्रथा है। बीजासेन का यह यंत्र चाँदी या सोने का वर्गाकार ताबीज होता है, जिसमें प्रतीक रूप ये नौ बिन्दु उत्कीर्ण रहते हैं। वधू बीजासेनी के इस यंत्र को आजीवन अपने गले में पहनती है, जिसे बीजासेन की तबिजिया कहते हैं।

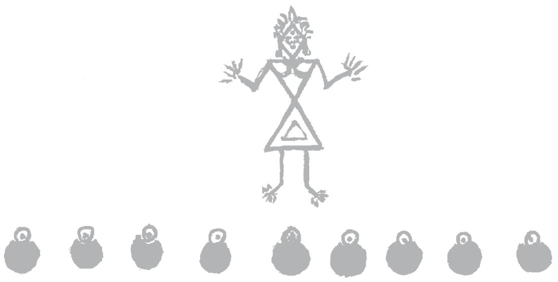

लोकजीवन में मांगलिक प्रतीकों में यह बीजासेन का अनुष्ठान गोपनीय रूप में सम्पन्न होने के कारण रहस्य बनकर रह गया है। अभी तक इस अनुष्ठान को गंभीरता से विचारणीय विषय के रूप में नहीं उठाया गया। इसे गहराई से समझने हेतु मैं संस्कृत और संस्कृति के आचार्य, जो शास्त्रों के अध्येता विद्वान् हैं- पं. दुर्गाचरणजी शुक्ल के समीप जा पहुँचा और इस गोपनीय रहस्य को समझा देने हेतु निवेदन किया। शुक्ल जी ने वेदमत (शास्त्र सम्मत) और लोकमत को समानान्तर दृष्टि से गहरे पैठकर चिन्तन किया है। उनका कथन इस प्रकार है-

मालवा के दशपुर अंचल में इन लोकमाता के लिए 'बीजासनी' शब्द प्रयुक्त होता है, बुन्देली का बीजासेन इसी का एक रूप है। यह बीजासेन शब्द का रहस्य स्वयं खोल रहा है- बीजासेनी अर्थात् बीजों के आसन पर विराजने वाली। स्पष्ट है ऐसी माता, जो बीजों के आसन पर प्रतिष्ठित रहती हैं। अर्थात् 'बीजाधिष्ठिता माता'। नौ बिन्दु, नौ खूँट, नौ चौक, नौ भागों में उपहार का निवेदन बीजासेनी की पूजा की विशेषताएँ हैं। 'खूँट' यह शब्द 'कूट' का बुन्देली तद्भव रूप है, संस्कृत में कूट शब्द को शिखर एवं ऊर्ध्व त्रिकोण के लिये उपयोग करते हैं। तंत्र में कूट शब्द का प्रयोग प्राय: मिलता है। नौ खूँट का अर्थ हुआ नवकूट। इसी प्रकार इस पूजा में प्रयुक्त एक शब्द है 'चौक' यह संस्कृत में चक्र, चतुरस्र व मंडल के अर्थ में बहुधा प्रयुक्त होता है। विवाह में अथवा किसी भी मांगलिक अवसर पर चौक पूरने की प्रथा भी लोकप्रचलित है, इस प्रकार पूजा में प्रयुक्त चौक शब्द को 'चक्र' रूप में मानना असंगत नहीं है। बीज, बिन्दु, कूट और चक्र- ये चार शब्द और इन चार चक्रों से सम्बन्धित ही बीजाधिष्ठिता माता, गुह्य पूजा का रहस्य परिभाषित करते हैं। नौ बिन्दु, नौ खूँट और नौ चौक वाली बीजासनी माता वास्तव में नव बिन्दुमय, नव कूटमयी, नव चक्रमयी, नव बीजाधिष्ठिता श्री-श्री विद्या का सरलतम रूप है। यह उस महाविद्या का लोकस्वरूप है, जिसके बीज ऋग्वेद में हैं, जिसे आगम साहित्य में 'परमा गुह्या विद्या' कहा है और जिसे आदिशंकराचार्य ने इस देश के चार प्रधान मठों में प्रतिष्ठापित कर 'परापूजा' की परम पदवी प्रदान की है।

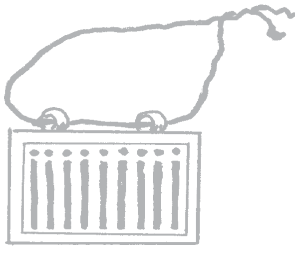

मैंने कहा- यह तो ठीक है, परन्तु आपका वेदमत लोक-जीवन की बीजासेन माता के संबंध में क्या कहता है? सुनकर आचार्य दुर्गाचरण शुक्ल बोले- 'ऋग्वेद के प्रथम मंडल में वाक्शक्ति को एकपदी, द्विपदी, चतुष्पदी, अष्टापदी कहते हुए नवपदी बताया है' -

गौरीर्मिमाय सलिलानि तक्षति एकपदी, द्विपदी सा चतुष्पदी।
अष्टापदी, नवपदी बभूवुषी सहस्राक्षरा परमे व्योमन्।।

(ऋग्वेद 1/164/41)

कहा है कि - सम्पूर्ण सृष्टि का मूल कारण वाक् शक्ति ही है -

तस्या समुद्रा अधि विक्षरन्ति तेन जीवन्ति प्रदिश: चतस्र:।
तत: क्षरति अक्षरं तद् विश्वं उपजीवति।।

(ऋग्वेद 1/164/42)

वही वेदों की माता है। ऋग्वेद के आठवें मंडल में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि यह वाक् शक्ति आठ पद वाली और नव कोण वाली है-

वाचं अष्टापदीमहं नव स्रक्तिम ऋमस्पृशम्।
इन्द्रात् परित-वं ममे।।

(ऋग्वेद 8/76/12)

यह शक्ति इन्द्राविन है, ब्रह्म का स्वरूप है। सम्पूर्ण जगत इस वाक् शक्ति का ही व्यक्त रूप है।

अप्रक्षितं वसु विभर्षित हस्तयोरषाळ्हं सहस्तन्वि श्रुतो दधे।
आवृता सोऽवतासो न कर्तृभिस् तनूषु क्रतव इन्द्र भूरय:।।

(ऋग्वेद 1/55/81)

इसकी व्याख्या इस प्रकार है -

सोयमाकाश: प्राणेन बृहत्या विष्टब्ध:
तद्यथाऽयमाकाश: प्राणेन बृहत्या विष्टव्ध:।
एवं सर्वाणि भूतानि अपि पिपीलिकाम्भ्य:
प्राणेन बृहत्या विष्टव्धानीत्येवं विद्यात्।।

(ऐतरेय आ. 2/1/6)

अथर्ववेद में भी वाक् शक्ति को देवों और भूतों के जन्म का कारण बताया गया है। इस प्रकार वेद वाक् शक्ति को अष्टापदी, नवपदी कहते हैं, और बताते हैं कि इसी शक्ति से देवताओं एवं भौतिक पदार्थों की उत्पत्ति होती है–

वाग्वै सरिरम् (यजु.13/53 सरिरम् सलिलम् कारण समुद्र जिससे सृष्टि उत्पन्न होती है। वाग्ब्रह्म (ऐतरेय 6/3) वागिति सर्वे देवाः। (जै.उ. 1/9/2) वाग्वा इन्द्रः कौ 2/7।

ऋग्वेद में यह भी कहा गया है कि एक स्वर का संक्रांति मंडल नव बिन्दुमय होता है–

बीभत्सूनाम् सयूजं हंसमाहुः अपाम् दिव्यानाम् सख्ये चरन्तम्।
अनुष्टुभं अनु चर्चूर्यमाणं इन्द्रं नि चिक्युः कवयो मनीषा।।

(ऋग्वेद 10/124/9)

(पथ्यास्वस्ति में म.म. मधुसूदन झा के भाष्य पर आधारित)

ऋग्वेद के एक उपनिषद् (त्रिपुरोपनिषद) में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि वाक् शक्ति ने नौ योनियो और नौ चक्रों को धारण किया है। फलस्वरूप नौ योग शक्तियाँ हैं, नौ योग हैं, जिनकी नौ किरणें हैं और नौ मुद्राएँ हैं–

नव योनिर्नव चक्राणि दधिरे, नवैव योगा नव योगिन्यश्च।
नवानां चक्रा अधिनाथा स्योना नवभद्रा नवमुद्रा महीनाम्।।

(ऋ.वे.त्रिपुरोपनिषद्/मंत्र 2)

इन वैदिक उद्धरणों के माध्यम से उन्होंने समझाया कि वेदमातर में नवचक्रमयी नवबीजमयी श्रीविद्या का उल्लेख मिलता है जो बीजासनी लोकमाता का मूल स्वरूप है, जिसे वेदमत के समानान्तर बीजासेन अनुष्ठान के मांगलिक प्रतीक रूप में लोकमत ने सहज स्वीकार किया है। उनका मानना है कि आगम साहित्य में भी बीजासनी के बीज अवश्य हैं। आदि शंकराचार्य के प्रसिद्ध ग्रंथ सौन्दर्यलहरी में इस समय तक के श्रीविद्या से संबंधित समस्त निगम और आगम के प्रमुख ग्रंथों का सार समाया हुआ है। ग्रंथ में गूढ़ तत्त्व सूत्ररूप में समाविष्ट होने के कारण आचार्य लक्ष्मीधर ने सौन्दर्यलहरी पर वृहत् काव्य लिखने का गौरवपूर्ण प्रयत्न किया है। उनके काव्य में चौंतीस श्लोकों की व्याख्या में नवात्मानम् शब्द को समझाते हुए कहा गया है–

नव व्यूहात्मको देवः चरानन्द्र परात्मकः।
नवात्मा भैरवो देवो भुक्तिमुक्तिप्रदायकः।।
एक परा नवनादमयी स्थूला नववर्गात्मा तु भूतलिप्याख्या।

(कौलमतरहस्य)

अर्थात् सृष्टि का मूल आनंद भैरवी और आनंद भैरव हैं, जो शिव और शक्ति स्वरूप हैं। शिव शक्ति का एकीभूत बिन्दु रूप ही सृष्टि का मूल कारण है। यह बिन्दु नव व्यूहात्मक है। शिव के नौ व्यूह हैं और शक्ति के भी नौ व्यूह हैं। शिव के नौ व्यूहों के नाम इस प्रकार हैं– काल, कुल, नाम, ज्ञान, चित्त, नाद, बिन्दु, कला और जीव। इसी प्रकार शक्ति के भी नौ व्यूह–वामा, ज्येष्ठा, रौद्री, अम्बिका, इच्छा, ज्ञान, क्रिया, शांति और परा नाम से जाने जाते हैं। शिव और शक्ति जब समास होते हैं, तब बिन्दु स्वरूप ग्रहण करते हैं। इनसे सृष्टि का उद्भव होता है। शक्ति नव नादमयी रूप में वर्णमाला का वर्ण स्वरूप धारण कर प्रकट होती है। नव नादों का रूप है– अ, क, च, ट, त, प, य, श, क्ष। नव नादों से ही 360 राशियाँ प्रकट होती हैं।

तंत्र शब्द को भौतिक तत्त्वों की सूक्ष्मता की अन्तिम सीढ़ी मानता है। शब्द अचेतन व्यापारमात्र नहीं है। शिव शक्ति के मिश्र बिन्दु का विमोक्ष नादरूप शब्द है। शब्द में समस्त वर्ण अपने अर्थ सहित क्रियावान रूप से नित्य प्रकाशमान रहते हैं। विश्व की समस्त सृष्टि शब्द का दृश्यरूप है। शब्द वर्णों से बनता है और वर्णरूपी है मानव शरीर में मूलाधार चक्र स्थित कुंडलिनी शक्ति –

चैतन्यं सर्वभूतानां शब्दब्रह्मेति मे मतिः।
तत्प्राप्य कुंडलीरूपं प्राणिनां देहमध्यगम।।
वर्णात्मनाविर्भति............

(आगम रहस्य, प्रथम पटल 65)

इसे विमर्शशक्ति कहते हैं। यही वैदिक परावाक् है, परा वाक् से पश्यन्ती फिर मध्यमा और अंत में वैखरी रूप में शब्द–सृष्टि का विकास होता है। वैखरी अंतिम अवस्था है, जो वर्णों के रूप में प्रकट होती है–

मूलाधारात् प्रथममुदितो यस्तु भावपराख्य,

पश्चात्-पश्चान्त्यथ हृदयगोबुद्धियुङ् मध्यमाख्या।
वक्त्रे वैखर्यथ रुरु दिषोरस्य जन्तो सुषुम्णा,
बद्धस्तस्माद् भवति पवनप्रेरितो वर्णसंघः।।

(आगमरहस्य, तृतीय पटल, श्लोक 201)

इसमें सृष्टि के पंच महाभूतों की सूक्ष्म मात्राएँ विद्यमान रहती हैं। वैखरी वाणी ही वर्ण मात्रिका के रूप में जानी जाती है। स्व. पंडित गुलाबराय जी 'राय' कविरचित वागीश्वरीवंदना की ये पंक्तियाँ भी इसे प्रमाणित करती हैं-

जय जय जय भारती!
वीणापाणि, देवि ब्रह्माणी, हंसवाहिनी सती।
हृदयपटल पर मात्राओंमुत अक्षर निर्धारती।
हृद-तंत्री के तार गिरा बन तू ही झंकारती।
परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरि, वाणी उच्चारती।....

इस प्रकार वर्ण-मात्रिका नौ वर्णों में विभक्त होकर छत्तीस मूल तत्त्वों को व्यक्त करती है। ये नौ वर्ग हैं- अ, क, च, ट, त, प, म, श और क्ष वर्ग। श्री स्वतंत्रानन्दनाथ द्वारा लिखा 'श्रीमात्रिका चक्रविवेक' नामक प्रसिद्ध तंत्र ग्रंथ है। अत्यन्त गम्भीर वर्णमाला का विषय इस ग्रन्थ में समझाया गया है। इनके अनुसार वर्ण मात्रिका के नौ वर्गों में से 'अ' वर्ग समस्त विश्व की बीज भूत कला का व्यंजक है। 'क' वर्ग पंचमहाभूतों को व्यक्त करता है। 'च' वर्ग पंच तन्मात्राओं का रूप है। 'ट' वर्ग पंच कर्मेन्द्रियों का, 'त' वर्ग पंच ज्ञानन्द्रियों का प्रतिनिधि है। 'प' वर्ग क्रमशः प्रकृति, अहंकार बुद्धि मन एवं पुरुष का रूप है। इसी प्रकार 'म' वर्ग अर्थात् य, र, ल, व में क्रमशः कला, अविद्या, राग, काल और नियति- इन पाँच शक्तियों का प्रतिनिधित्व करता है। 'श' वर्ग अर्थात् - श, ष, स, ह में क्रमशः शुद्धविद्या, ईश्वर, सदाशिव, शक्तितत्त्व के प्रतीक हैं। 'क्ष' बिन्दु रूप शिव है, इस प्रकार ये नौ वर्ग अपने बीज रूप में सम्पूर्ण सृष्टि के मूल उपादानों को संजोये हुए व्यक्त सृष्टि के बीज हैं। सृष्टि की माता पराशक्ति इन्हीं नौ बिन्दुओं से बने नौ चक्रों के ऊपर प्रतिष्ठित रहती हैं।

प्रसिद्ध तंत्र ग्रंथ 'शारदातिलक' एवं 'श्रीविद्यार्णव' में भी यह विषय प्रतिपादित किया गया है।

अस्तु- बीजासनी माता के नौ बिन्दु 'चक्र' के नौ बिन्दु हैं जो वर्णमाला के नौ वर्गों के प्रतिनिधि नौ वर्ण वर्णमहाविद्या अधिष्ठाता होकर सृष्टि का उद्‌भव, पालन, संहार, अनुग्रह और निग्रह कार्य किया करते हैं। नौ कूट नौ खूंट और नौ चौक वाली बीजासनी माता वैदिक परावाक् का स्वरूप और आगम द्वारा पूजित श्री-श्रीविद्या का सरल रूप है। संक्षेप में बीजासेन अथवा बीजासनी माता की पूजा वास्तव में वेद की परावाक् शक्ति एवं तंत्र की रहस्यमयी श्रीविद्या के मूल रूप की उपासना का एक सरल लोकप्रतीक है। यह अनुष्ठान बुन्देलखण्ड के लोक में एक मांगलिक प्रतीक के रूप में स्थापित है।

वैवाहिक मांगलिक प्रतीक

डॉ. सुधा गुप्ता

लोक के पर्वोत्सवों, व्रतों, संस्कारों से जुड़े प्रतीक लोकगृहीत होते हैं। लोकगृहीत प्रतीकों का जनजीवन से प्रगाढ़ संबंध होता है। इन सभी के मूल में लोककल्याण की भावना तो होती ही है, उनमें समाज के मूल्य, जीवन दर्शन, चिन्तन के व्यापक अर्थ समाविष्ट रहते हैं। अत: प्रतीकों में निहित अभिप्रायों को समझ कर ही हम किसी भी देश और अंचल की संस्कृति के वास्तविक स्वरूप को समझ सकते हैं। इतना ही नहीं, इनके माध्यम से हम मानव इतिहास के छोरों को भी पकड़ सकते हैं। क्योंकि अनेक प्रतीक आदिम युग से लेकर अब तक अपना अस्तित्व बनाये हुए हैं और अपने गर्भ में पाषाणयुग से लेकर अब तक धर्म, दर्शन साहित्य-संस्कृति के न जाने कितने सूत्र समाये हुए हैं। प्रतीकों के उद्देश्य, उनके अर्थ अज्ञानता की सतह में दबकर मात्र परम्परागत रूढ़ियाँ बनकर रह गये हैं। आज की प्रश्नाकुल पीढ़ी का अपने तीज-त्योहारों के प्रति विमुखता के अनेक कारणों में से एक कारण उनका संतोषजनक उत्तर न मिल पाना भी है। इसलिये आज प्रतीकों का अध्ययन ही पर्याप्त नहीं है। सामाजिक, आर्थिक, विज्ञानपरक उपादेयता की पृष्ठभूमि में विश्लेषण कर, उनके लोकहितकारी रूपों को उद्‌घाटित कर पुन: प्रचारित करने की भी अतीव आवश्यकता है। यहाँ विवाह के मांगलिक प्रतीकों को इसी दृष्टि से परखने का प्रयत्न किया गया है।

सृष्टि के कारक स्त्री-पुरुष का पति-पत्नी के रूप में अविच्छिन्न पवित्र गठबंधन का प्रतीक विवाह, हिन्दू संस्कृति का सबसे महत्त्वपूर्ण धार्मिक कृत्य माने जाने वाला संस्कार है। हिन्दुओं के सोलह संस्कारों में विवाह ही एक मात्र ऐसा संस्कार है, जो अनेक शास्त्रीय -लौकिक पूजाओं -लोकरीतियों, कच्ची-पक्की मिर्जापुरी पंगतों, गीतों-गालियों, हँसी-ठिठोलियों, गाजे-बाजे, शहनाई, रमतूला की स्वरलहरियों से तिरता हुआ आस-पास के परिवेश को आनंदातिरेक में डूबो कर कई दिनों तक चलता है। इसमें सभी जाति-वर्गों के स्त्री-पुरुषों तथा परिवार के सभी नाते-रिश्तदारों की किसी न किसी रूप में भागीदारी होती है और उनको सम्माननीय

स्थान दिया जाता है। इसमें सभी प्रकार के खाद्यपदार्थों व गृहस्थी के उपयोग में आने वाली सभी प्रकार की वस्तुओं की आवश्यकता पड़ती है। सभी प्रकार के देवी-देवताओं, और पूर्वजों का स्मरण किया जाता है। सगाई से लेकर लगुन, मटियाना, तेल-हल्दी, अरगा, मड़वा, चीकट या भात, द्वारचार,चढ़ाव, कन्यादान, भाँवर, पाँव पखरई, धान बुआई, कुँवरकलेवा, कंकन छोरना, मौ मड़ई अथवा फाग, दायजा सौंपना, विदा, वधू के ससुराल आने पर मौरता, खिचड़ी नपाई आदि अनेक रीति-रस्म होते हैं। इन रीति-रस्मों से जुड़े अनेकानेक मांगलिक प्रतीक हैं, जो गार्हस्थ जीवन में प्रवेश करने वाले वर-वधू को दाम्पत्य सुख भोगते हुए लोकहित की भावना से युक्त हो समाजोन्मुखी होने का संदेश देते हुए इन प्रथाओं के महत्त्व को रेखांकित करते हैं।

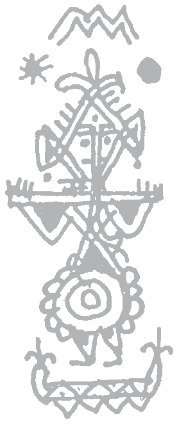

यद्यपि बुन्देलखण्ड में विभिन्न अनुष्ठानों-पर्वों, जन्म-विवाह आदि शुभ अवसरों के अलग-अलग प्रतीक हैं। पर कुछ प्रतीक सभी तरह के अनुष्ठानों, पूजाओं संस्कारों में प्रचलित हैं, जैसे स्वस्तिक, नारियल, आम, दूब, दीपक आदि। पर ये प्रतीक अवसरानुसार अपना अलग अर्थ रखते हैं। विवाह के अवसर पर अपनाये जाने वाले प्रतीक भी कुछ तो अलग हैं, पर कुछ सभी अनुष्ठानों में प्रचलित प्रतीक हैं, जो विवाह में अपना विशिष्ट अभिप्राय रखते हैं। समाज के लिये किसी न किसी रूप में उपयोगी गुण, स्वभाव से साम्य रखने वाले ये प्रतीक सभी वर्ग को सर्व सुलभ होते हैं। यद्यपि हल्दी, चावल, सिंदूर, सुपाड़ी प्रतीकात्मक हैं, किन्तु इनकी गणना भारतीय संस्कृति के प्रतीकों में प्रायः नहीं मिलती है, जबकि कोई भी धार्मिक अनुष्ठान, पूजा इनके बिना सम्पन्न नहीं होती है। ये हिन्दू संस्कृति के सर्वमान्य, सर्वाधिक महत्त्व रखने वाले मांगलिक प्रतीक हैं। विवाह में प्रारंभ से लेकर अंत तक सभी प्रकार के पूजन और रस्मों में इनका प्रयोग अपना अलग ही महत्त्व और प्रतीकार्थ रखता है। इसलिये विवाह के मांगलिक प्रतीकों में इनकी गणना करना भी हमें समीचीन लगा।

यहाँ यह भी द्रष्टव्य है कि अन्य व्रत, पर्वों, अनुष्ठानों में जहाँ दो-चार प्रतीक ही होते हैं, वहाँ विवाह संस्कार में प्रतीकों की भरमार है। विवाह की एक-एक रस्म में अनेकानेक प्रतीक गुँथे हुए हैं। उनमें से यहाँ प्रमुख मांगलिक प्रतीक विवेचित हैं।

चित्रात्मक प्रतीक - सभी शुभ अवसरों पर मंगल चिह्न भूमि और दीवालों पर अंकित करने का प्रचलन पूरे देश में है। धरती पर अंकित किये जाने वाले चित्रों को चौक या रंगोली और दीवारों पर अंकित किये जाने वाले चित्रों को थापा या 'भित्तिचित्र' कहते हैं। विभिन्न अवसरों पर अलग-अलग तरह के चौक व भित्तिचित्र बनाये जाते हैं। अंचल के अनुसार इनमें अंतर भी मिलता है। इनका अंकन कर विभिन्न ज्यामितिक रूपों को सुंदर रंगों से सजाकर लोकपरम्परा जैसे भूमि का शृंगार करती है और भित्ति पर अंकित चित्र तक हमारे अवधान को ले जाने का एक आह्वान करती है। भित्ति चित्रांकन की दिव्य प्रकृति का भूमि पर शृंगार किया जाता है। लोकचित्रों की इन ज्यामितिक संरचनाओं का शक्ति दिशा बोधक और वस्तु संकेतिक अर्थ है। विभिन्न रेखाओं और कोणों का यह ज्यामितिक विश्व प्रतीकात्मक रैखिक समष्टि है। द्वार और आँगन में वे सबसे पहले आतिथ्य की स्वस्ति करते हैं, सारी सृष्टि का स्वागत करते हैं।'[2]

चौक - बुन्देलखण्ड में शुभ अवसरों पर की जाने वाली कोई भी पूजा बिना चौक के सम्पन्न नहीं होती है। महिलाएँ पूजास्थल को गोबर से लीपती हैं और उस पर पटा रखकर आटे या चावल को पीसकर बनाये गए ऐपिन से चौक पूरती हैं। सामान्यतः चौक परिवार की स्त्रियाँ ही पूरती हैं, पर विवाह में लगुन पर एवं मड़वा के नीचे ब्राह्मण चौक पूरता है। विवाह में पूरा जाने वाला चौक सामान्य रूप में अष्टदल या अर्थात् आठ दलों वाला होता है। भारतीय संस्कृति में आठ संख्या का बहुत महत्त्व है- अष्ट सिद्धि, अष्ट दिक्पाल, अष्ट चक्र, योग के अष्टांग, अष्टऋषि, अष्ट दिशा आदि के प्रतीक हैं। चौक के माध्यम से देव-पितरों का आवाहन कर उन्हें आसन दिया जाता है, उनके आशीर्वाद से मंगलकार्य पूरा करवाने की प्रार्थना की जाती है। पूजा-अर्चना के बाद सुहागवती स्त्रियाँ आँचल के छोर को चौक से स्पर्श कर अपने परिवार के सुख-शांति की कामना करती हुई दण्डवत् प्रमाण करती हैं, इसे चौक लौटना कहा जाता है। चूँकि देवताओं के बैठने से वह स्थान पवित्र हो जाता है, अतः चौक को झाड़ू से

न बुहार कर हाथ से समेटकर चौक के आटे को घर में लगे पौधों के गमले में अथवा पूजन सामग्री के साथ जलाशय में विसर्जित किया जाता है।

चतेउर – विवाह के अवसर पर कन्या और वर पक्ष के प्रवेश द्वार की दीवार पर जो भित्तिचित्र बनाया जाता है, उसे 'चतेउर' कहा जाता है। सामान्यत: तीज-त्योहारों पर चित्रांकन स्त्रियाँ ही करती हैं। किन्तु विवाह में चतेउर लिखने के लिये चतेवरी आता है। यह बर्दिया कुम्हारों का वंशानुगत पेशा है। चतेवरी में सबसे पहिले द्वार के ऊपर प्रमुख मंगलकारी विघ्नविनाशक श्री गणेशजी और उनके वाहन 'मूषक' को लिखता है, तत्पश्चात् नीले हरे लाल और पीले रंगों की रेखाओं द्वारा पूरी दीवार पर बेल, फूल-पत्तियाँ, गमला, हाथी घोड़ा, कलश, शुक, मीन मण्डप इत्यादि का चित्रांकन करता है। इसमें अंकित हाथी ऐश्वर्य और शक्ति का, अश्व गति एवं शक्ति का, कलश जीवन की पूर्णता का, शुक प्रेम का और मीन सम्पन्नता व संवेग आदि का प्रतीक है। कन्या पक्ष की चतेउर में वरपक्ष की चतेउर से अधिक अंकन होता है।

मौरता व विजनी – भित्तिलेखन में बुन्देलखण्ड में पुत्र विवाह में 'मौरता' व गहोई बनियों के यहाँ मौरता के साथ ही विजनी लिखने की परम्परा है। विजनी केवल घर के प्रवेश द्वार के ऊपर लिखी जाती है। यह पन्द्रह त्रिभुज और सात कमूरों की बनती हैं। जब बारात कन्या पक्ष के घर चली जाती है तो घर की महिलायें कुल पूज्य देवता के स्थान, देवी के मंदिर एवं घर के प्रवेश द्वार के दोनों तरफ दीवार पर ग्योरी के रंग का चौखटा बनाकर उसके ऊपर त्रिभुज बनाकर मानवाकृति बनाती हैं। इसे मौरता[3] लिखना कहते हैं। मौरता तीन मौर धारण कर परिणय सूत्र बाँध कर, सृष्टि की संरचना करने वाले गृहरक्षक देवता स्वरूप वर एवं वधू के शुभागमन पर स्वागत का प्रतीक है।

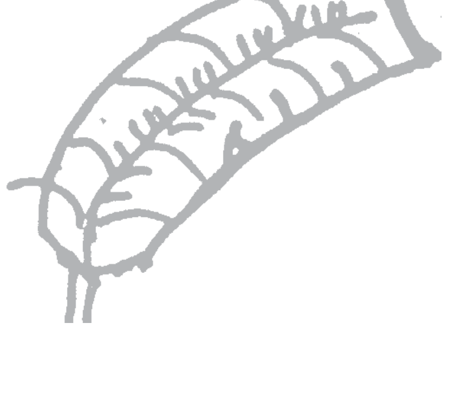

थापा – थापा भारत में अति प्राचीन काल से एक मांगलिक प्रतीक है। थापा व्यक्ति के पाँचों अंगुलियों की छाप है। अत: बुन्देलखण्ड में इसे हाथे कहा जाता है। इसका उल्लेख प्राचीन संस्कृत ग्रंथों जैसे कादम्बरी, हर्षचरित एवं मृच्छकटिक आदि में मिलता है। मंदसौर स्तम्भ के अभिलेख में भी इसका जिक्र है। शिल्पकला में थापे उत्कीर्ण किये गये हैं। भीमबैटिका जैसे अत्यंत प्राचीन और प्रागैतिहासिक शैलाश्रयों और गुहाचित्रों में इसकी उपस्थिति है। तक्षशिला की खुदाई में अनेक पंचमार्क सिक्कों के ऊपर पंचांगुल चिह्न अंकित पाये गये है। यह प्रामाणिकता और पहचान का चिह्न भी है[4]। अनेकानेक सामाजिक और मांगलिक कार्यों जैसे पुत्रजन्म, गृहप्रवेश, विवाह आदि के समय पानी में घोलकर ऐपन-हल्दी, आलते या लाल रंग से द्वार तथा वस्त्रों पर हाते लगाये जाते हैं।

बुन्देलखण्ड में विवाह के अवसर पर हल्दी के ही हाथे लगते हैं, हल्दी में ऐपन भी मिला लेते हैं। विवाह संस्कार पर बुन्देलखण्ड में कन्या पक्ष वालों के यहाँ से लगुन में वर के लिये जो वस्त्र जाते हैं, उनमें एक चार मीटर का सफेट कपड़ा होता है, जिस पर कन्या के दाँये हाथ का हाथा लगवाया जाता है जो सम्भवत: कन्या की पहचान करने का प्रतीक है। तेल की रस्म के दिन माय-मैर के कोठे के अंदर दीवाल पर घर की बुजुर्ग सुहागिन स्त्री हल्दी का थापा लगाती है, जो कुलदेवता की स्थापना का प्रतीक है। विवाह मण्डप के स्तम्भ को फूफा अथवा मानदान पुरुष गाड़ते हैं। उस अवसर सर्वप्रथम मण्डप के स्तम्भ पर हाथा लगाया जाता है। ननदोई-सलहजें एक-दूसरे की पीठ पर थापे लगाते हैं। कन्या पक्ष में विदाई के पूर्व माय के कोठे में उसकी स्मृति के चिह्न स्वरूप हाथे लगवाने की प्रथा है। इसी प्रकार जब वर-वधू के साथ अपने घर लौटता है, तो वधू से सर्वप्रथम देवी के मंदिर पर पूर्व में बनाये गए मौरते के ऊपर हाथे लगवाये जाते हैं। तत्पश्चात् घर के प्रवेश द्वार पर बने मौरतों के ऊपर एवं माय-बाबू के स्थान पर हाथे लगवाये जाते हैं, जो वर का देवीस्वरूपा गृहलक्ष्मी के साथ आगमन एवं वधू का गृहस्थी में पदार्पण का प्रतीक तो है ही, ये हाथे इस बात का प्रतीक भी हैं कि लक्ष्मी का वरदहस्त उस परिवार पर बना रहेगा।

सातिया – स्वस्तिक को बुन्देलखण्ड में सातिया या सतिया

कहते हैं। विवाह के अवसर पर विवाह के प्रत्येक सामान–डलिया–टिपारा, कलश, मड़वा आदि पर स्वस्तिक बनाया जाता है। यह भारत का नहीं विश्व के प्राय: सभी देशों का मांगलिक प्रतीक है। हिन्दू अपने सभी धार्मिक अनुष्ठानों, व्रतों, संस्कारों नयी वस्तुओं आदि में प्राचीनकाल से ही इसका प्रयोग करते आ रहे हैं। स्वस्तिक पूजा का चलन हमें आदिम संस्कारों से लेकर शैल–चित्रों, सिन्धु घाटी की सीलों, जैन–बौद्ध तथा हिन्दू धर्म प्रतीकों के रूप में मिलता है। भारतीय स्वस्तिक एक चतुर्भुज प्रतीक है। इसमें चार समकोण होते हैं, जो कल्याण और ऐश्वर्य तथा प्राचुर्य की अपनी सम्पूर्ण चेतना और शक्ति के साथ सूर्यदेव के सम्पूर्ण चिह्न का प्रतिनिधित्व करते हैं[5] पद्मपुराण के अनुसार चातुर्मास में जो स्त्रियाँ देवता की मूर्ति के सामने स्वस्तिक और अष्टदल कमल की अल्पना बनाती या चौक पूरती हैं, उनका सुहाग अखण्ड रहता है। मार्कण्डेयपुराण के अनुसार प्रात:काल जिसके घर में स्त्रियाँ भूमि लीप कर उसमें स्वस्तिक नहीं बनाती थीं, उन घरों से वित्त, यश और आयु के विनष्ट हो जाने का जनविश्वास प्रचलित था। सिद्धान्तसार के अनुसार स्वस्तिक का मध्य बिन्दु, विश्व का गर्भाशय है, इसी का नाम है सत्। यह बिन्दु जब रेखाओं में फैलता है और उसका जो व्यास बनता है, वह लिंगरूप तत्त्व होता है। यह महायोनि में क्षोभ पैदा करता है, जो उत्पत्ति के लिये प्रेरित करता है। उत्पत्ति के प्रेरक स्वस्तिक को दूल्हा–दुल्हन के सामने दीवाल तथा पाटी पर अंकित किया जाता है। जन्मों –जन्मों तक उनका सम्बंध अविच्छिन्न रहे, उनका वंश आगे बढ़ता रहे, इस भावना से अनुप्राणित होकर वर–वधू आमने–सामने खड़े होकर स्वस्तिक की ओर देखते हैं। इस प्रकार स्वस्तिक की विवाह के मांगलिक प्रतीकों में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका है।

वस्तु एवं प्रकृतिपरक प्रतीक

गोबर गनेश / कलश गनेश – विघ्न विनाशक, ऋद्धि–सिद्धि के प्रतीक गणेश जी आदि और अनादि देव माने जाते हैं। इसका उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है।[6] गोबर के गणेश बुन्देलखण्ड में केवल विवाह के अवसर पर ही बनते हैं। बुन्देलखण्ड में गाय का गोबर अत्यंत शुभ माना जाता हैं। इसलिए विवाह संस्कार के अवसर पर जो हिन्दुओं के षोडश संस्कारों में सबसे महत्त्वपूर्ण संस्कार है, गोबर के गणेश बनाये जाते हैं, इनको कलश पर स्थापित कर दिया जाता है। लगुन से लेकर विवाह की समाप्ति तक सबसे पहले इनकी पूजा होती है। गणेश की कलश पर स्थापना के कारण इन्हें कलश गनेश भी कहा जाता है। कलश में आम का पत्ता, हल्दी, अक्षत, पुष्प व दूर्वा भी रखी जाती है। वर पक्ष वालों के यहाँ से यही गोबर गणेश कलश के साथ वधूपक्ष वालों के यहाँ ले जाये जाते हैं। वहाँ चढ़ावे के बाद विदा तक सभी रीति रस्मों में दोनों पक्षों के यहाँ के कलश गनेश की पूजा होती है। वधू की विदा के साथ ही वरपक्ष वाले कलश गनेश वापस आ जाते हैं और दशमानिनी को जो विवाह की पूरक रस्म होती है, इनका विसर्जन कर दिया जाता है। शंकराचार्य के 'सिद्धलक्ष्मीगणेश स्तोत्र' में गोबर गनेश की प्रतिमा का उल्लेख मिलता है। बुन्देलखण्ड में विवाह के मण्डप गीत में भी गोबर के गनेश बनाये जाने की बात कही गयी है। यथा – *सोने के गनेश पूजें बाबुल गोबर गनेश धराओ*।

घट या 'कलश' – कलश श्रीसम्पन्न भरे–पूरे जीवन का प्रतीक है। धार्मिक पूजा और संस्कारों में सर्वप्रथम त्रिदेवों ब्रह्मा, विष्णु, महेश का प्रतीक मानकर पूर्णघट की स्थापना की जाती है। ऋग्वेद में पूर्णघट का उल्लेख है, वह सोम से भरा पात्र है। अथर्ववेद में घृत और अमृत से भरे पूर्ण कुम्भ का उल्लेख मिलता है।

कलश को गणेश का पर्याय भी मान लिया गया है। बुन्देलखण्ड में लगुन के दिन पण्डित चौक पूरकर, मिट्टी के या ताम्रपत्र के कलश में स्वस्तिक बनाकर आम का पत्ता, हल्दी की गाँठे, चावल, द्रव्य डाल कर स्थापित करते हैं और उसके ऊपर गणेश रखे जाते हैं। लगुन के बाद ग्रामीण इलाकों में प्रवेश द्वार के दोनों तरफ मिट्टी के पूर्णघट रख दिये जाने की परम्परा है। अथर्ववेद में पूर्णकुम्भ नारी का भी उल्लेख आया है। इस अभिप्राय के मूल में ऐसा मांगलिक चिह्न लिया जाता था, जिसमें कोई सौभाग्यवती स्त्री मंगलघट लिये

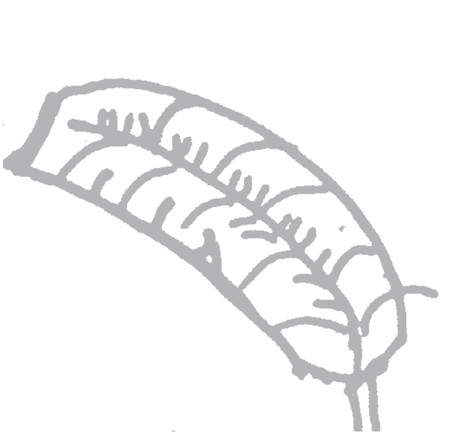

शोभायात्रा में चलती थी। कमल के प्रतीक के साथ अथवा फूल-पत्तियों से समुद्र कलश या कुम्भ सुख- सम्पत्ति और जीवन की पूर्णता का प्रतीक है। इस रूप में जल से ऊपर तक भरे हुए गोल कुम्भ की पूजा 'गर्भधारिणी' देवीमाता की पूजा थी। आगे चलकर कुम्भ के मुख पर आम्र, अश्वत्थ आदि के पत्तों को रखकर, उसके ऊपर ऐश्वर्य की देवी लक्ष्मी के प्रतीक स्वरूप नारियल फल रखकर पूर्णघट के रूप में मातृदेवी की कल्पना दार्शनिक आधार देकर लक्ष्मी के साथ जोड़ दी गयी है।[7]

चीकट, भात दूल्हा, दूल्हा निकासी के समय, द्वारचार के समय बुआ आदि मान्य सुहागवती स्त्रियाँ सिर पर कलश लेकर खड़ी होती हैं। बारात के प्रस्थान करने पर वर का स्वागत करने के लिये मार्ग के दोनों ओर अपने-अपने घरों से निकलकर स्त्रियाँ शुभ शकुन के प्रतीकस्वरूप जल से भरे कलश लेकर खड़ी होने की परम्परा भी बुन्देलखण्ड में थी।

चूँकि नवागत वधू, जिसे भारतीय संस्कृति में गृहलक्ष्मी माना जाता है, गर्भधारण कर, मातृत्व को प्राप्त कर वंश की वृद्धि करेगी। इसीलिये विवाह में सौभाग्यवती स्त्रियाँ उसकी समृद्धि व संतानवती होने की शुभ आकांक्षा से मंगल घट लेकर खड़ी होती हैं।

दीपक - बुन्देलखण्ड में इसे दिया कहते हैं। शुभ अवसरों पर दीपक जलाने के बाद ही पूजा की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। अवसरानुसार दीपक के अलग प्रतीकार्थ एवं नाम होते हैं। विवाह के अवसर पर जलने वाले दीपक के अलग प्रतीकार्थ हैं। इन दीपकों को मानिक कहते हैं। विवाह के मण्डप में जो दीप जलता है, उसे साक्षीदीप कहते हैं, जो वर-वधू के परिणय में बँधने का साक्षी है और विवाह के बाद जो दीपक रखा जाता है, उसे 'पिष्ट दीप' कहते हैं। दीपक मिट्टी या धातु का होता है, कुछ विशेष अवसरों पर आटा गूँथकर उसका दीपक बनाकर जलाया जाता है। जैसे दिवाली के पूर्व धनतेरस एवं नरक चौदस को आटे के ही दिये बनाकर द्वार पर, घर के देवस्थान पर रखे जाते हैं। विवाह पर लड़के वालों के यहाँ माय के कोठे के बाहर दोनों ओर आटे के बिना जलाये दीपक रखने की प्रथा है। इन्हें मानिक कहते हैं, जो माणिक्य के अर्थात् समृद्धि, सौभाग्य के चिह्न हैं और मणि का लाल रंग वधू के सुहाग के चिह्न लाल सिन्दूर का प्रतीक है। फिर ये तो है ही कि दिया अंधकार से संघर्ष करता हुआ प्रकाश की ओर ले जाने का, ज्ञान का, जीवन के उल्लास का प्रतीक होने के कारण वर-वधू को गार्हस्थ्य जीवन में आने वाली कठिनाइयों से संघर्ष करते हुए, विकास के मार्ग पर अग्रसर होने व दाम्पत्य जीवन को उल्लासमय बनाने की प्रेरणा देता है।

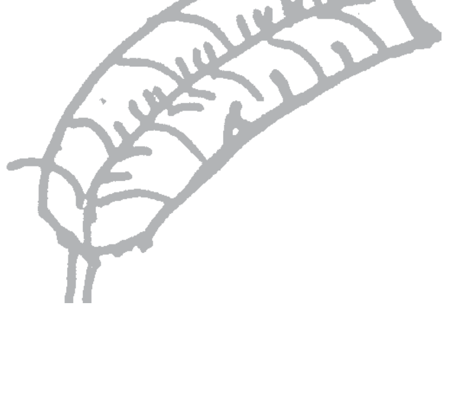

रगवारौ - संस्कृत में इसे रघुवंश कहते हैं। एक लोटे में सुहाग का सारा सामान रखा जाता है और उसका पूजन होता है। रगवारे के बाहरी पेटे पर रंग-बिरंगे चित्र अंकित रहते हैं, जिनका लेखन 'बुलकिया' कुम्हार अथवा आनुवंशिक चतेउरी करता है। उनमें गणेशजी, सूर्य, देवी, विष्णु, फूल पत्तियाँ तथा सातिया बनाये जाते हैं। लोटे में सुहाग का सामान होने के कारण यह मांगलिक होता है। लोटे के स्थान पर बाँस की ढक्कनदार डलिया भी इसके लिये प्रयोग की जाती है। विवाह में वर पक्ष चढ़ावे की साम्रगी के साथ रगवारौ भी ले जाता है। विवाह सम्पन्न हो जाने पर 'रगवारे' को वधू की विदा में अन्य सामग्री के साथ लौटा दिया जाता है, जो वधू के अखण्ड सुहाग तथा वर-वधू दोनों के सुखी दाम्पत्य जीवन की मंगल कामना के साथ वरपक्ष के यहाँ वर्षों तक सुरक्षित रखा रहता हैं।[8]

कौड़ी - प्राचीन समय में कौड़ी ही विनिमय का साधन थी। मास्कराचार्य के लीलावती नामक ग्रंथ में कौड़ियों के मुद्रीकरण का उल्लेख है। आज भी कौड़ियाँ द्रव्य का प्रतीक तो हैं ही, इनका सांस्कृतिक महत्त्व भी कम नहीं है। धार्मिक एवं मांगलिक अवसरों पर कौड़ी समृद्धि और सुख के प्रतीक मानी जाती है। समुद्र में उत्पन्न होने कारण यह धन की देवी लक्ष्मी के प्रतीक रूप में भी सुशोभित है। अलंकरण में भी कौड़ी का उपयोग किया जाता है। चिकित्सीय उपयोगिता भी इसकी कम नहीं, ऐसा लोकविश्वास है। दीपावली के अवसर पर तेल भरे दीपक में डुबाये रखने वाली कौड़ी एवं अधिन माह में कुआँरी कन्याओं

द्वारा खेले जाने वाले सुअटा के अवसर पर चबूतरे की दीवाल पर बने भूत की आँखों में लगी कौड़ी को लेकर जुआ खेलने वाला अवश्य ही जीतता है।

सौभाग्य और समृद्धि का प्रतीक होने के कारण बुन्देलखण्ड में कौड़ी को विवाह के अवसर पर वर-वधू के कंकणों 'कंगना' में बाँधने की परम्परा है। कलावा के साथ भी कौड़ी बाँधी जाती है। विवाह की मंजूषा में सौभाग्य की अन्य वस्तुओं के साथ कौड़ी भी रखते हैं। स्त्रियों को ऐसा विश्वास है कि कौड़ी को करधनी के रूप में पहनने से उन्हें मनचाही संतान की प्राप्ति होगी।[9]

हल्दी – *ऐसी हरद माँगी भई और बिन काज न होई।* बुन्देलखण्ड में प्रचलित वैवाहिक गीत की पंक्ति से यह स्पष्ट है कि शादी-विवाह में हल्दी का विशेष महत्त्व है, इसके बिना शादी के शुभ कार्य पूरे नहीं होते। विवाह में सबसे पहिले हल्दी ही खरीदी जाती है। वरपक्ष के यहाँ विवाह के पूर्व जो सुतकरों और लग्न पत्रिका जाती है उसमें हल्दी की गाँठे रखी जाती हैं एवं लगुन के कलश में भी हल्दी की गाँठे डाली जाती हैं। विवाह में आमंत्रित करने के लिये भेजे जाने वाले निमंत्रणपत्रों पर पिसी हल्दी पानी में घोल कर छिड़की जाती है। बारात में चलने का निमंत्रण देने के लिए हल्दी की गाँठे दी जाती हैं। विवाह में हल्दी की रस्म कन्या और वर पक्ष दोनों के यहाँ होती है, जिसमें पिसी हल्दी को पानी में घोलकर बन्ना-बन्नी को चढ़ायी जाती है और उस दिन के बाद से टीके 'द्वाराचार' तक रोज हल्दी मिश्रित लेप का उबटन वर-वधू को किया जाता है। तेल की रस्म में भी तेल में हल्दी मिलायी जाती है। इस संदर्भ में तेल के अवसर गाये जाने वाले विवाह गीत की निम्न पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं-

सो आज मेरे रामजू कौं तेल चढ़त है।
तेलो चढ़त है फुलेले चढ़त है
सोने कटोरा में तेलो भरायौ।
सो हरदी मिला कै कैसौ झलकत है। सो आज मेरे .....।

शादी के समय होने वाले प्रत्येक पूजन में हल्दी की गाँठे रखी जाती हैं, विदा की डलिया को हल्दी से टीका जाता है। पाँव पखरई हल्दी के पानी से की जाती है। लड़की की व वधू की विदाई पर उसकी साड़ी के आँचल के छोर को हल्दी से टीक कर चावल और पैसे के साथ हल्दी की गाँठ भी बाँधी जाती है। अर्थात् हल्दी बिना विवाह का कोई भी काज सम्पन्न नहीं होता। बुन्देलखण्ड में गहोई बनियों के यहाँ लड़के का टीका होने के तुरंत बाद ही सुहाग तौलियों का नेग होता है, उसमें मिट्टी की चार मटकियों पर जो पीला कपड़ा जनवासे में समधियों को दिया जाता है, वह हल्दी का रंगा ही होता है। कन्या पक्ष के यहाँ होने वाली पाँव पखरई[11] हल्दी के पानी से की जाती है। विवाह में वर-वधू के द्वारा पानी से भरी परात में से अँगूठी पहिले जीत लेने की एक रस्म होती है, जो वर-वधू की कुशलता व तीव्रता की परीक्षक होती है। परात का यह पानी भी हल्दी मिश्रित होता है। वधू पक्ष के यहाँ विदा के पूर्व मुँह मड़ई का नेग होता है, जिसमें कन्यापक्ष समधियों के साथ फाग खेलती हैं, यह फाग भी हल्दी अथवा केसरिया रंग से खेली जाती है। वधू से दोनों पक्षों के परिवारों के माय मैर के कोठे में हल्दी के हाथे लगवाये जाते हैं। घर में प्रवेश करने के पूर्व वर-वधू हल्दी के हाथे लगाते हैं। पूजन में प्रयुक्त किये जाने वाले चावल भी हल्दी मिश्रित होते हैं। विवाह में प्रयुक्त होने वाले सभी सामानों पर भी हल्दी के थापे लगा दिये जाते हैं। सुहागवती स्त्रियाँ महावर लगाने के पूर्व पैरों में हल्दी अवश्य ही लगाती हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि विवाह की प्रत्येक रीति में हल्दी लगती है और वर-वधू, ननद-ननदोई, सलहजें, समधी -समधिन, घराती -बराती ही नहीं, विवाह का सारा वातावरण ही हल्दीमय हो जाता है।

हल्दी अपने औषधीय गुणों के साथ ही खाद्य सामग्री में प्रयुक्त होने के कारण प्रत्येक घरों में सहज सुलभ होती है। स्वास्थ्यवर्द्धक होने के साथ ही सौंदर्य के घरेलू प्रसाधन में भी इसका उपयोग किया जाता है। उबटन में हल्दी मिलाने से त्वचा में निखार आता है और कांति भी। इसीलिये विवाह में वर-वधू को हल्दी चढ़ाना शुभ माना जाता है और लगुन के बाद से हल्दी मिला उबटन द्वारचार तक करने

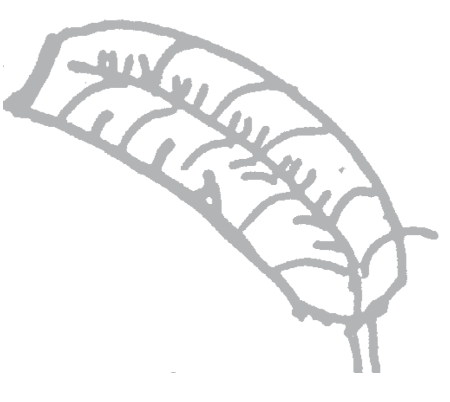

की प्रथा है। विवाह में हल्दी वर–वधू के पारस्परिक प्रेम, वधू के अखण्ड सुहाग का मांगलिक प्रतीक है। पीला रंग ज्योति का द्योतक होता है। इसका मन–मस्तिष्क पर सीधा प्रभाव पड़ता है और मन अध्यात्म की ओर उन्मुख हो जाता है। हल्दी का पीला रंग वर–वधू को दाम्पत्य सुख भोगते हुए अध्यात्म की ओर उन्मुख होने को प्रेरित करता है। भारतीय संस्कृति में धर्मार्थ कार्य करते हुए काम सुख को भोगना श्रेयस्कर समझा गया है। हल्दी को सोने का प्रतीक भी माना गया है। इस प्रकार विवाह में हल्दी वर–वधू पर सुख–सौभाग्य, समृद्धि, सौंदर्य, प्रेम की रसवर्षा करने वाली एवं आध्यात्मिक, शान्तिदायक, पवित्र भावनाओं से सन्निहित सम्प्रेषित करने वाली एक अद्भुत मांगलिक प्रतीक है, जो बुंदेली जनजीवन में ऐसी घुल मिल गयी है कि उसको निष्कासित करना सम्भव नहीं है।

पीले चावल – पूजा में चावल अक्षत के रूप में जाना जाता है। यह शुद्धता, धवलता के साथ ही चाँदी का प्रतीक है। बुन्देलखण्ड में सभी प्रकार के तीज त्योहारों व धार्मिक–अनुष्ठानों की पूजा में चावल लगते हैं। किन्तु विवाह के अवसर पर हल्दी रंगे पीले चावलों का प्रयोग मांगलिक माना जाता है, जो वधू के अखण्ड सुहाग के प्रतीक होते हैं। विवाह तय हो जाने के कन्या पक्ष से आने वाले सुतकरा में पीले चावल व सवा रुपया आदि रखे जाते हैं। लगुन अर्थात् लग्न पत्रिका के बाद स्त्रियाँ एक पत्तल में पीले चावल, पापड़ पपरिया रखकर सारे देवी–देवताओं, पुरखों का नाम लेकर विवाह में आने के लिए न्यौता देती हैं। कलश के नीचे चावल रखे जाते हैं। निमंत्रणपत्र में हल्दी के साथ पीले चावल भी रखे जाते हैं।

तेल – हल्दी की रस्म के बाद लड़के के माथे पर हल्दी – रोरी से खौर[12] निकालकर उस पर चावल चिपकाये जाते हैं। वे चावल लड़के की माँ पोंछकर अपनी साड़ी के आँचल के छोर में बाँध लेती है और जब विनायकी फिरती है, तब दूल्हे पर इन चावलों को फेंकती है। खौर लड़की को भी काढ़ी जाती है। लड़की अपनी खौर के चावल टीका के पूर्व वर पर फेंकती है। वर की दीर्घायु की मंगलकामना से खौर के चावल माँ एवं वधू वर पर फेंकती है। निकासी के बाद कुम्हार के यहाँ से आयी मिट्टी की चार मलियों में चावल और पैसे रखकर एक के ऊपर एक दो मलियाँ दोनों ओर रख दी जाती हैं, जिन्हें दूल्हा कुचलता हुआ चला जाता है। सप्तपदी में कन्या के आगे पण्डित सात चावल की ढेरी रखता है और एक–एक ढेरी पर कन्या के पैर रखवाकर मंत्र पढ़ता जाता है। ये समृद्धिमय मंगलकामना के प्रतीक हैं, कि वर–वधू का घर, उसके खेत–खलिहान धान्य से इतने भरे रहें कि उन पर पैर रखकर चलना पड़े। उनका घर धन–धान्य से सदैव भरा रहे। बुन्देली के कुछ समुदायों में पहिली भाँवर पीपल से पड़ती है। पीपल की भाँवर के लिये लड़की को बरई[13] में बिठाकर उसके चारों ओर लाल रंग की रैनी लपेटी जाती है। लड़की की बरई में गिदौरा गणेशजी (शक्कर के गणेश) तथा दोना में चावल रख दिये जाते है। लड़की घर से विघ्नविनाशक गणेशजी पर एक–एक चावल चढ़ाती हुई पीपल के पेड़ तक जाती है। वर घोड़े पर जाता है पीपल के पेड़ के नीचे वर–वधू की एक भाँवर पड़ती है। लौटते हुए भी लड़की गिदौरा गणेशजी पर अपने होने वाले पति की दीर्घायु की कामना करती हुई एक–एक चावल चढ़ाती हुई घर वापस आती है। मण्डप के नीचे कन्यादान के पूर्व पण्डित चावल अथवा पीली सरसों पर एवं कन्यादान कर्ता से स्पर्श करवाकर सभी दिशाओं में छिड़क देता है। इसे रक्षाविधान कहते हैं जो सभी प्रकार की बाधाओं से रक्षा का प्रतीक है। कन्या पक्ष वालों के यहाँ वधू की विदाई के बाद मण्डप अक्षत करने की रीति है। इसमें वरपक्ष का बुजुर्ग मण्डप पर अक्षत फेंकता है, जो मण्डप का विसर्जन का प्रतीक होता है। इसमें कन्यापक्ष वालों के लिये मंगलकामना भी निहित रहती है।

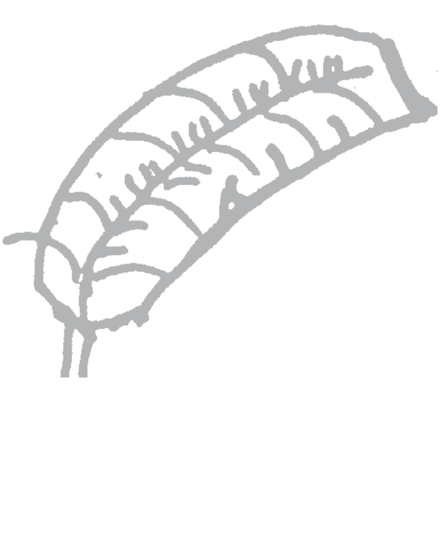

धान – विवाह में भाँवर के पूर्व धान बुआई का नेग होता है। धान की पौध एक स्थान से उखाड़कर दूसरे स्थान पर लगायी जाती है, तभी वह बढ़ती पकती है। इसी प्रकार कन्या भी एक घर से दूसरे परिवार में जाती है। मायके में वह जन्म लेती है और ससुराल में फूलती–फलती है। उसका मृत्यु पर्यन्त पूरा जीवन ससुराल में ही व्यतीत होता है। धान समृद्धि सम्पन्नता का प्रतीक

भी है। इसलिये शादी में मड़वा के नीचे भाई-भाभी के द्वारा धान बोने की प्रथा है। इसमें भाई यह भी कामना करता है कि उसकी बहिन का घर हमेशा धन-धान्य से भरा रहे। उसे खाने-पीने की कभी कमी न हो और झारी से दूध डाल कर भाभी यह कामना करती है कि उसकी ननद संतानवती हो, उसके आँगन में दूध पीने वाले बालक सदा खेलते रहें। विवाहगीत की निम्न पंक्तियों में यही मंगल कामना दिग्दर्शित है-

धान जो बइयो मेरे राजा से वीर।
भाभी के हाथन दूध की झारी
भैया के हाथन धान के दोना।

धान बऔ वीरन धान बऔ।
तूमरी बहिन धनवंती होय।
दूध सींचो भौजी दूध सींचो।
ननंद पुतवंती होय।

खील - खील धन-धान से भरे सुखी पारिवारिक जीवन का प्रतीक है। इसी मंगलकामना से निकासी के समय वर की माँ उस पर अछत के साथ खीलें, रोटी की जोटें फेंकती हैं, जिसे बसारे ले जाता है। खील को संस्कृत में लाजा कहते हैं। भाँउर के पूर्व लाजा होम होता है। लाजा होम में भाई अपनी बहिन के हाथ में एक मुट्ठी खील रखता है। उसके तीन भाग करके पण्डित अग्नि में छुड़वाते हैं। इस आहुति से कन्या - अग्नि की साक्षी में अपने पति की दीर्घ आयु की एवं अपने कुल की वृद्धि की कामना करती है। तीन आहुति के बाद वर-वधू का दाहिना हाथ पकड़कर कहता है- तुम हमारी आज से सहयोगिनी हुई, हम-तुम मिलकर अच्छी सन्तति उत्पन्न करेंगे। सदाचार, सच्चरित्र जीवन व्यतीत करेंगे। इस तरह से सत्कर्म करते हुए हम और तुम सौ साल तक जियें। इसके बाद कन्या पत्थर पर अपने पैर रखती है, जो इस बात का प्रतीक है कि जिस प्रकार से यह पत्थर अचल है, इसी प्रकार से मैं आपके साथ में सहयोगिनी के रूप में अचल या स्थिर रहूँगी। इस प्रकार लाजाहोम में दाम्पत्य जीवन का समाज के स्वस्थ संरचना में सहायक कल्याणपरक जीवनमूल्य सूत्र समाया हुआ है। विवाह के सभी प्रतीकों के मूल में यही सामाजिक चिन्तन मिलता है।

सिन्दूर - सिन्दूर स्त्रियों के सुहाग का मांगलिक चिन्ह है, जिसे सुहागवती स्त्रियाँ अपनी मांग में भरती हैं। सिंदूर में कामवासना को भी संतुलित करने का गुण है। सिंदूर मस्तक में ऐसे स्थान पर लगाया जाता है, जो कामोत्तेजना को मर्यादित करने में सहायक होता है। बुन्देलखण्ड में वधू भाँउर के पहिले मांग में सिंदूर भरवाने धोबी और कुम्हार के यहाँ जाती है। इसे सुहाग लेना कहते हैं। पहला सुहाग धोबिन देती है। सिंदूर वर पक्ष के यहाँ से आता है। धोबिन अपने यहाँ चौक पूरती है। उस पर लड़की को बैठाती है और वर के यहाँ से आये सिंदूर को लड़की की माँग में भरती है। कुम्हार के यहाँ चौक पूरकर चाक पर लड़की को बिठाया जाता है। वह सात बार चाक पर बैठी लड़की को घुमाता है, और फिर सिंदूर से लड़की की मांग भरता है। यहाँ धोबी वधू के अंत:करण के रागद्वेषादि के मैल को साफ कर चित्त को निर्मल बना देने का प्रतीक है। कुम्हार विश्वकर्मा का और चाक जीवन चक्र का प्रतीक है, अर्थात् वर पक्ष वाले गार्हस्थ्य जीवन में प्रवेश करने वाली अपनी वधू की ऐसी निर्मिति की कामना करते हैं, जो तन-मन से सुंदर हो, परिवार में सबका ध्यान रखने वाली हो एवं सुख-दु:ख के सांसारिक चक्रों से भी धैर्यपूर्वक निजात पाने में सक्षम हो। विवाह गीतों में भी सुहाग लेने और वर के द्वारा भरे जाने वाले गीत प्रचलित हैं। गीतों की निम्न पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं, यथा -

बेटी ठाड़ी किवाड़ की ओट सुहाग दें रई पार्वती।
× × × ×
अम्मर सिंदूर मँगाओ मोरे बाबुल।
पिया से भराओ मोरी माँग हो अम्मा।

पान - पान गुणकारी होने के कारण पूजनीय और भारतीय संस्कृति के मांगलिक प्रतीक हैं। पान खाने में स्वादिष्ट एवं मुँह की दुर्गन्ध दूर करने वाला, घावों को ठीक करने वाला कृमिनाशक भी है। धार्मिक अनुष्ठानों में

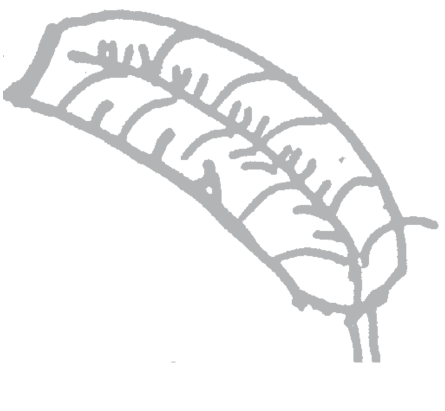

आराध्यदेव को धूप, दीप और नैवेद्य के साथ ताम्बूल चढ़ाया जाता है। पान सम्मान, सौहार्द्र, प्रेम और श्रृँगार का प्राचीन प्रतीक है। श्रृँगार और विलास क्रीड़ा में भी पान की विशेष भूमिका मानी जाती हैं। वात्स्यायन के कामसूत्र और कालिदास के रघुवंश में पान के बीड़ों का उल्लेख मिलता है। पान का बीड़ा चबाने पर होंठ रच जाते हैं, इसलिए पहले स्त्रियाँ श्रृँगार कर होंठ रचने के लिए पान खाती थीं, पर अब उसका स्थान लिपिस्टिक ने ले लिया है। पान देना स्वागत व सम्मान का प्रतीक है।

बुन्देलखण्ड में वैवाहिक पूजन एवं विधान में मांगलिक प्रतीक के रूप में पान की भूमिका लड़के-लड़की का विवाह संबंध तय करने से लेकर विवाह की समाप्ति तक समाविष्ट है। लड़के-लड़की का संबंध तक हो जाने पर पान खिलाये जाते हैं, यह इस बात का सूचक होता है कि अब आपकी लड़की से हमारे लड़के का विवाह करना पक्का हो गया है। पहले बुन्देलखण्ड में लड़की पक्ष से नाई ही विवाह तय करने जाता था। अत: पान का बीड़ा नाई को दिया जाता था। विवाह के अवसर पर गाये जाने वाले एक गीत में जब भाई विदा के बाद अपनी बहिन को ससुराल जाने से रोकता है, तब बहिन कहती है -

नउआ ने खाये लौंजी पान निभाउन हम चले।

अर्थात् हे भाई! नाई पान खाकर हमारा विवाह संबंध पक्का कर आया है। उसके वचन का निर्वाह करने के लिये हमें जाना ही पड़ेगा। लगुन लेकर आये कन्या के भाई को पान देकर मान दिया जाता है। वैवाहिक पूजन में वर-वधू को पान पर जल लेकर आचमन कराया जाता है। कन्यादान के समय पान पर ही पैसा, सुपाड़ी के साथ कुश की पैंती रखी जाती है। वर के 'दुपट्टा' में सुपाड़ी और पैसे के साथ पान रखा जाता है। वर पक्ष के समधी मड़वा के नीचे भोजन करने आने पर नाई से नारियल के साथ एवं बीड़ा लगाने की सामग्री सहित भिजवाते हैं। विवाह में वधू को सिंदूर के अतिरिक्त पान के बीड़े द्वारा भी सुहाग देने की प्रथा है,[14] उदाहरणत:

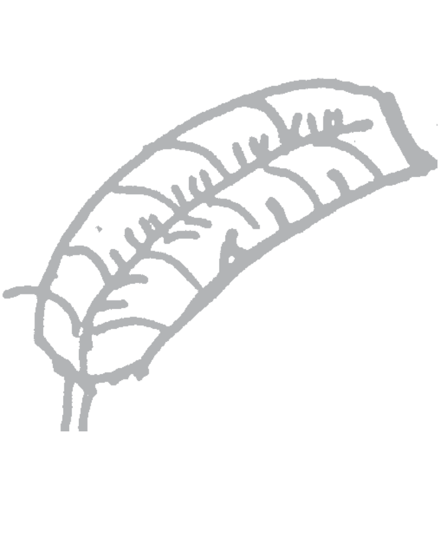

हम वर पाय जैसे मानिक हीरा।
मानिक हीरा जैसें जरद नगीना।
हँसत खेलत बेटी आजुल घर आई।
सो देऔ मेरी आजी सुहाग कौ वीरा।
चन्द्रवदन आजी मुसकानी।
सो लऔ मोरी बेटी सुहाग कौ वीरा । हम वर.

सुहागरात के दिन भी वर-वधू के कक्ष में मिठाई के साथ पान रखा जाता है। इस प्रकार कोमलतम, कमनीय नववधू के सुहाग का मांगलिक प्रतीक पान बुन्देलखण्ड में लड़के-लड़की का विवाह संबंध तय करने से लेकर विवाह की समाप्ति तक समाविष्ट है।

सुपाड़ी - पूजा में सुपाड़ी के गणेश बनाये जाते हैं, अत: विवाह के सभी रस्मों के पूजन में सुपाड़ी अपरिहार्य होती है। लड़की के यहाँ से आयी लग्न पत्रिका 'लगुन' में हल्दी की गांठे व पीले चावल के साथ सुपाड़ी भी रखी जाती है। लगुन कलश में सात सुपाड़ी[15] डाली जाती है। इस संबंध में विवाह गीत की निम्न पंक्तियाँ उद्धृत हैं-

कंचन कलस न पूजें राजा बाबुल
मिट्टी के कलस धराओ
सात सुपाड़ी हरदी की गांठें
रूप रुपैया डराओ राजा बाबुल

बारात में आमंत्रित करने के लिए हल्दी की गांठ के साथ सुपाड़ी भी दी जाती है। विघ्नों, बाधाओं से रक्षा करने के लिए दूल्हे के पनरथ में पान के साथ सुपाड़ी पैसा बाँधकर गले में पहिनायी जाती है। वधू की विदा में उसकी चुनरी के आँचल के छोर में चावल के साथ सुपाड़ी भी बाँध दी जाती है। कन्यादान लेने वाला पटली पर एक टका और सुपाड़ी रखता है। बराती जब मड़वा के नीचे जीमने आते हैं, तब वर पक्ष के समधी की ओर से नाई के द्वारा वधू के घर के अंदर एक थाली में बताशा, पान, कत्था, सुपाड़ी, लौंग, इलायची भिजवाया जाता है, जो इस बात का सूचक है कि बराती अब मड़वा के नीचे भोजन करने के लिए

आ गये हैं। जेवनार के समय कन्या पक्ष की स्त्रियाँ समधियों के लिये गारी गीत गाती हैं, उनका भी सम्मान सूचक नेग है। सुपाड़ी के नये पत्ते व जड़ दवा का काम देते हैं। 'इसके फल को जला कर दाँत का मंजन बनता है। इसकी लकड़ी से धनुष तथा बरछी के मठा[16] बनाते हैं। खाने के बाद सुपाड़ी का प्रयोग किया जाता है, अत: यह सभी घरों में उपलब्ध रहती है।

नारियल – संस्कृत में इसे श्रीफल कहते हैं। अति प्राचीनकाल से नारियल पवित्र सांस्कृतिक प्रतीक रहा है। इसका मुख्य कारण यह है कि यह हमारे लिये उपकारी है, इसके अनेक उपयोग हैं। यह खाने के काम तो आता ही है। इसका पानी भी फायदेमंद होता है। नारियल अपने औषधीय और व्यावसायिक गुणों से मंगल प्रतीक के रूप में प्रतिष्ठित और पूजनीय हो गया है। नारियल ऊपर से कठोर होता है, पर इसके भीतर कोमल गुदा और शीतल जल भरा होता है। संस्कृत में एक नीति श्लोक में लिखा है –

नारिकेलसमाकारा: दृश्यन्ते हि सुहृज्जना:।
अन्ये बदरिकाकारा: बहिरेव मनोहरा:।।

अर्थात् अच्छे दिलवाले पुरुष का स्वरूप नारियल जैसा होता है– 'ऊपर से कड़ा भीतर से कोमल।'[17] कहना न होगा कि कन्या ऐसे ही कठोर दुर्धर्ष पुरुष एवं कोमल भावनाओं से युक्त मानवीय संवेदना वाले वर की आकांक्षा करती है। अतएव यह विवाह का मांगलिक प्रतीक बन गया है। यह सभी देवताओं का प्रतीक माना गया है और सभी तरह के धार्मिक अनुष्ठानों में इसकी पूजा होती है। विवाह के अवसर पर लगुन में रखा नारियल शास्त्रों के अनुसार साक्षात् श्रीगणेश स्वरूप होता है। गणेश स्वरूप होने के कारण नारियल विवाह कार्यों में आने वाली विघ्न- बाधाओं को दूर करने वाला तो माना जाता है, यह सुहाग का रक्षक, सम्मान व आशीर्वाद का सूचक एवं सन्तानोत्पत्ति का प्रतीक है।

तिलक के अवसर पर वर के हाथों में रुपया-सुपाड़ी के साथ नारियल भी दिया जाता है। लगुन के अवसर पर आमंत्रित पुरुषों को एवं लगुन लेकर आये लड़की के भाइयों को नारियल देने में सम्मान की भावना ही निहित है। दूल्हा निकासी पर दूल्हे की माँ अपने पुत्र पर आँचल डालकर टीका कर रुपया और नारियल देती है। द्वारचार पर कन्या पक्ष वाले वर का टीका कर नारियल देते हैं। चढ़ावे के बाद ससुर या वर पक्ष का बुजुर्ग लड़की की झोली में नारियल-बताशा डालता है। सप्तपदी के सात या पाँच वचन के बाद वर के पिता या मामा कन्या की गोद नारियल, बताशा, मेवा आदि से भरता है। पाँव पखरई में पाँव पखारने वाले को वरपक्ष की ओर से नारियल दिया जाता है जिसका स्थान अब अन्य बर्तन आदि वस्तुओं ने ले लिया है। देहरी लीपने के लिए लोआ नारियल वधूपक्ष वाले देते हैं। समधी अपनी बहू के परिवार वालों की श्रीवृद्धि की कामना करता हुआ छह बार नारियल ढरकाता है, सातवीं बार वह नारियल वधू की माँ की गोदी में चला जाता है जो सातों सुख अर्थात् सभी प्रकार के सुख-सुविधाओं का द्योतक होता है।

आम – आयुर्वेदिक ग्रंथ चरक संहिता में आम के अनेक औषधीय गुण बताये गये हैं। यह अपने मधुर स्वाद, सघन शीतल छाया, प्रणय की भावना को उद्दीप्त करने वाली मादक गंध, सौंदर्य सूचक, स्वास्थ्यप्रद एवं औषधीय आदि अनेक खूबियों के कारण भारत के आर्थिक सामाजिक और साहित्यिक परिवेश का एक अभिन्न अंग बन गया है। भारतीय संस्कृति में सौभाग्य, श्रीसम्पन्नता का मंगल चिह्न आम का फल और पत्र दोनों ही समृद्धि ओर पवित्रता के प्रतीक हैं और मंजरी कामदेवी की प्रतीक। कविप्रसिद्धि है कि सुंदरियों के मुँह से हवा पाकर आम का वृक्ष कुसुमित होता है। विवाह जैसे उत्सवों के अवसरों पर आम पत्रों का 'वन्दनवार' बनाकर द्वार पर, माय-मैर के कोठे के द्वार पर लगाया जाता है जो सज्जा के साथ ही पूरे घर की रक्षा का प्रतीक है। विवाह के अवसर पर द्वार पर रखे जाने वाले मिट्टी के कलश में आम के पत्ते डालना पवित्र माना जाता है और इसके पत्तों से विवाह का मण्डप छाया जाता है। मण्डप के बीच में जो हरिस होती है, वह भी आम की लकड़ी की बनी होती है। इसकी हरी लकड़ी की पटली बनायी जाती है। विवाह में वर-वधू इसी पटली पर बैठकर वैवाहिक विधि-विधान को सम्पन्न करते हैं। कन्यादान के समय आम के पत्ते को

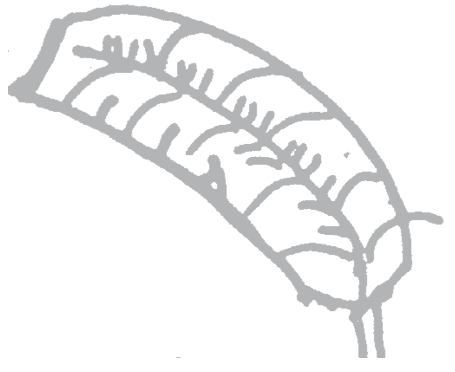

दूल्हे के मुँह से छुवाकर नीचे डाल दिया जाता है और फिर आचमन कराया जाता है। इसमें जीवन को रसमय, फलयुक्त कर परिपूर्ण बनाने की आकांक्षा मूर्त रूप लेती है। लोकगीतों में भी आम गूंजित है।[18]

दूब – विवाह में दूब बहुत ही मांगलिक मानी जाती है। बहुत फैलने वाले पुत्र –पौत्रों से भरे परिवार की उपमा दूब के नालों से दी जाती है। प्ररोहण और प्रजनन का घनिष्ठ संबंध दूब के साथ पाया जाता है। आयुर्वेद में दूब के सूंघने से गर्भ नहीं गिरता। बुन्देलखण्ड में प्रथम बार गर्भवती वधू की सादे के चोक में दो गूजे बनाये जाते हैं, एक गूजे में दूब रखी जाती है, दूसरे गूजे में चावल रखते हैं। चौक में वधू से उनमें से एक गूजा तोड़ने के लिये कहा जाता है। यदि गूजे में दूब निकलती है, तो वह पुत्र जन्म की सूचक होती है।

बुन्देलखण्ड में पुत्र जन्म की सूचना दूब भेंटकर देनी की प्रथा है। इसी दूब भेंट की प्रथा के कारण ओरछा के राजा वीरसिंह देव बुंदेला की दो रानियों से एक ही घड़ी में जन्मे जुझारसिंह हरदौल से ज्येष्ठ हो गये थे।[19]

उत्तरप्रदेश में भाद्र शुक्ल अष्टमी तिथि को दूर्वाष्टमी या दूबरी आठें का त्योहार मनाया जाता है। दूर्वाष्टमी की पूजा में स्पष्ट ही प्ररोहण और उत्पादन का घनिष्ठ संबंध दूब के साथ पाया जाता है। इस समय चारों ओर खेतों और पहाड़ों पर हरियाली छायी रहती है। पृथ्वी मेघों के वरदान से सिंचित होकर गर्भधारण करती है। धरती माता के अवन्ध्य भाव के साथ तन्मय होने के लिये मानो दूबरी आठे का उत्सव मनाया जाता है।[20] बुन्देलखण्ड में इसे गड़ा लेनी आठे कहते हैं।[21]

सभी मांगलिक कार्यों में इसका उपयोग निश्चित रूप से किया जाता है, पर विवाह का यह खासतौर से श्रेष्ठ मांगलिक प्रतीक है। कुश के अभाव में देवताओं का आसन इसी घास से बनाया जाता है। विवाह करने के लिये जाने

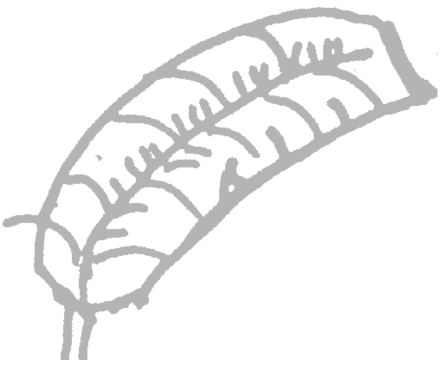

वाले वर की धोती में अक्षत् हल्दी और रुपया के साथ दूब बाँधना शुभ माना जाता है। गहोई बनियों में वर–वधू की अनिष्ट से रक्षा करने की मंगल कामना से मड़वा के नीचे भाँवर पड़ने के पूर्व दूब से भाँवर पड़वाने की प्रथा है, जिसे दूब की भाँवर कहते हैं। इसी प्रकार विवाह के पश्चात् ससुराल जाने वाली वधू के आँचल के छोर में चावल, हल्दी के साथ दूब भी बाँध दी जाती है। दूब सदा हरी रहती है। ऐसा कहा जाता है कि भगवान् विष्णु ने अमृत का घड़ा एक स्थान पर रख दिया था। कौवे ने आकर उसे पी लिया और उसका कुछ अंश जमीन पर गिरा दिया, जो दूब पर पड़ गया। इसलिये यह कभी नष्ट नहीं होती है और सभी ऋतुओं में हरी–भरी बनी रहती है।[22] दूब की भाँति ही वर–वधू का दाम्पत्य जीवन भी सदैव हरा भरा और उसका परिवार पुत्र–पौत्रों तथा सुख समृद्धि से भरा रहे। वर की धोती तथा वधू की साड़ी के आँचल के छोर में दूब बाँधने, दूब की भाँवरे पड़ने एवं विवाह के अन्य पूजन के समय दूब का उपयोग किये जाने में यही मंगल कामना निहित रहती है।

कुँए पर उगी दूब अधिक पवित्र मानी जाती है। इसका कारण जनजीवन में कुँए की उपयोगिता के साथ यह मंगल कामना भी है कि जैसे कुँए से जितना अधिक पानी खिंचता है, उसकी झिरें उतनी ही अधिक फूटती हैं और वह सदैव जल से भरा रहता है। वैसे ही शिशु द्वारा प्रसूता के स्तन चूसने पर वे भी दूध से लबालब भर जाएँ[23] और उसके संतान के जीवन में भी सदैव जल जैसी शीतलता तथा दूब सी हरियाली बनी रहे।

विवाह में कोमल नन्ही दूब सुकुमार, कमनीय नारी की दुर्धर्ष जीवटता की भी प्रतीक है। तीव्र अंधड़ आने पर जहाँ शक्तिशाली वृक्ष धराशायी हो जाते हैं, वहीं अत्यन्त नन्ही सी दूब अन्धड़ को झेल कर गर्व से तनकर फिर खड़ी हो जाती है। इसी तरह पुरुषों की अपेक्षा कमजोर दिखने वाली नारी में विपत्तियों को झेलने की स्थिति के अनुसार घर–गृहस्थी को चलाने की अद्‌भुत जीवटता व क्षमता होती है। दूब नारी की इसी जीवटता का प्रतीक है। बुन्देलखण्ड के हिन्दू परिवारों में तुलसी की तरह ही घर में दूब लगाना शुभ माना जाता है।

कुश – वैदिक ऋषियों ने मांगलिक प्रसंगों पर कुश की महत्ता को स्वीकार किया है और इसके व्यवहारिक गुण–धर्म को रेखांकित किया है। आयुर्वेद में कुश रोगों को हरने वाली ओर

संकटों को दूर करने वाली घास बतायी गयी है। कीटनाशक होने के कारण इसे घर में रखना शुभ माना जाता है। कुशोत्पाटनी एकादशी के दिन इसे उखाड़ कर रखने का बड़ा माहात्म्य है। कुश की पवित्रता के कारण इसका उपयोग सभी मांगलिक कार्यों में होता है। पूजा के सभी अवसरों पर कुश की पवित्री यजमान के द्वारा पहनी जाती है तथा कुश के टुकड़ों से प्रतिमा पर जल छिड़का जाता है। विवाह में वेदी के ऊपर कुश बिछाया जाता है, जिस पर पूजन का कार्य होता है। विवाह में द्वारचार के समय वर का स्वागत कुश अर्पण करके ही किया जाता है। अब इसका स्थान फूल मालाओं ने ले लिया है। कन्यादान के समय व एक हाथ में कुश की एक पैंती पहनता है और कन्यादान करने वाला यजमान दोनों हाथों दो पैंती पहिनता है। मधुपर्क की रस्म के बाद कन्यादान कर्ता कुश की डार लेकर पृथ्वी पर खड़ी करता है और उसमें से वर डाल को तोड़कर फेंक देता है। यह एक प्रकार से धनुष तोड़ने का प्रतीक माना गया है। विवाह के अवसर पर गाये जाने वाले गीत में कन्यादान के लिये कुश की डार वर्णित है, यथा -

हाथ में लै ले बाबुल ज भरी लुटिया,
बगल में कुश की डार को रम्मा।
गोद में ले लो बाबुल कन्या कुँआरी सो,
साजन मिलन ऐसे होय हो रम्मा।।

पूजा में कुश की बनी आसनी पर बैठने का विधान है। कुशासन त्याग तपस्या का प्रतीक है। श्रीमद्‌भागवत के अनुसार सब सम्पत्तियों से भरपूर यज्ञस्वरूपी वराह भगवान् के कम्पन से शरीर से जो रोम गिरे, वे ही हरे -भरे कुश-कॉस हो गये। ऋषियों ने उनको हाथ में धारण या विरोधियों को मार गिराया और अपना अनुष्ठान पूरा किया। इस प्रकार कुश विघ्नकारी तत्त्वों का विनाशक भी माना जाता है। कुश की नोक बहुत तेज होती है, इसी से कुशाग्र बुद्धि का मुहावरा प्रचलित हुआ। परिवार के संचालन में विवेकयुक्त कुशाग्रबुद्धि, त्याग व तपस्या जैसी महत्त्वपूर्ण भूमिका होने के कारण विघ्नविनाशक कुश विवाह का मांगलिक प्रतीक बन गयी है।[24]

केला - केले के एक फूल में हजारों फलियाँ एक साथ लगती हैं, इसलिए यह बहु संतानोत्पत्ति का प्रतीक माना जाता है। इसी कारण केला विवाह का मांगलिक प्रतीक बन गया है। विवाह के समय तथा अन्य मांगलिक अवसरों पर केले के वृक्षों से द्वार सजाया जाता है जो शुभ माना जाता है। विवाह का मण्डप भी केले के पत्तों से सुशोभित किया जाता है। मण्डप के मध्य में केले की एक शाखा को गाड़ देते हैं, जिसके चारों ओर वर-वधू परिक्रमा करते हैं। केले की पत्तियों तथा इसके फल का उपयोग दवा के रूप में किया जाता है। लोककथाओं, लोकगीतों में केले का उल्लेख अनेक बार हुआ है।[25] विवाह गीतों में केले का वर्णन मिलता है-

हरी बगिया हरे केला लगाये
नये साजन आये।

बाँस - अपनी अनेक प्रकार की उपयोगिता के कारण बाँस भी पवित्र माना जाता है। केले की भाँति बाँस भी अधिक संतानोत्पत्ति का प्रतीक है। यह वृक्ष प्रेतात्माओं को भगाने वाला अर्थात् अनिष्टकारी तत्त्वों को दूर करने वाला माना जाता है। बाँस की पवित्रता उसके कच्चे और हरे होने में ही है। सूखे बाँस का उपयोग धार्मिक अनुष्ठानों व संस्कारों में नहीं किया जाता। बुन्देलखण्ड के विवाह गीतों से भी इस बात की पुष्टि होती है। विवाह के मंगलमय अवसर पर मण्डप बनाने के लिए लम्बे हरे बाँस काटकर गाड़े जाते हैं-

कितें उतारों धिया अजगर खम्मा कितें हरे चोखे बांस हो रम्मा।
जाये उतारौ राजा बाबुल जू अंगना सो जिन घर बेटी कुंआरी हो रम्मा।
सुघड़ से बढ़ई बुलाओं राजा बाबुल सो रुच रुच मड़वा रम्मा।

आड़ौ छाइन माड़ौ छाइन छाइन हरे रे बांस
जिहि चढ़ देखें लड़लरी के बाबुल केती दल आवै बरात।।

कितें उतारौं धिया अजगर खम्मा कितें हरे चोखे बांस हो रम्मा।
जाये उतारौ राजा बाबुल जू के अंगना सो जिन घर बेटी कुंआरी हो रम्मा

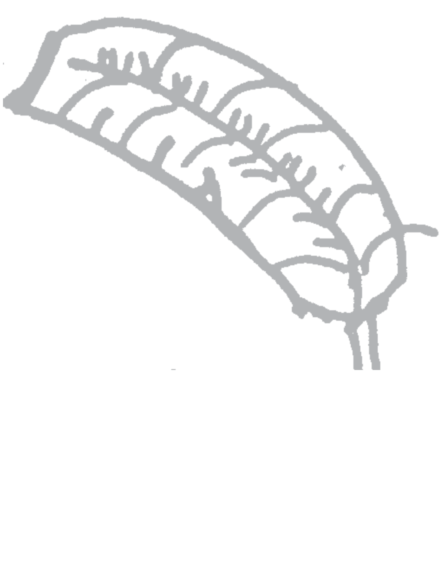

सुघड़ से बढ़ई बुलाओं राजा बाबुल सो रुच रुच मड़वा बनाओं हो रम्मा।।

हरे बांस मण्डप छाये सियाजू कों राम ब्याहन आये।

बुन्देलखण्ड में विवाह के अवसर पर सर्वप्रथम बुआ, ननद आदि मानदान सुहागिन स्त्रियों से हरे बाँस की डलिया के साथ ससुराल से विदा करायी जाती है। उसके बाद ही लगुन आदि विवाह के नेगचार शुरु होते हैं। बहू की विदा में भी हरे बाँस की डलिया रखते हैं, जिसमें पूड़ी-गुजिया आदि पकवान होते हैं।

सियाजू की डलिया खूब सजइयौ,
हरे बांस की डलिया मगइयौ हरदी से टिकवइयौ।

लड़के की विनायकी के बाद आरता करने के लिये सूप सजता है।[26] व धान बुआई की रस्म के लिये सूप में धान रखा जाता है, वह भी हरे बाँस का ही होता है। द्वारचार के बाद दूल्हा एक बाँस का बीजना भीतर जाकर मण्डप पर रखता है, जो मण्डप के साथ वधू पर उसके आधिपत्य का प्रतीक तो है पंखे से यह भी व्यंजित है कि वह उनकी बेटी को सभी तरह से सुखी रखेगा। आवश्यकता पड़ने पर पंखा झलकर वह उसकी सेवा शुश्रूषा भी करेगा।

सूप, डलिया, पंखा गृहस्थी के कामकाज के लिये आवश्यक होने के कारण विवाह की रस्मों के अंग बनाये गये हैं। ये बाँस के बने अधिक मजबूत टिकाऊ प्रदूषण रहित होते हैं। अत: वस्तुगत उपयोगिता के कारण बाँस विवाह का मांगलिक प्रतीक बन गया है,

इसी प्रकार मूसर व सिल-लोढ़ा भी गृहस्थी के कार्यों के लिये आवश्यक उपकरण रहे हैं। अत: विवाह की रस्मों में इन्हें भी मांगलिक माना है और मड़वे के नीचे इन्हें स्थापित कर इनका पूजन किया जाता है। निकासी के समय वर के सिर के ऊपर से मूसर बार-बार एक ओर से दूसरी ओर ले जाया जाता है, जो इस बात का प्रतीक है कि अब उसके ऊपर गृहस्थी का बोझ आने वाला है और गृहस्थी के संचालन में अब उसे इन सबकी आवश्यकता पड़ेगी। इसमें यह मंगलकामना भी निहित है। मूसर का उपयोग करने के लिए उसका घर सदैव धान्य से भरा रहे और सिल लोढ़ा गृहस्थी के संचालन में पति-पत्नी के एक दूसरे के पूरक माने जाते हैं। वर की हल्दी की रस्म भी गार्हस्थ जीवन रूपी चट्टान की सिल पर बिठाकर की जाती है। और फिर ये तो है ही कि मूसर सिल लोढ़ा से कूटने-पीसने पर शरीर का व्यायाम होता है और वह स्वस्थ रहता है।

हिन्दू वैदिक संस्कृति में गृहस्थाश्रम एवं संतान उत्पन्न करना पवित्र कार्य माना गया है। धर्माचरण करना, सम्पत्ति अर्जित करना, सांसारिक सुखों का उपभोग करना और परमानंद की प्राप्ति करना- ये चार पुरुषार्थ गृहस्थों के लिये करणीय कहे गये हैं। इनका पूर्ण सामंजस्य ही व्यष्टि से समष्टि की ओर उन्मुख करने वाला, भौतिक और आध्यात्मिक प्रगति का ठोस आधार है।

उपर्युक्त प्रतीकों का अवलोकन करने पर यह सुस्पष्ट है कि विवाह में ऐसे ही मांगलिक प्रतीकों को लिया गया है, जो नव दम्पति के सुख, समृद्धि, सौभाग्य की शुभकामनाओं से युक्त संतानोत्पत्ति कर वंश वृद्धि के सूचक, शृंगारपरक एवं प्रजननपरक तो हैं ही, पारिवारिक-सामाजिक जीवन में भी उनकी उपयोगिता है। इतना ही नहीं वे आर्थिक उपादेयता को भी रेखांकित करते हैं। भारतीय संस्कृति आत्महित और विश्वहित के सुंदर समन्वय से ओत-प्रोत तथा 'सर्वे भवन्तु सुखिन:' की भावना से आप्लावित है। कहना न होगा वैवाहिक प्रतीकों के मूल में हमें ये भावना जड़े जमाये मिलती हैं। यही वह भावना है, जिससे मनुष्य, मनुष्यत्व विस्तार पाता है।

संदर्भ

1. डॉ. सुधा गुप्ता, बुन्देली वैवाहिक गीत, पृ.7, मध्यप्रदेश आदिवासी लोककला परिषद्, भोपाल
2. डॉ. कपिल तिवारी, सुरॉती, पृ. 11, मध्यप्रदेश आदिवासी लोककला परिषद्, भोपाल
3. मोरता- मौर धारण करने वाले वर-वधू से तात्पर्य। मौर खजूर का बना मुकुट सदृश होता है, जो भांवर से पहिले वर-वधू के माथे पर बाँधा जाता है। बुन्देलखण्ड में बिना मौर के विवाह नहीं होता। हरदौल के एक गीत में मौर न बाँधने का वर्णन मिलता है, जो उनके अविवाहित होने का प्रतीक है। यथा - न तो भौजी हमने मौर धरे न लॉघी काहू की पौर।
विवाह के बाद मौर रख लिये जाते है और लड़का एवं लड़की वाले के यहाँ भादों माह में मौरछट पर मौर को नदी, तालाब पर पूजन कर सिरा दिया जाता है।
4. डॉ. सुरेन्द्र वर्मा, भारतीय कला एवं संस्कृति प्रतीक, पृ.38, हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भोपाल

5. डॉ. गोपाल मधुकर चतुर्वेदी, भारतीय चित्रकला सांस्कृतिक के पृष्ठभूमि के अंतर्गत लाक्षणिक प्रवृत्तियाँ, पृ.111-112, वासुदेवशरण अग्रवाल, भारती, 7 फरवरी 1965।
6. गणानां त्वा गणपतिं कवि कंवीनामुपश्रवस्तमम्।
ज्येष्ठराजं ब्रह्मणा ब्रह्मणस्पत आन: शृण्वन्नूतिभि: सीद सादनम्।
हिन्दू धर्मकोश, सम्पादक राजबली पाण्डेय, पृ.223, उ.प्र. हिन्दी संस्थान, लखनऊ।
7. राय गोविन्दचंद्र, सिम्बल आफ मदर गॉडेस, कल्चरल फोरम, पृ. 49, डॉ. गोपाल मधुकर चतुर्वेदी, भारतीय चित्रकला, पृ. 115
8. महेश मधुकर, सुराती, सम्पादक, डॉ. कपिल तिवारी, पृ. 142, म.प्र. आदिवासी लोककला परिषद्, भोपाल
9. डॉ. सुरेन्द्र वर्मा, भारतीय कला एवं संस्कृति के प्रतीक, पृ.23
10. सुतकरा- इसमें केवल विवाह की तिथि एवं लगुन का समय लिखा होता है।
11. पाव पखरई - बुन्देलखण्ड में भांवर के बाद वर-वधू के घर, परिवार, नाते-रिश्तदार यहाँ तक कि पास पड़ोस के स्त्री-पुरुष भी पैर पखारते हैं और सामर्थ्यानुसार रुपये आदि देते हैं। विवाह के अवसर पर राम-सीता स्वरूप वर-वधू के पैर पखारना अत्यंत पुण्य का काम माना जाता है।
12. खौर - विवाह में हल्दी -रोरी से वर-वधू के पूरे मस्तक को अलंकृत किया जाता है। बुन्देलखण्ड में इसे खौर काढ़ना कहते हैं।
13. बरई - चारों ओर लकड़ी लगाकर पटा की बनती है, जिसके चारों ओर रंग की रैनी लपेट दी जाती है।
14. हिन्दू संस्कृति में सुहागिन स्त्रियाँ ही पान का सेवन करती हैं। विधवा स्त्रियों को पान खाना वर्जित माना गया है।
15. सात सुपाड़ी- भारतीय संस्कृति में सात की संख्या शुभ मानी जाती है। पुराणों के अनुसार अनेक वस्तुओं की संख्या सात मानी गयी है। यथा सप्तसिन्धु, सप्तपर्वत, सप्तऋषि, सप्तलोक, सप्तद्वीप आदि। विवाह में सात सुपाड़ी, सात पात्र रखे जाते हैं, जो गणेश जी के आवाहन के साथ सप्तसिन्धु, सप्तऋषि, सप्तलोक व सप्तद्वीप के चर-अचर प्राणी व देवताओं के आवाहन के प्रतीक हैं। विवाह में इन सभी को वर-वधू के परिणय का साक्षी बनाया है। सप्तपदी जिसे बुन्देलखण्ड में भांउरे कहते हैं, उसमें वर-वधू अग्नि की सात परिक्रमा लगाती हैं, ये सात परिक्रमा भी इन सभी की परिक्रमा का प्रतीक है। इनकी परिक्रमा करके वे पति-पत्नी के रूप में आजीवन गठबंधन में बँधे रहने का संकल्प लेते हैं और फिर ये जीवन की खुशियों के सातों रंग, सातों सुखों के द्योतक तो हैं ही।
16. रामेश्वरप्रसाद, नारायण सिंह, पृष्ठ 54-55
17. वही, पृ. 50-53
18. यहाँ एक लोकगीत द्रष्टव्य है, जिसमें पति अपनी नवविवाहित बाल-वधु को घर में छोड़कर परदेश चला जाता है। इधर बालवधू बाल्यावस्था से किशोरावस्था में और फिर शीघ्र ही यौवनावस्था में पदार्पण कर लेती है, किन्तु फिर भी उसका प्रवासी पति वापस नहीं आता। पति के अभाव में उस प्रोषितपतिका के अछूते नवयौवन का क्या हश्र होता है? इसी का वर्णन वह अपनी सखी से आर्त स्वर में कर रही है-
बखरी में लगा गए आम, अपुन परदेसे निकर गए हो बालमा
सो मोरी सखी जब अमवां मौरन लागे
सो मोरी सखी परदेसी बिलम रये छांय। अपुन परदेसे...
सो मोरी सखी जब अमवां गाद गए
सो मोरी सखी को टोरे को खाय। अपुन...
सो मोरी सखी जब अमवां सांयन लगे
सो मोरी सखी परदेसी चौखें रस लेंय। अपुन...
यहाँ आम की पौध बाल-वधू की प्रतीक है। मौरन लागे अर्थात् बौर लगना बालवधु में यौवन प्रस्फुटित होने का प्रतीक है। गद्दर अधपके आम यहाँ किशोर वय के एवं सांय पूर्ण विकसित यौवन के बोधक हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि आम नारी के बाल्यावस्था से लेकर यौवनावस्था के क्रमिक विकास का द्योतक भी होता है।
डॉ. सुधा गुप्ता, लोक- सम्पादक- पीयूष दइया, भारतीय लोक कला मण्डल, उदयपुर 2002 ई. पृ.556, 57।
19. जुझारसिंह के जन्म की सूचना देने वाले संदेशवाहक ने संयोग से अथवा चालाकी से पहले महाराज वीरसिंह के हाथ में दूब दे दी थी। इसके बाद हरदौल के जन्म के संदेशवाहक ने दूब भेंट की। इस लोक रीति को दूब बाँधना कहते हैं। बुंदेली की वंशावली का लेखक जुझारसिंह के ज्येष्ठाधिकार का रहस्य खोलते हुए लिखता है-
जेठे लहुरे भये किहि विधि राजकुमार
कहतु प्रसंगहि पाइ सो सुनिये बुधि उदार
विवि रानी के दोइ कुमार प्रगटे एक घरी सुखसार
तिनमें भेद भयौ यह और जनमहु ते जेठे हरधौर
इनके दुबहा कीनि हानि उनके पहिलहू नृप पानि
दूब जिठाइ सिंह जुझार राजसिरी पाई तिहिवार।
बाबूलाल गोस्वामी का लेख, दूब ने बदला था हरदौल का भाग्य, दैनिक आचरण ग्वालियर जून 7, 1992
20. डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल, उत्तर भारत के दो मांगलिक उत्सव और उनकी प्राचीन परम्परा-इंदर का जग्य और दूर्वाष्टमी, लोकवार्ता, 1944, अंक 2, सम्पादक कृष्णानंद गुप्त, पृ.110।
21. संसार के सभी देशों में, जहाँ कृषि के साथ सभ्यता का विकास हुआ, दूर्वाष्टमी अथवा शक्रोत्सव जैसे उत्सव बड़ी धूमधाम से मनाये जाते रहे हैं। सस्य और वनस्पति को एक ऐसे देवता के रूप में पूजते थे, जो ग्रीष्म में तो नाश को प्राप्त होता है या कहीं चला जाता है और वसंतागमन पर पुन: पृथ्वी के गर्भ से फूट कर जन-मन को आनन्दित करता है। उसके इस पुनरागमन पर हर्ष प्रकट किया जाता था। देखें लोकवार्ता, 1944 अंक 2, सम्पादक कृष्णानंद पृ.115
22. कृष्णदेव उपाध्याय, भारतीय लोकविश्वास, पृ. 410
23. डॉ. सुधा गुप्ता, कुआँ पूजन एक जाँच पड़ताल, लोक-सम्पादक- पीयूष दइया, पृ. 547
24. धर्मकोश पृ. 140, सम्पादक- राजबली पाण्डेय
25. कृष्णदेव उपाध्याय, भारतीय लोकविश्वास, पृ. 405-6
26. सूप में बेसन, कनक, राई, नौन, गुड़, पपरिया व दीपक जला कर यह सूप नाइन विनायकी के साथ ले जाती है। लौटकर वापस आने पर लड़के का दरवाजे पर अंदर मड़वे के नीचे आरता 'आरती' होता है। सूप में से राई, नौन लड़के पर उतार कर अग्नि में डालती जाती है और रुपया लड़के को देती जाती है। यह एक प्रकार से वर की नजर उतारना है।

बुन्देली के मांगलिक प्रतीक

डॉ. (श्रीमती) गायत्री वाजपेयी

प्रत्येक जनपद की अपनी एक अलग संस्कृति होती है, जो वहाँ के लोकमानस और लोकाचरण में विनिर्मित होती है। भारत के हृदय स्थल पर अवस्ति विशाल भू-भाग बुन्देलखण्ड की भी अपनी एक विशिष्ट संस्कृति है, जिसने भारत की विशाल संस्कृति के श्रेष्ठतम अंश को आत्मसात् कर एक निजता प्राप्त की है और आज भी बाह्य प्रभावों को बखूबी अन्तर्भूत करते हुए निरन्तर गतिशील है। बुन्देलखण्ड की इस प्राचीनतम संस्कृति में मंगलमय सुखपूर्ण गृहस्थ जीवन के लिये अनेक विधि-विधान, पूजा-पाठ, व्रत-अनुष्ठान, उत्सव एवं चित्रांकन आदि की ऐसी सुदृढ़ व्यवस्था है, जिसकी जड़ें बहुत गहरी हैं। जीवन का प्रत्येक पल इनसे अनुप्राणित है। वर्ष भर यहाँ कोई न कोई उत्सव या पर्व मनाया जाता है। यही कारण है कि यहाँ का लोकजीवन हर्ष और आनन्द से आपूरित है। मानसिक उलझनों और तनावों से वह मुक्त रहता है। इस संबंध में देवीलाल सामर का यह कथन अक्षरश: सत्य है कि-'हमारे देश की संस्कृति ने अनेक मौलिक उपाय सुझाये हैं, जो शिक्षित-अशिक्षित, ग्रामीण-शहरी सभी के लिये कारगर सिद्ध हुए हैं। केवल स्वरूप और प्रकारों में अन्तर है। शिक्षित एवं शहरी लोगों की आस्थाओं ने उच्चकोटि के साहित्य-संगीत को जन्म दिया। उससे एक विशिष्ट स्थापत्य कला एवं चित्रकला का उदय हुआ। वहीं ग्राम्य जीवन में वही विश्वास इतने व्यापक न होने पर भी उनके प्रतीक मनुष्य की मौलिक अनूभुतियों के साथ जुड़कर जीवन के अंग बन गये हैं। ये प्रतीक गाँवों के चौराहों पर प्रतिष्ठित मिट्टी के, पत्थर के देवरों, दीवालों पर अंकित गोबर, गेरू, रामरज के भित्तिचित्रों में मौजूद हैं और जीवन के प्रत्येक दिन को पर्व एवं उत्सव में बदल देते हैं।'[1]

बुन्देलखण्ड की लोकसंस्कृति में विविध प्रकार के मांगलिक चिह्न चौक, दीवालों पर बनी कलाकृतियाँ, त्योहारों पर लिखे जाने वाले चित्रों का प्रचलन है, जिनके द्वारा प्रतीकात्मक अर्थ की अभिव्यक्ति होती है। प्रतीक शब्द दो शब्दों के योग से बना है- प्रति+इक। 'प्रति' का अर्थ है अपनी ओर तथा 'इक' का अर्थ है झुका हुआ। अर्थात् अव्यक्त को अपनी ओर से व्यक्त करना प्रतीक है। इसका

व्युत्पत्तिपरक अर्थ है–'प्रतीयते अनेन इति प्रतीकः' अर्थात् जिससे नवीन अर्थ की प्रतीति हो, वह प्रतीक है। प्रतीक की परिभाषा विद्वानों द्वारा विभिन्न रूपों में दी गयी है। डॉ. भगीरथ मिश्र ने प्रतीक की व्याख्या करते हुए लिखा है–'अपने रूप, गुण, कार्य या विशेषताओं के सादृश्य या प्रत्यक्षता के कारण जब कोई वस्तु या कार्य किसी अप्रस्तुत भाव, विचार, क्रियाकलाप, देश, जाति, संस्कृति आदि का प्रतिनिधित्व करता हुआ प्रकट किया जाता है, तो उसे प्रतीक कहा जाता है।'[2]

श्री परिपूर्णानन्द वर्मा के अनुसार–'प्रतीकवाद धर्म की पौराणिकता का दार्शनिक विवेचन है।'[3] एडवर्ड स्पीयर ने प्रतीक की व्यापकत्व शक्ति का संकेत करते हुए लिखा है–'प्रतीक में बड़ी व्यापक शक्ति को सङ्कुलित कर संक्षिप्त रूप दे दिया जाता है।'[4]

इस प्रकार कहा जा सकता है कि जब निराकार अदृश्य या अप्रस्तुत विषय को मूर्त या प्रस्तुत विषयवस्तु के माध्यम से प्रकट किया जाता है तो वह मूर्ति वस्तु प्रतीक होती है। बुन्देलखण्ड की लोकसंस्कृति में मंगलसूचक विविध प्रतीक प्रयुक्त होते हैं, जिनका भारतीय धर्म और संस्कृति में विशिष्ट स्थान है।

'ॐ' अ+उ+म् के संयोग से विनिर्मित प्लुत स्वर है। सभी मन्त्रों में ॐ राजा है। ऊँकार अनहद नाद है। अकार, उकार, मकार और धर्मतन्त्रता युक्त ॐ एक ऐसा अद्भुत मन्त्र है, जिसका उच्चारण प्रत्येक स्तुति, आरती एवं धार्मिक अनुष्ठान आदि में किया जाता है। भारतीय आर्ष मनीषा ने ॐ को परमब्रह्म का प्रतीक माना है। उपनिषदों में ओम् को सच्चिदानन्द कहा गया है। 'अ' को सत् 'उ' को चित् और 'म' को आनन्द का वाचक माना गया है। 'श्रीमद्भागवद् गीता' में भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है–

ओमित्येकाक्षर ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति व्यजन्देहं स याति परमां गतिम्।।[5]

अर्थात् जो पुरुष 'ॐ' इस एक अक्षररूप ब्रह्म का उच्चारण करता हुआ और उसके अर्थस्वरूप मुझ निर्गुण ब्रह्म का चिंतन करता हुआ शरीर का त्याग करता है, वह पुरुष परम गति को प्राप्त होता है।

परमेश्वर की तीन शक्तियाँ हैं– अनुंतर, इच्छा और उन्मेष। अनुतर का 'उ' इच्छा का 'इ' और उन्मेष का 'उ' में तीन वर्ण ही ॐ हैं।[6] इस 'ऊँकार' मंत्र में उन्नीस शक्तियाँ है (1) रक्षण शक्ति (2) गति शक्ति (3) कांति शक्ति (4) प्रीति शक्ति (5) तृप्ति शक्ति (6) अवगम शक्ति (7) प्रवेश अवति शक्ति (8) श्रवण शक्ति (9) स्वाम्यर्थ शक्ति (10) याचन शक्ति (11) क्रिया शक्ति (12) इच्छित अवति शक्ति (13) दीप्ति शक्ति (14) वाप्ति शक्ति (15) आलिंगन शक्ति (16) हिंसा शक्ति (17) दान शक्ति (18) भोग शक्ति (19) वृद्धि शक्ति। ॐ को ओंकार प्रणव भी कहते हैं। श्री नानकजी ने 'एक ऊँकार सति नामु' तथा महर्षि वेदव्यास ने 'मन्त्राणां प्रणवः सेतु' कहकर ॐ की महिमा का बखान किया है। सामवेद के 'संन्यास उपनिषद' में कहा गया है–

यस्तु द्वादशसाहस्रं प्रणवं जपतेऽन्वहम्।
तस्य द्वादशभिर्मासैः परम ब्रह्म प्रकाशते।।[7]

अर्थात् जो प्रणव (ॐ) का प्रतिदिन बारह हजार जप करता है, उसे बारह माह में ही परमात्मा का साक्षात्कार होता है।

बुन्देलखण्ड की लोकसंस्कृति में ॐ का प्रयोग प्रत्येक धार्मिक अनुष्ठान में किया जाता है। प्रत्येक आस्थावान व्यक्ति अपने भवन के मुख्य द्वार, पूजाघर एवं लेखन के प्रारंभ में ॐ का अंकन करते हैं। इसके अंकन व उच्चारण से ब्रह्म से साक्षात्कार एवं उसके मायाभ्रम से मुक्ति तथा सत्य को समझने की शक्ति मिलती है। मांगलिक अवसरों पर भी ॐ के अंकन की परम्परा है। बुन्देलखण्ड में उपनयन संस्कार के अवसर पर गाये जाने वाले गीत में यज्ञोपवीत के तीन धागों की प्रतीकात्मकता का उल्लेख इन पंक्तियों में हुआ है, जिसमें यज्ञोपवीत के प्रथम धागे में ॐ का वास बताया गया है–

तीन तगा को डोरा रे दमरी को सूत ये भइया।
तीन तगा को डोरा रे कैसो मजबूत सुन भइया।।
पैले तगा में ओंकार है दूजे में अगन सबूत ये भइया।
तीजो तगा में नागवास है ....।

स्वस्तिक – स्वस्तिक शब्द सु+अस्ति+क से निर्मित हुआ

है। 'सु' का अर्थ है सुन्दर, 'अस्ति' का अर्थ है या होना है और 'क' का अर्थ करने वाला है। इस प्रकार स्वस्तिक का अर्थ हुआ सुन्दर या कल्याण करने वाला। 'हलायुधकोश' में स्वस्तिक को चौबीस चिह्नों में से एक विशेष चिह्न माना गया है–

चतुर्विंशति चिह्नान्तर्गतचिह्नविशेषः।

स्वस्तिक एक चतुर्भुज मांगलिक चिह्न है, इसमें चार समकोण होते हैं। इसके मध्य में ऊर्जा का केन्द्र अर्थात् सूर्य और चार रेखाएँ विष्णु की चार भुजाओं का प्रतिनिधित्व करती हैं। स्वस्तिक की ये चार भुजाएँ मानव जीवन की चार अवस्थाओं ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास की भी प्रतीक मानी जातीं हैं। ये चारों भुजाएँ धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष रूपी चार स्थितियों की प्रतीक हैं तथा ये चार वेद ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद की भी प्रतीक हैं। स्वस्तिक की चारों भुजाएँ वर्गाकार रूप में सीधे एक चक्राकार स्थिति का निर्माण करती है और यह चक्राकार स्थिति भारतीय जीवन मूल्यों के अनुसार सतत् कर्मशील होने की प्रेरणा प्रदान करती है। इन चारों भुजाओं के आपसी चक्राकार स्थिति में पहुँचने से चार खुले प्रकोष्ठ बनते हैं, जिनमें बिन्दु स्थित रहता है। 'सिद्धान्तसार' के अनुसार–'स्वस्तिक का मध्य बिन्दु विश्व का गर्भाशय है, इसी का नाम है सत्। यह बिन्दु जब रेखाओं में फैलता है और उसका जो व्यास बनता है, वह लिंगरूप तत्त्व होता है। यह महायोनि में क्षोभ पैदा करता है, उत्पत्ति के लिये प्रेरित करता है। जब उसकी रेखा त्रिभुज का आकार धारण करती है, तब जड़ और चेतन ऐसे दो भिन्न तत्त्वों का अद्‌भुत मिश्रण होता है और उनसे रूपात्मक विश्व का उदय होता है।'[८]

यजुर्वेद में इस कल्याणसूचक स्वस्तिक का उल्लेख इस प्रकार मिलता है–'सूर्यमण्डल के चारों ओर चार विद्युत् केन्द्र हैं, जिनमें पूर्व में वृद्धश्रवा इन्द्र, पश्चिम में पूषा विश्ववेदा इन्द्र, उत्तर में तार्क्ष्य इन्द्र और दक्षिण में बृहस्पति इन्द्र हैं। इन चारों से घिरे स्थान का नाम वेदों में कल्याणवाची स्वस्तिक मण्डल माना गया है।'[९]

बुन्देलखण्ड में स्वस्तिक को सातिया कहा जाता है। शांति, समृद्धि, सौन्दर्य, सदाशयता, प्रेम, धैर्य और कल्याण के प्रतीक इस स्वस्तिक का अंकन जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से संबंधित कार्यों में किया जाता है। भवन के मुख्य द्वार पर पूजागृह में एवं नवीन वस्तु क्रय करने पर हल्दी, रोली या चन्दन से मंगल सूचक स्वस्तिक अंकित किया जाता है। 'पद्मपुराण' में कहा गया है कि–'चातुर्मास में जो स्त्रियाँ देवता की मूर्ति के सामने स्वस्तिक और अष्टदल कमल की कल्पना बनाती है या चौक पूरती हैं, उनका सुहाग अखण्ड रहता है।' बुन्देलखण्ड में मांगलिक अवसर पर गाये जाने वाले गीतों में स्वस्तिक या सातिया अंकन का उल्लेख मिलता है–

जाय जो कहियो उन वारी ननद सौ
सतिया देय धराय

धार्मिक अनुष्ठान एवं पूजापाठ के समय स्वस्तिक अंकन करते हुए स्वस्ति वाचन भी किया जाता है–

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः
स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः।।
स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु

अर्थात् अत्यन्त सम्माननीय इन्द्रदेव हमारा कल्याण करें, विश्व का ज्ञान धारण करने वाले पूषा हमारा कल्याण करें, कभी न नष्ट होने वाला पक्षधारी गरुड़ हमारा कल्याण करें और बृहस्पति देव हमारे कल्याण की पुष्टि करें।

चक्र –बुन्देलखण्ड की लोकसंस्कृति में चक्र को मांगलिक प्रतीक के रूप में स्वीकार किया गया है। धार्मिक कार्यों और मांगलिक अवसरों पर चक्र बनाना शुभ माना जाता है। जन्म एवं विवाह के समय परिवार की ज्येष्ठतम महिला के द्वारा घर के मुख्य द्वार पर एवं पूजाघर में स्वस्तिक के साथ चक्र अंकित किया जाता है। इनके अंकन हेतु गेरू का प्रयोग किया जाता है। भारतीय धर्म एवं संस्कृति में चक्र संसार का, समय का, सर्वव्यापक सत्ता का, प्रगति का, सूर्य का, अखण्डता का और धर्म का प्रतीक माना गया है। वैदिक युग में आर्यों द्वारा

यज्ञ के प्रारंभ में चक्र का उपयोग किया जाता था। वे चक्र को सूर्य का प्रतिनिधि मानते थे। सूर्य काल का प्रतीक है, क्योंकि वह चक्राकार घूमता है–

द्वादशारं न हि तज्जराय।
वर्वर्ति चक्रपरिघा मृत्सय।।

अर्थात् बारह आरों वाला यह चक्र कभी नहीं घिसता। यह आकाश मण्डल का निरंतर भ्रमण करता रहता है। सूर्य चक्राकार घूमता है और चक्र का निर्माण करता है।

महाभारत के आदिपर्व में इस कालचक्र का प्रतीकात्मक उल्लेख मिलता है। ब्रह्मवेत्ता आचार्य वेद का शिष्य उत्तुंक गुरु दक्षिणा के रूप में गुरुपत्नी के समक्ष भेंट के लिये राजा पौष्य की पत्नी के जो कुण्डल लेकर आया था, उसे बीच में ही तक्षक ने चुरा लिया था। अत: उत्तुंक तक्षक का पीछा करते हुए पाताल लोक पहुँचता है, जहाँ उसे विभिन्न प्रकार की आश्चर्यजनक वस्तुएँ दिखाई पड़ती हैं। उसमें ही उसे एक घूमता हुआ चक्र भी दिखायी देता है। यह चक्र निरन्तरता में चल रहा है, इसके भीतर तीन सौ आठ आरे हैं, चौबीस पर्व और इस चक्र को छह कुमार घुमा रहे हैं। यह सम्पूर्ण विश्व जिनका स्वरूप है, ऐसी दो युवतियाँ सदा काले और सफेद तन्तुओं को इधर–उधर चलाती रहती हैं तथा वे ही सम्पूर्ण भूतों और समस्त भुवनों का निरन्तर संचालन करती हैं। पाताल से लौटने पर उत्तुंक अपने गुरु से चक्र के संबंध में पूछता है तब गुरु उसे समझाते हुये कहते हैं–

ये ते स्त्रियौ धाता विधाता च ये च ते कृष्णा:।
सितास्तन्तवस्ते रात्र्यहनी। तदपि तच्चक्रं द्वादशारं
षड् वै कुमारा: परिवर्तयन्तितेऽपि षड् ऋतव:
द्वादशारा द्वादश मासा: संवत्सरश्चक्रम।।6।।[10]

अर्थात् वे जो दोनों स्त्रियाँ थी– वे धाता और विधाता है। जो काले और सफेद तन्तु थे, वे रात और दिन हैं। बारह अरों से युक्त चक्र को जो छह कुमार घुमा रहे थे वे छह ऋतुएँ हैं। बारह महीने ही बारह अरे हैं। संवत्सर ही वह चक्र है।

चक्र का भारतीय दर्शन में महत्त्वपूर्ण स्थान है। बौद्ध धर्म में धर्मचक्र प्रवर्तन, जैन धर्म में सिद्धचक्र, तांत्रिक साधना में श्रीचक्र, सिक्ख धर्म में विश्वविजय का प्रतीक सुरक्षाचक्र और भगवान् विष्णु का सुदर्शन चक्र तो सर्वविदित है, जो सदैव भक्तों का कल्याण करते हैं।

बिन्दु – बुन्देली लोकसंस्कृति में बिन्दु को धार्मिक प्रतीक के रूप में स्वीकार किया गया है। तीज–त्योहारों पर अंकित चित्रों में शंख, चक्र, पद्म, सूर्य एवं चन्द्र के साथ बिन्दु का अंकन किया जाता है। 'बिन्दु' सृष्टि रचना के आरंभ का प्रतीक है। शिव और शक्ति का प्रतीक भी बिन्दु को माना गया है। बुन्देली चित्रों में अंकित 'बिन्दु सृजन का केन्द्रीय प्रतीक है, वह सृष्टि का केन्द्र है। साथ ही ब्रह्मा, विष्णु और महेश की शक्तियों का लयात्मक रूप ब्रह्मा भी बिन्दु ही है। वह ब्रह्माण्ड और आकाश का प्रतीक है।'[11]

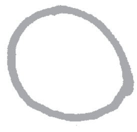

सूर्य एवं चन्द्र –सूर्य और चन्द्र की उपासना विश्व में सर्वत्र होती है। बुन्देलखण्ड में भी सूर्य एवं चन्द्र की उपासना का विशिष्ट महत्त्व है। सूर्य को शक्ति का स्रोत माना गया है। सूर्य जीवन रक्षा का प्रतीक है। सूर्य–ब्रह्मा, विष्णु एवं शिवरूप है। समस्त लोकों का अधिपति सूर्य है। सूर्योपासना से ही ब्रह्मा को ब्रह्मपद, विष्णु को विष्णुपद तथा शिव को शिवत्व प्राप्त है। इन्द्र को इन्द्रत्व की प्राप्ति भी सूर्य की उपासना से प्राप्त हुई है। बुन्देलखण्ड में 'करवा चौथ', 'भाईदोज', 'नकुल नवमी', 'हलषष्ठी' देव उठावनी एकादशी आदि के अवसर पर अंकित चित्रों में सूर्य और चन्द्र के चित्र अंकित किये जाते हैं। लोकगीतों में भी प्रतीकात्मक रूप में सूर्य और चन्द्र का उल्लेख होता है। चन्द्रमा शीतलता का प्रतीक है। परमपिता परमात्मा के मन से चन्द्रमा की उत्पत्ति हुई है, इसीलिये 'चन्द्रमा मनसो जात:' कहा गया है। सूर्य और चन्द्र जीवन की निरंतरता व शाश्वतता के प्रतीक हैं। इसी प्रतीकात्मकता के साथ लोकचित्र में इनका चित्रांकन होता है। सूर्य और चन्द्र से भ्रातृत्व भाव स्थापित करने की परम्परा भी लोक में विद्यमान है। चन्द्रमा से मामा का संबंध स्थापना भी लोकचलन में है। एक नौरता संबंधी लोकगीत में सूर्य और चन्द्र को शिवत्व का प्रतीक मानते हुए उनके परोपकारी रूप का बखान किया गया है–

लीले से घुड़ता कुँदाउत जैहें,
लाल छड़ी चमकाउत जैहें,
पाँवड़ियो चटकाउत जैहें,
सिर की पगड़ी समारत जैहें,
उखटे बाग लगाउत जैहें,
अंध कुअँल उघराउत जैहें,
फूटे ताल बधाउत जैहें,
नंगी डुकरियाँ पहिराउत जैहें,
बेई मोरे भइया
चन्दामल भइया सूरजमल भइया।

कलश – भारतीय धर्म और संस्कृति में कलश श्री, समृद्धि और जीवन की पूर्णता का प्रतीक माना जाता है। संसार के समस्त वैभव सभी देवी-देवता एवं समग्र प्राकृतिक तत्त्व कलश में निहित हैं। ऐसा माना जाता है कि कलश के पूजन मात्र से ही सभी देवों का पूजन हो जाता है। जल से आपूरित यह कलश अमृत घट का प्रतीक है, जो शान्ति और सृजन का संदेश वाहक है। डॉ. नर्मदाप्रसाद गुप्त के अनुसार–'घट में भरा जल प्राण का रस ही है और मानस पूर्ण घट है।' [12]

कलश आकार में गोल होने के कारण पृथ्वी का प्रतीक है। शास्त्रानुसार कलश के मुख में भगवान् विष्णु, कण्ठ में शिव, मूल में ब्रह्मा और मध्य भाग में मातृशक्ति का वास है। कलश की कुक्षि में समस्त सागर, सप्तदीप, वसुंधरा और चारों वेदों की स्थिति मानी गयी है। सारे तत्त्व प्राणशक्ति गायत्री आदि कलश में अन्तर्निहित हैं। इसीलिये पूजन के समय 'उदकुम्भाय नमः' मंत्र का उच्चारण करते हुए चन्दन, अक्षत, पुष्पादि से कलश की पूजा कर देवगणों का आवाहन किया जाता है–

ॐ कलशस्य मुखे विष्णुः कण्ठे रुद्रः समाश्रितः।
मूलेत्वस्य स्थितो ब्रह्मा मध्ये मातृगणाः स्मृताः।
कुक्षौ तु सागराः सर्वे सप्तद्वीपा वसुन्धरा।
ऋग्वेदोऽथ यजुर्वेदः सामवेदो ह्यथर्वणः।
अङ्गैश्च सहिताः सर्वे कलशं तु समाश्रिताः।

बुन्देलखण्ड में प्रत्येक धार्मिक अनुष्ठान मांगलिक कार्य में कलश की स्थापना की जाती है। मिट्टी एवं धातु के पात्र में जल भरकर चौक के दाहिनी ओर कलश स्थापित किया जाता है। कलश के ही निकट गौर स्थापित की जाती है। चन्दन, चावल, दूर्वा, पुष्पादि से कलश और गौर का पूजन किया जाता है। पूजन समाप्ति के पश्चात् दूसरे दिन कलश में भरा हुआ जल पूरे घर में छिड़का जाता है तथा कलश के नीचे रखा हुआ धान्य (चावल या गेहूँ) पुरोहित को दे दिया जाता है। बुन्देलखण्ड में चित्रांकित भित्तिचित्रों एवं लोकगीतों में कलश का महत्त्व रेखांकित हुआ है। एक बुन्देली लोकगीत प्रस्तुत है, जिसमें विवाह संस्कार में द्वारचार के अवसर पर कलश स्थापना का उल्लेख मिलता है–

कलश भरो दियला धरो दूल्हा टीका खों आये।

कलश दर्शन भी अत्यन्त शुभ और मंगलकारी होता है। लोकगीत की इन पंक्तियों में इसका संकेत मिलता है–

पहिल सगुन मैं नाउ दोठा देखों सो गउवा गोबर लये हाथ।
दूसर सगुन मैं कुम्हरा दोठा देखों सो कलश परिया लाय हाथ।

दीपक – दीपक ज्ञान, प्रकाश, सत्कर्म, सद्धर्म, शुभ संकल्प व सौन्दर्य का प्रतीक है। भारतीय संस्कृति में प्रत्येक धार्मिक अनुष्ठान, सांस्कृतिक एवं मांगलिक क्रियाकलापों में दीपक, प्रज्वलित किया जाता है। दीप ज्योति सदा शुभ करने वाली कल्याणदायिनी, आरोग्य, धन-सम्पत्ति प्रदात्री, शत्रु-बुद्धि विनाशक मानी गयी है। कहा जाता है कि पाप का मूल कारण अज्ञान है और उस अज्ञानांधकार को दूर करने वाला दीपक है। दीपक जीवन में ज्ञान और प्रकाश लाता है और अज्ञान का तिमिर दूर करता है। दीपक की लौ सदैव ऊर्ध्वगामी होती है, जो जीवन में आध्यात्मिक और भौतिक प्रगति का शुभ संदेश देती है। दीपक की धवल वर्तिका पवित्रता, सदाचार और शांति का प्रतीक है। दीपक में भरा हुआ नेह जहाँ प्रेम का संदेश देता है, वहीं जलती हुई धवल वर्तिका आत्मोत्सर्ग का संदेश देती हैं। कलश पर जब जलता हुआ दीपक रखा जाता है, तभी कलश की पूजा होती है। दीपक प्रायः मिट्टी या धातु का होता है, कई बार आटे का भी

दीपक बनाया जाता है। आस्थावान धर्मपरायण सनातन संस्कृति को मानने वाले प्रत्येक घर में प्रतिदिन ही दीपक प्रज्वलित किया जाता है। बुन्देलखण्ड में संध्या के समय तुलसी के आगे दीपक रखने का विधान है तथा मंगल एवं शनिवार को पीपल वृक्ष एवं शमी वृक्ष के आगे दीपक रखने से शनि पीडा का निवारण होता है। कार्तिक मास में तो दीपोत्सव मनाया जाता है। कार्तिक अमावस्या का अंधकार दीप ज्योति से विनष्ट हो जाता है। इसी दिन सौभाग्यवती महिलाएँ दीपदान भी करती हैं। यह पर्व अंधकार पर प्रकाश की विजय का प्रतीक है। कार्य का स्वरूप और उद्देश्य की दृष्टि से दीपक को अनेक नामों से संबोधित किया जाता है। किसी का सम्मान करने के लिये जो दीपक जलाया जाता है और उसके मुख मण्डल के चारों ओर घुमाया जाता है, उसे 'आरती दीप' कहते हैं। विवाह के मण्डप में जो दीप जलता है, वह 'साक्षी दीप' कहलाता है। शाम होते ही देव मंदिर में या तुलसी चौरा पर जलाये जाने वाले दीप को 'संध्या दीप', शिवालय में रात-दिन अखण्ड जलने वाले दीपक को 'नन्दा दीप' और विवाह के बाद जो दीपक रखा जाता है, उसे 'पिष्ट दीप' कहते हैं। दुर्गाष्टमी कुलदेवता पाटे की पूजा में आटे का डमरू के आकार का जो घी का दीपक जलाया जाता है, उसे 'जोत' (ज्योति) कहते है। दीप नृत्य भी होता है, जिसमें नर्तक या नर्तकी एक थाली में दीपक लेकर नाचती है। पारदर्शी कागज को बाँस की खपच्चियों के गोल या अष्टकोण आकार पर मढ़कर उसके भीतर एक दीप जलाकर ऊँचे बाँस पर लटकाया जाता है, जिसे 'आकाश दीप' कहते हैं।[13]

बुन्देलखण्ड की लोकसंस्कृति में दीपक का उल्लेख लोकचित्रों से लेकर लोकसाहित्य और लोकगीतों आदि में सर्वत्र हुआ है। ईसुरी की एक फाग प्रस्तुत है, जिसमें कवि मानव जीवन की सार्थकता हेतु धर्मरूपी दीपक को जलाने का परामर्श देते है-

दीपक दया, धरम को जारौ सदा रात उजयारौ।
धरम करें बिन करम खुलै ना, बिना कुची ज्यौ तारौ।
समझा चुके करै न रइयौ दिया तरै अंधियारौ।
कात ईसुरी सुन लो प्यारी लग जै पार निवारौ।

लोकदेवी लक्ष्मी जी के पूजन में भी आटे के दीपक बनाकर उसमें घी और फूलबत्ती रखकर दीप प्रज्वलित किया जाता है तथा सुख-समृद्धि एवं ज्ञान का प्रकाश चहुँओर आलोकित करने वाली लोकदेवी लक्ष्मी से प्रार्थना की जाती है-

एक दिया मोरे अँगना खों दै देव, दूदन भरो नहाय।
एक दिया मोरे देसा खों दै देव, जगर मगर हो जाय।।
एक दिया मोरी बैना खों दै देव, किसा कहै लै जाय।
एक दिया मोरी ननदी खों दै देव, घर-घर जोत जराय।।

बुन्देलखण्ड में दीपक को दिया कहा जाता है। इसीलिये लोकगीतों में दिया या दियला शब्द का प्रयोग मिलता है। उदाहरणार्थ लोकगीतों की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं, जिसमें दीपक का महत्त्व रेखांकित किया गया है-

सोने के दियला जरायों गोरी धन चौके आई।
चन्दन चौक पुराओं गोरी धन चौके आई।।

एक लोकगीत और प्रस्तुत है जिसमें देवाराधना के लिये सोने के दीपक, रूपा की बाती और कपूर की ज्योति का उल्लेख मिलता है-

काय को दिवलो मैया काय की बाती।
काय की लाग जगा जोत।।
सुन्ना को दिवलो मैया रूपा की बाती।
कपूर की लागी जगा जोत।।

चौक - भारतीय संस्कृति में चौक पवित्रता स्वच्छता एवं सुन्दरता का प्रतीक है। सभी मांगलिक कार्यों, धार्मिक अनुष्ठानों, तीज-त्योहारों पर पूरे जाने वाले चौक न केवल घर-आँगन व पूजा स्थल की सौन्दर्य अभिवृद्धि करते हैं, वरन् मन को आनंदित व प्रमुदित भी करते हैं। चौक गेहूँ के आटा या चावल के आटे से वर्गाकार, गोलाकार अथवा त्रिभुजाकार आकृति में बनाकर विभिन्न रंग-बिरंगी रेखाओं से अलंकृत किया जाता है। चौक पूरकर अतिथि एवं पूजनीय देवता को आसन प्रदान करने का मनोभाव प्रकट किया जाता है। ऐसी लोकमान्यता है कि जिस स्थान पर चौक पूरा जाता है, वह स्थान पवित्र हो जाता है। अतः धार्मिक एवं मांगलिक अवसरों पर पूरे गये चौक को सौभाग्यवती महिलाओं द्वारा पूजन समाप्ति के बाद आंचल के छोर से अंचराया जाता है। चौक अचराने की इस

परम्परा के मूल में सुख, सौभाग्य और संतति की मंगलकामना है। बुन्देलखण्ड में गाये जाने वाले लोकगीतों में चौक पूरने का वर्णन विविध रूपों में मिलता है-

गइया को गोबर मंगाओं मोरी सजनी।
ढ़िग दै अंगन लिपाओं महाराज।
मुतियन चौक पुराओं मोरी सजनी।
चन्दन पटरी डराओ महाराज।
कंचन कलश धराओं मोरी सजनी।
चौमुख दियला जलाओं महाराज।

कमल - भारतीय संस्कृति में कमल सौन्दर्य, शुचिता और शक्ति का प्रतीक माना जाता है। कमल महालक्ष्मी का आसन होने के कारण पवित्र माना जाता है। कमलनाल से ही ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई है, इसीलिये कमल पुष्प सृष्टि की वृद्धि का भी सूचक है। दीपावली की पूजा में महालक्ष्मी का पूजन कमल पुष्प से ही करने का विधान है।

आम्रपत्र - आम्रपत्र सौभाग्य, पवित्रता, समृद्धि एवं मंगल का प्रतीक है। कलश के मुख पर आम्रपत्र रखकर दीपक प्रज्वलित किया जाता है। धार्मिक अनुष्ठान, मांगलिक अवसरों एवं तीज-त्योहारों पर घर के मुख द्वार एवं पूजाघर में बंदनवार बाँधा जाता है। बंदनवार बाँधना अत्यन्त शुभ एवं मंगलदायक माना जाता है। मंगल के प्रतीक इस बंदनवार का बुन्देली लोकगीतों का वर्णन मिलता है-

कहाँ लयँ जाती जो बन्दन वारो।
जो बंदनवारों कहाँ लय जाती जो बंदनवारो।।

विवाह के अवसर पर मण्डप का आच्छादन भी आम्रपत्र एवं जामुन के पत्तों से किया जाता है, जिसका उल्लेख लोकगीत की इन पंक्तियों में मिलता है-

सुगर बड़ैया चंदन मड़वा रुच-रुच के गढ़ ल्यारे रे।
रोप फफुल ने आमन जामुन के पत्तन सौ छायों रे।।

हल्दी कुमकुम - हल्दी कुमकुम श्री, समृद्धि, प्रेम एवं सौन्दर्य के प्रतीक हैं। प्रत्येक धार्मिक अनुष्ठान, मांगलिक अवसरों पर हल्दी कुमकुम का प्रयोग किया जाता है। तीज-त्योहारों या विशिष्ट अवसरों पर हल्दी और कुमकुम का ही टीका लगाया है। विवाह संस्कार में कन्यादान करते समय हल्दी से ही हाथ पीले कर पाणिग्रहण किया जाता है, जिसका उल्लेख लोकगीत की इन पंक्तियों में हुआ है-

सो बिटिया जनम जिन दइयो मोरे बाबुल।
अपनो न दइयो सजन को न लइयो।
सो हरदी से हाथ पियरे कर दइयो।
सो बिटिया जनम जिन दइयो मोरे बाबुल।

अक्षत - अक्षत मंगल एवं कल्याण के प्रतीक हैं। प्रत्येक पूजापाठ में अक्षत का उपयोग किया जाता है। आश्विन मास में खेले जाने वाले नौ दिनी अनुष्ठानपरक खेल सुअटा या नौरता के समय कुमारी कन्याओं द्वारा झिंझिया या ढिरिया घुमाते समय गाये जाने वाले गीत में अक्षत के कल्याणसूचक रूप का वर्णन इस प्रकार मिलता है-

पूंछत-पूंछत आये है नारे सुआहा कौन हिमांचल की पौर।
निकरी दुलैया रानी बाहरे नारे सुअटा बिटियन अच्छत देव।
लै अच्छत भौजी निग चली नारे सुआटा चँदने रिपटो पाँव।
चंदने रिपटी भौजी गिर परी नारे सुआटा अच्छत गये बगराय।
जितने अच्छत भौजी भौ परे नारे सुआटा तितने दुलैया तोरे पूत।
पूतन पूतन भौजी घर भरे नारे सुआटा बहुअन भरै चितसार।

गाय - भारतीय धर्म और संस्कृति में गाय का विशिष्ट महत्त्व है। उसे गौमाता कहा जाता है। तैंतीस करोड़ देवताओं का निवास गाय के अंग-प्रत्यंग में माना गया है। इसीलिये गाय का हमारी संस्कृति में पूज्य स्थान है। गाय के सींग और खुर श्री और सम्पन्नता के प्रतीक माने गये हैं। 'बृहत्पाराशरस्मृति' में उल्लेख है-

शृंगमूले स्थितो ब्रह्मा शृंगमध्ये तु केशवः।
शृंगाग्रे शंकरो विद्ययात् त्रयो देवाः प्रतिष्ठिताः।।

गाय उदारता, पवित्रता और सत्यता की प्रतीक मानी जाती

है। वात्सल्य की तो वह प्रतिमूर्ति मानी गयी है। इसीलिये माता के दूध के पश्चात् गाय के दूध को ही सबसे अधिक पुष्टिदायक मानते हैं। गाय की महत्ता इस बात से स्वत: सिद्ध है कि कोई भी मांगलिक कार्य गोमूत्र, गोबर, गोघृत, गोदुग्ध और गोदधि (पंचगव्य) के बिना पूर्ण नहीं होता है। बुन्देलखण्ड की संस्कृति में ऐसी मान्यता है कि यात्रा करते समय गाय यदि अपने वत्स को दुग्ध पान कराते दिख जाय, तो यात्रा मंगलमय होती है तथा अभीष्ट की सिद्धि भी होती है। गौवत्स द्वादशी के दिन पुत्रवती महिलाएँ गाय-बछड़े की पूजा करती हैं। गाय के सींग और खुरों का पूजन कर उसकी पूंछ का प्रक्षालन कर जलपान करती हैं। देव उठावनी एकादशी पर चावल के ऐपन या छुई मिट्टी से पूजन स्थल पर चाँद, सूरज, तराजू, चरण, खड़ाऊ, पदचिह्न के साथ-साथ गाय के खुर भी अंकित किये जाते हैं। हरा-हरा गाय का गोबर पवित्र होता है, इसीलिये हर धार्मिक अनुष्ठान और मांगलिक कार्य में चौक पूरने से पूर्व गोबर से उस स्थान को लीपा जाता है। सुरहिन गाय अपने सत्य भाषण के कारण सत्यता की प्रतीक मानी गयी है। उसका गोबर श्रेष्ठ माना गया है। इसीलिये लोकगीतों में सुरहिन गाय का गोबर मंगाने का उल्लेख मिलता है-

आज दिन सोने के महाराज।
सोने के सब दिन सोने की रात।
सुरहिन गौ को गोबर मंगाओं।
ढिग दै अँगना लिपाओं महाराज।

मछली - मछली शुभ का प्रतीक है और ईश्वर के एक अवतार 'मत्स्यावतार' का स्मरण कराती है, जिसमें ईश्वर ने मत्स्य का रूप धारण करके प्रलय के समय समस्त जीवों और बीजों को नौका की सहायता से हिमालय पर ले जाकर बचाया था, जिससे पुन: सृष्टि का क्रम प्रारंभ हुआ। बुन्देलखण्ड में दशहरे के दिन मछली का दर्शन शुभ एवं मंगल करने वाला माना जाता है। सोने, चाँदी, मिट्टी एवं किसी भी अन्य धातु की मछली घर में या पूजाघर में रखना कल्याणकारी होता है।

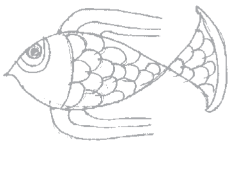

कच्छप - पौराणिक मान्यताओं के अनुसार कच्छप दीर्घायु का प्रतीक है। भारतीय धर्म एवं संस्कृति में कच्छप को शुभ एवं मंगल करने वाला माना जाता है। इसीलिये घरों में सोने, चाँदी मिट्टी या अन्य धातु के बने कच्छप रखने की परम्परा है। चीनी फैंगसुई में वास्तुदोष मिटाने एवं श्री समृद्धि के लिये मुख्य द्वार के भीतरी ओर की अलमारी में कच्छप रखने का परामर्श दिया जाता है। आस्था और विश्वास की भूमि बुन्देलखण्ड में भी श्री समृद्धि एवं दीर्घायु के प्रतीक कच्छप को घरों में रखा जाता है। कहीं-कहीं ईश्वर का एक अवतार (कूर्मावतार) होने के कारण इसकी पूजा भी जाती है।

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि बुन्देलखण्ड की संस्कृति में प्रयुक्त मांगलिक प्रतीक पुरातन हैं। हमारी धार्मिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक परम्पराओं, रीति रिवाजों, क्रिया कलापों एवं अनुष्ठानों आदि में जितना महत्त्व उनका कल था, उतना ही आज है और कल भी रहेगा।

संदर्भ

1. जवारा-25, 29 अप्रैल, 1992 पृष्ठ-108 2. भारतीय काव्यशास्त्र एवं पाश्चात्य साहित्य चिंतन : श्री सभापति मिश्र, पृष्ठ-318
3. प्रतीकशास्त्र : श्री परिपूर्णानन्द वर्मा, पृष्ठ-78 4. Edward Sapir : Article in Encyclopedia of Social Science Symbolism, Page-493
5. श्रीमद्भगवद्गीता : अध्याय 8 श्लोक 13 6. प्रतीकशास्त्र : श्री परिपूर्णानन्द वर्मा, पृष्ठ-242
7. सामवेद 'संन्यास उपनिषद' अध्याय-2 मंत्र-123 8. सिद्धान्तसार 9. यास्कीय निरुक्त, अध्याय-11 खण्ड-45
10. महाभारत, प्रथम खण्ड, आदिपर्व तृतीय अध्याय-166 पृष्ठ-5960 गीता प्रेस, गोरखपुर (उत्तरप्रदेश)
11. लोकवार्ता-शोधपत्रिका लोकचित्रों की प्रतीकात्मकता, प्रो. नर्मदाप्रसाद गुप्त, पृष्ठ-23
12. वही, पृष्ठ-26 13. बुन्देलखण्ड की संस्कृति : डॉ. परशुराम शुक्ल विरही, पृष्ठ-91

मांगलिक प्रतीक

श्रीमती अरुणा चौबे

मानव की सभ्यता के विकास के साथ भावनाओं, संवेदनाओं में निहित लोकमंगल की कामना ने वैदिक और पौराणिक पात्रों की उपासना की। ग्राम्य-जन उनकी कृपा तथा करुणा पाने के लिए घरों में, दरवाजों और भित्तियों में देवी-देवताओं के चित्र अंकित करने लगे। गणेश और अन्य देवी-देवताओं के चित्र, घड़ा लिये सौभाग्यवती नारियों के चित्र, शुचि और शुभ मूल्यों से जुड़ी आस्था को प्रकट करते हैं।

मानव के सांस्कृतिक इतिहास में मनुष्य की कलाचेतना के प्रवाह का प्रथम परिचय हमें प्रागैतिहासिक शिलालेखों से प्राप्त होता है। गुहामानव ने जाने-अनजाने गुहाभित्तियों पर प्रतीकों के रूप में आड़े-टेढ़े आकार खींचे। कला के विकास का यह प्रथम सोपान था। मनुष्य के सांस्कृतिक अभियान के ये प्रथम आलेख न केवल आदिमानव के स्वभाव, जीवन संघर्ष तथा विविध क्रियाकलापों से परिचय कराते हैं, वरन् उसकी चेतना में निहित सृजनशीलता, मौलिकता, रचनात्मक प्रवृत्ति तथा सौन्दर्यबोध का प्रमाण भी प्रस्तुत करते हैं।

अनेक विद्वानों के विचार से प्रागैतिहासिक चित्ररचना का उद्देश्य कलापरक अथवा सौन्दर्यमूलक न होकर उपयोगितावादी, कर्मकाण्डीय अति विश्वासों से अनुप्रेरित तथा आदिम अर्थ में धार्मिक था। मनुष्य के भीतर सृजनशक्ति कितनी पुरातन और कितनी गहरायी तक व्याप्त है, ये शैलचित्र इसके साक्ष्य हैं।

हमारे मान्यता में धार्मिक प्रतीकों का केन्द्रीय स्थान है। ऋषि-मुनि, संत-महात्माओं ने अपने जीवन की साधना तथा आध्यात्मिक अनुभवों को प्रतीकों के माध्यम से व्यक्त किया है। यहाँ अनेक तीज-त्योहार और उत्सव प्रकृति परिवर्तन के साथ मनाये जाते हैं। आधिदैविक और आधिभौतिक शक्तियों के नियंत्रण हेतु उत्सवपरक पूजन-चर्या के आयोजनों की प्रतिष्ठा की गयी। इन धार्मिक आयोजनों में मंगल चौक बनाना एक अनिवार्य अंग है।

प्रतीक शब्द दो शब्दों के योग से बना है- प्रति+इक। प्रति का अर्थ अपनी ओर तथा इक का अर्थ झुका हुआ है। अर्थात् अव्यक्त को अपनी ओर व्यक्त करना प्रतीक है। प्रतीक को अलग-अलग ढंग से विद्वानों ने परिभाषित किया है। एडवर्ड स्पीयर मानते हैं कि प्रतीक में बड़ी व्यापक शक्ति को संकलित कर संक्षिप्त रूप दे दिया जाता है।

गार्डवर का मानना है कि प्रतीक देखने या सुनने में किसी विचार, भावना या अनुभव को व्यक्त करता है, जो केवल बुद्धि या कल्पना से ग्राह्य हो, उसकी ऐसी व्याख्या कर देना कि आँखों के सामने आ जाये। अधिकांश विद्वान् मानते हैं कि प्रतीक पूजा, प्रार्थना, साधना, उपासना यंत्र-मंत्र आदि से सम्बद्ध है।

बुन्देली लोकचित्रकला में हमें लोकमानस के मन, हृदय की संवेदनाओं, शिक्षण एवं पारम्परिक आस्थाओं के विभिन्न पहलुओं के दर्शन होते हैं। बुन्देली लोकचित्रकला में दर्शन के प्रमुख चारों अवयवों (ब्रह्म, जगत्, माया एवं जीव) का दिग्दर्शन हमें विविध माध्यमों से होता है।

हरछट, कजरी नौमी आदि ऐसे भित्तिचित्र आलेखन हैं, जिनको सर्वशक्ति सम्पन्न ब्रह्म की शक्तिस्वरूपा महिला की आकृति के विशाल आमाशय में अन्य चित्रांकन कर ब्रह्म की सगुण सत्ता को स्वीकार किया जाता है। कजरी की नौमी में नेवला, पालना, सर्प आदि माया के प्रतीक के रूप में जहाँ अंकित होते हैं, वहीं पशु-पक्षी, पेड़-पौधे आदि जगत् का प्रतिनिधित्व करते हैं। घट में जल होना जीव का द्योतक है। अत: लोकचित्रकला में बुन्देली जन-मानस विशिष्टाद्वैतवाद को न जानते हुए भी, दर्शन के अवयवों को न जानते हुए भी, उनका अंकन कर अपनी आध्यात्मिक प्रवृत्ति का परिचय देता है। बुन्देली चित्रकला की तमाम उपविधाओं में हमें प्रतीकों के माध्यम से जिस दर्शन एवं सामाजिक नियमों का भान होता है, उनमें निश्चित रूप से ग्राह्य बुन्देली चित्रकला की विभिन्न उपविधाओं में दर्शन के विभिन्न घटकों का आभास होता है। विष्णुधर्मोत्तरपुराण में चित्र को सभी कलाओं में श्रेष्ठ कहा गया है-

कलानां प्रवरं चित्रम् धर्मकामार्थमोक्षदम्।

आदिमानव ने प्रकृति की रमणीय गोद में बैठकर उसके रहस्यों को अपने कलासंसार का माध्यम बनाया। स्वस्तिक, चक्र सूर्य, चन्द्र, त्रिकोण तथा विभिन्न प्रतीक चिह्न उनके जीवन के आध्यामित्क पक्ष को प्रकट करते हैं। पाषाणकाल में मनुष्य ने लिखना-पढ़ना नहीं सीखा था, इसलिए वह चित्रों के माध्यम से ही अपनी भावनाओं को अभिव्यक्त करता था। आदिम मानव के धार्मिक विश्वासों व क्रियाकलापों पर भी प्रकृति का गहरा प्रभाव दिखायी देता है। इसलिये संभव है कि शैल-चित्रकारों के प्रतीक उनके कुलचिह्नों या गूढ़ आध्यात्मिक संकेतों के उदाहरण हों। आदिम मनुष्य ने शाश्वत चिन्तन से प्रकट होने वाले आध्यात्मिक आशय को तथा अपने मन की मधुर, मंगल भावना को व्यक्त करने के लिये कुछ विशेष चिह्न बनाये। ये चिह्न विविध गूढ़ मनोगत अर्थों को प्रकट करते हैं।

कालान्तर में इन प्रतीकों को साहित्य, कला और व्यवहार के क्षेत्रों में महत्त्व प्राप्त हुआ। ये प्रतीक मनुष्य की रसिकता, मंगलकामना और आध्यात्मिकता को नवजीवन तथा पोषण देते हैं। यह संस्कृति की तीसरी और श्रेष्ठ अवस्था कही जा सकती है।

यह दीर्घजीविता चित्रों की नहीं है, अपितु उन भावों की है, जो मानव मन की गहराईयों में किसी न किसी रूप में विद्यमान रहते हैं एवं उपयुक्त माध्यम पाकर अपने शाश्वत स्वरूप को प्रकट कर देते हैं। प्रतीक शब्द का इतिहास भारतीय रहस्यवाद से जुड़ा है, जो स्थूल से सूक्ष्म की ओर अथवा लौकिक से अलौकिक की ओर या इसके विपरीत भी कार्यशील रहता है। प्रतीक का जन्म शिल्पी के संस्कार के अनुरूप उसके हृदय अथवा भाव-जगत् में होता है।

लोकचित्रों में प्रयुक्त मांगलिक प्रतीकों को निम्नानुसार वर्गीकृत किया जा सकता है -

ज्यामितिक प्रतीक - ये प्रतीक रेखाओं से निर्मित प्राप्त होते हैं। इन्हें काल्पनिक आकार भी माना जा सकता है। ऐसे प्रतीकों में स्वस्तिक, श्रीवत्स आदि हैं।

भौगोलिक प्रतीक - भौगोलिक प्रतीक के अन्तर्गत विशेष रूप में वानस्पतिक प्रतीकों, मुख्यतः वृक्षों का आलेखन आता है।

मांगलिक प्रतीक - हिन्दू धर्म में ऐसे प्रतीकों का प्रचुर मात्रा में अंकन किया जाता है। ये मांगलिक प्रतीक वैदिक परम्परा से ही प्रचलित थे। लोक में सुरैती, मंगलचौक आदि इनके उदाहरण हैं।

सांकेतिक प्रतीक - सांकेतिक प्रतीकों ने अपने विशिष्ट अर्थों की वजह से महत्त्वपूर्ण स्थान पा लिया है। इन प्रतीकों में पूर्णकलश आते हैं, जो सृजन, सौभाग्य, परिपूर्णता एवं विपुलता के प्रतीक हैं।

पशु प्रतीक - ऐसे प्रतीकों में हाथी, घोड़ा, नेवला आदि का अंकन होता है। इन्हें विधि तीज-त्योहारों पर चित्रित करने की परम्परा है।

मानव प्रतीक - मानव आकृतियों का प्रतीक के रूप में अंकन होता है। बुन्देलखण्ड में मोरतें, सत्ता-सत्ती, भाई दूज, एकादशी आदि अवसरों पर बनाये जाते हैं।

समस्त मांगलिक प्रतीकों में स्वस्तिक श्रेष्ठ माना गया है। पवित्र चिह्न के रूप में स्वस्तिक का उल्लेख रामायण एवं महाभारत में हुआ है। स्वस्तिक कुशलता अथवा कल्याण का सूचक है।

वृक्ष - कला एवं संस्कृति के इतिहास में वृक्षपूजा की एक सुदीर्घ परम्परा मिलती है। सिन्धुघाटी से प्राप्त मुद्राओं में अंकित वृक्ष की आकृति से इसकी प्राचीनता का आभास होता है। पेड़-पौधे प्रकृति के प्रतीक हैं। इनके अंकन से यह शिक्षा मिलती है कि संसार के मायाजाल में रहते हुए प्रकृति के साथ तारतम्य बनाये रखना चाहिये।

आयुध - आयुधों का अपना प्रतीकात्मक महत्त्व है। आदिमानव ने अपनी भावनाओं को प्रदर्शित करने के लिये अनेक अंकनों के साथ आयुधों का भी चित्रण किया है। इनमें धनुष, बाण, ढाल, खड्ग आदि प्रमुख हैं। ये आयुध विभिन्न धर्मों के देवी-देवताओं के अस्त्र-शस्त्र भी हैं।

चौक - सभी मांगलिक अवसरों या तीज-त्योहारों पर इस अंचल में चौक पूरे जाते हैं। गेहूँ या चावल के आटे से वर्गाकार अथवा त्रिभुजाकार अथवा आयताकार आकृति बनाकर इसे विभिन्न रेखाओं से अलंकृत करके सम्पूर्ण आकृति बनायी जाती है। चौक के माध्यम से अतिथि देव का आवाहन कर उन्हें आसन देने की मनभावना प्रकट होती है। देवगण जिस स्थान पर आसन ग्रहण करते हैं, वह स्थान पवित्र हो जाता है और उस स्थान की रज से अनिष्ट का नाश होता है। इसलिये पूजा-अर्चना के उपरांत सुहागिन स्त्रियाँ अपने पति की दीर्घायु एवं संतान के उज्ज्वल भविष्य हेतु अपने आंचल के छोर से चौक को अंचराती हैं। चौक पूरने में जगत् की कल्पना साकार हो उठती है।

भित्तिचित्र - विभिन्न धार्मिक उत्सवों पर दीवार पर विविध रंगों के संयोजन से चित्र बनाये जाते हैं। इनमें सार्वभौम सत्य के प्रतीकों का अंकन होता है। भित्तिचित्र शिक्षण का माध्यम भी है।

सूर्य-चन्द्रमा - सूर्य हमारी शक्ति का आदि स्रोत है। उसके द्वारा तम का नाश होता है तथा हमें प्रकाश मिलता है। चन्द्रमा सामाजिक कलाओं का पूरक है। प्रकृति के ये दोनों शाश्वत चिह्न अंकित कर प्रकृति की शाश्वतता का भान कराया जाता है।

ऊँ - ऊँ साक्षात् ब्रह्म है, ऊँ का अंकन ब्रह्म से साक्षात्कार एवं उसके माया भ्रम से निकलकर सत्य को समझने का एक विकल्प है।

सातिया – सातिया अंकन विशेष दर्शन युक्त है। सातिया भारतीय सामाजिक जीवन के सम्पूर्ण दर्शन को अपने में समाहित किये हुए है। इसकी चार भुजाएँ होती हैं, जो मानव जीवन की चार अवस्थाओं ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास का प्रतीक है, वहीं धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष रूपी चारों स्थितियों के दर्शन भी कराती हैं। ये चक्राकार स्थिति में भारतीय जीवन मूल्यों के अनुसार सदैव कार्यशील होने की प्रेरणा देती हैं। सातिया की चारों भुजाएँ आपसी चक्राकार स्थिति से चार खुले हुए प्रकोष्ठ बनाती हैं, जिनमे बिन्दु स्थित रहता है। यह बिन्दु मानव का प्रतीक है। सातिया का अंकन लोक के मन, हृदय पर सार्थक प्रभाव डालने का एक सशक्त उपक्रम है।

कलश अथवा घट – कलश पूर्णता का प्रतीक है। इसके अंकन का आशय है कि सम्पूर्णता मन के संतोष से आती है। मन के संतुष्ट रहने से माया के मोहजाल को पार करता हुआ ब्रह्माण्ड की परम सत्यता का आभास शीघ्रता से कर लेगा। घट का आध्यात्मिक पक्ष यह है कि जल आत्मा का सूचक है तथा घट शरीर का। हम जलरूपी आत्मा के तत्त्व को पहचानें। लोकजीवन में आध्यात्मिक गूढ़ता के इस रहस्य को समझाने का एक सुलभ माध्यम है घट का अंकन।

शंख-दीप – शंखध्वनि से प्रेतबाधा दूर होती है। दीप तम में प्रकाश का वाहक है। अर्थात् अज्ञान को समाप्त कर ज्ञान के ज्योतिर्मय प्रकाश में जीवनयापन की शिक्षा है।

आदिमानव ने प्रकृति की रमणीय गोद में बैठकर उसके रहस्यों को अपने कलासंसार का माध्यम बनाया। आदिम मानव की भावना, संवेग एवं मनोविचार इन चित्रों के माध्यम से अनुभूत किये जा सकते हैं।

ये चित्र मानव समाज के आदिम राग को अपने में समेटे हैं और अपनी जीवन्तता के साथ आज भी सार्थक हैं। इन प्रतीकात्मक चित्रों के माध्यम से हम हजारों वर्ष पूर्व धरती पर रहने वाले अपने पूर्वजों के जीवन की एक झलक पाते हैं।

सुख, समृद्धि, अभय और मंगल की संभावनाओं से परिपूर्ण पर्वों, त्योहारों में बनाये जाने वाले चित्रों का विश्लेषण करने पर ज्ञात होता है कि इन चित्रों के विविध आशय कथ्य और शिल्प, सोच और संवेदना दोनों स्तरों पर लोकजीवन की आस्था और वैचारिक परम्परा को मुखरित करते हैं।

लोकचित्रकला मानव जीवन की आत्मा है। यह धर्म, अर्थ, काम, अर्थ, काम तथा मोक्ष देने वाली है। जिस घर में यह कला रहती है वह घर मंगलमय होता है।

संदर्भ

1. बुन्देलखण्ड की लोककलाएँ : डॉ. ब्रजेश द्विवेदी, बुन्देली बसंत, अंक 5, 2004, पृ. 34
2. बुन्देली लोक चित्रकला एवं दर्शन : डॉ. हरिमोहन पुरवार, बुन्देली बसंत, प्रथम संस्करण 2000, पृ. 8
3. मध्यप्रदेश की शैल चित्रकला : डॉ. कृष्णकुमार त्रिपाठी, इंडियन रॉक अर्ट, पृ. 54
4. शैलगृहीन चित्रकला में प्रच्छन्न मनोगत प्रवृत्तियाँ : डॉ. आलोक श्रोत्रिय, पृ. 63
5. हमारी संस्कृति के प्रतीक, महादेव प्रसाद जोशी, सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली 1989, पृ. 6-7
6. शैलाश्रयों में चित्रित प्रतीकों का महत्त्व : डॉ. अर्चना बबेले, डॉ. सुनीता शुक्ला, पब्लिशर्स, नागपुर 2000, पृ. 70
7. वही, पृ. 70
8. बुन्देली लोक चित्रकला एवं दर्शन : डॉ. हरिमोहन पुरवार, बुन्देली बसंत प्रथम संस्करण 2000, पृ. 8
9. शैलगृहीन चित्रकला में प्रच्छन्न मनोगत प्रवृत्तियाँ : डॉ. आलोक श्रोत्रिय, पृ. 64

बुन्देलखण्ड के मांगलिक प्रतीक

डॉ. कुमारेन्द्रसिंह सेंगर

सम्पूर्ण भारतीय चिन्तन में 'लोक' शब्द का अपना विशेष महत्त्व है। भारतीय संदर्भों में लोक को अन्यान्य रूपों में भी प्रयुक्त किया जाता रहता है। लोक के पावन और दिव्य स्वरूप हमारे आसपास सहज रूप में स्वीकार्य दिखते हैं। पृथ्वीलोक, पाताललोक, आकाशलोक-जिन्हें हम त्रिलोक के रूप में परिभाषित करते हैं, को दिव्यता, पावनता के कारण स्वीकार्यता प्राप्त है। इसके अतिरिक्त लोकनाथ, लोकेश्वर आदि शब्दों के द्वारा हमें ईश्वरीय सत्ता का आभास होता है और इनसे किसी जाति विशेष का अथवा किसी क्षेत्र विशेष का भान भी नहीं होता है। संस्कृत में लोक शब्द को स्थानवाची तथा जीववाची स्वीकारा गया है। ऋग्वेद में कहा भी गया है-

नाभ्या आसीदंतरिक्षं शीर्ष्णो द्यौ: समवर्तत।
पद्भ्यां भूमिद्दिश: श्रोत्रात्तथा लोकां अकल्पयन्। (ऋ:10/90/14)

इससे ज्ञात होता है कि लोक का जैसा अर्थ (देहाती आदि जैसा) वर्तमान में लगाया जाता है, वह अंग्रेजी के फोक के हिन्दी रूपान्तरण के कारण प्रचलन में आया है।

भारतीय मनीषियों के अनुसार लोक शब्द का महत्त्व किसी भी रूप में कम करके नहीं आँका जा सकता है। डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल का कहना है कि 'लोक हमारे जीवन का महासमुद्र है। उसमें भूत, वर्तमान और भविष्य सभी कुछ संचित रहता है। लोक राष्ट्र का स्वरूप है।' कुछ इसी तरह के विचार व्यक्त करते हुए हिन्दी साहित्य के प्रकाण्ड विद्वान् डॉ. विद्यानिवास मिश्र भी कहते हैं कि

'लोक देश का अनुभाविक रूप है।' इस प्रकार लोक अपने आप में विशाल अर्थ समेटता है। वहीं डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी का कहना है कि 'लोक शब्द का अर्थ जनपद अथवा ग्राम नहीं है, बल्कि नगरों और गाँवों में फैली हुई समूची जनता है, जिसके व्यावहारिक ज्ञान का आधार पोथियाँ नहीं हैं।' वास्तव में लोक विशद्, व्यापक, विराट, सर्वव्यापक, सार्वकालिक तथा परम्परानुमोदित है, जो किसी शास्त्रीय अथवा अभिजात्य वर्ग के संस्कार में बद्ध नहीं है। वह तो गाँव की झोपड़ी से शहरों की गगनचुम्बी इमारतों में रहने वाले संवेदनशील मानस में विद्यमान है। इन विद्वानों के मतानुसार यह तो स्पष्ट है कि लोक को संकीर्णता में बाँधा नहीं जा सकता है।

लोक की इस व्यापकता में विविधता भी समाहित है। इसमें कलाओं की सुरम्यता, संस्कृति की सम्पदा, रहन-सहन की शालीनता, गीतों की सुरलहरी आदि-आदि विद्यमान है। लोक में हमारे जन-जीवन की सृजनात्मकता छिपी हुई है। यदि व्यापकता में हम इस ओर विचार करें, तो हमें ज्ञात होगा कि लोककलाओं का हमारे जीवन में गहरे तक प्रभाव रहा है। व्यक्ति चाहे वह ग्रामीण परिवेश से जुड़ा हुआ रहा है अथवा किसी अन्य परिवेश से; कलाओं को, लोककलाओं को वह अपने से अलग नहीं कर सका है। मानव-जीवन के इतिहास के किसी भी कालखण्ड को हम उठाकर देखें तो हमें कलाओं के, लोककलाओं के दर्शन आसानी से हो जाते हैं। जैन, बौद्ध, अपभ्रंश आदि शैली के चित्रों में कला आज तक जीवंत और सुरक्षित है। अजंता, एलोरा गुफाओं के भित्तिचित्र भी लोककला के सशक्त उदाहरण के रूप में देखे जा सकते हैं। जिस प्रकार रामलीला, रासलीला मात्र बुन्देली, अवध-ब्रजक्षेत्र से; लाहिड़ी, भांगड़ा जैसे पंजाबी क्षेत्र से; कहरवा, बिरहा सिर्फ अहीर, कहार जातियों तक ही सीमित नहीं है, उसी तरह से लोककला किसी एक क्षेत्र विशेष तक सीमित नहीं है। लोककला समय के साथ-साथ अपने आपको विस्तार देती रही है और अपनी अलग पहचान बनाती रही है। देखा जाय तो रामलीला का ओपेरा रूप, रासलीला का कृष्णकल्ट रूप यूरोप, अमेरिका में प्रचलित है। इसके अतिरिक्त बिहार की मधुबनी चित्रकारी हो अथवा छत्तीसगढ़ की तीजनबाई का लोकगायन, सभी ने भारतीय लोककला को वैश्विक पहचान देते हुए नये आयाम स्थापित किये हैं। ऐसे में लोक को अथवा लोककला को सीमित अथवा संकुचित रूप में देखना या परिभाषित करना न्यायसंगत नहीं होगा।

भारतीय संदर्भों में लोक को पावनता की दृष्टि से भी देखा जाता है और यही कारण है कि लोककलाओं के विविध रूपों को प्रकृति से सम्बद्ध कर उनके विभिन्न अंगों-उपांगों को आमजन प्रतीक रूप में प्रयुक्त करता है। लोककला और उसका अन्योन्याश्रित सम्बन्ध स्थापित कर इनमें पावनता को आरोपित किया गया है। जन्मोत्सव हो अथवा शादी-ब्याह, त्योहार हो अथवा पर्व, मंगलोत्सव हो अथवा बच्चों के खेल, कृषि सम्बन्धी कार्य हो अथवा दैनिक क्रियाकलाप, सभी में किसी न किसी रूप में लोककला में प्रयुक्त होने वाले मांगलिक प्रतीकों का प्रयोग सहजता से किया जाता है। इन अवसरों पर दीवारों पर, भूमि पर मंगलसूचक चिह्न, प्रतीक अंकित किये जाते हैं। इसके अलावा प्रकृति के विविध अंगों-उपांगों को भी मांगलिक प्रतीकों के रूप में स्वीकार कर उनको भी पावनता प्रदान की जाती है। इन प्रतीक चिह्नों का अथवा इनके चित्रण का स्वरूप क्षेत्रवार अपनी परम्पराओं और भावनाओं के अनुसार अलग-अलग हो सकता है, किन्तु इन मांगलिक प्रतीकों के पीछे छिपी मंगलकारी कामना में कोई भिन्नता नहीं होती है। नागपंचमी, हरछठ, होली, दीपावली, एकादशी, गोवर्धन आदि पर्वों-त्योहारों पर दीवार-भूमि पर मांगलिक प्रतीकों का अंकन किया जाता है तो प्रकृतिस्थ वृक्षों, जीव-जन्तुओं आदि को भी मांगलिक प्रतीक के रूप में स्वीकार कर उनको भी पावनता प्रदान की जाती है। इनके अलावा भी निर्जीव वस्तुओं यथा ढोलक, कलश आदि लोकदेवताओं यथा लाला हरदौल चबूतरा, कारसदेव आदि के साथ-साथ सूरज-चाँद-तारों आदि को भी मांगलिक प्रतीकों के रूप में स्वीकार्यता प्राप्त है।

भारतीय संस्कृति विविध क्षेत्रों, प्रान्तों आदि में अपने विविध मनोहारी रूपों में व्याप्त है। बुन्देली लोकजीवन भी इससे अछूता

नहीं रहा है। यहाँ लोककला के मनोहारी उदाहरण सर्वत्र बिखरे दिखायी देते हैं। लोककला के अतिरिक्त बुन्देली जीवन में लोकदेवताओं, लोकोक्तियों, लोकाचार, लोकगीतों, लोकनृत्यों, लोकक्रीड़ाओं, लोककथाओं आदि का महत्त्व सदैव से रहा है। इस कारण से इनमें भी प्रयुक्त होने वाले प्रतीकों को किसी न किसी रूप में मांगलिकता प्रदान की गयी है। बुन्देली लोकजीवन में दैनिक कार्यों के अतिरिक्त पर्व विशेष पर, त्योहार पर अथवा किसी मांगलिक कार्यक्रम पर इन प्रतीक चिह्नों को भूमि पर, दीवार पर अंकित कर इनको महत्त्व प्रदान किया जाता है। विविध अवसरों पर बनाये जाने वाले ये मांगलिक प्रतीक घर की महिलाओं, बेटियों द्वारा बनाये जाते हैं और इनका आलेखन भारतीय संस्कृति के अनुरूप करके इनका भव्य-दिव्य स्वरूप निर्मित किया जाता है। इन आलेखनों के महिलाओं द्वारा घरेलू सामग्री का ही उपयोग करके मांगलिक प्रतीकों को विशेष रूप से निर्मित किया जाता है। इस तरह के आलेखनों में, मांगलिक प्रतीकों में कलश, वृक्ष, सूरज, चन्द्रमा, सितारे, फूल, मानव आदि का निर्माण किया जाता है और इन्हें गोबर, गेरू, जौ, हल्दी, चावल, कोयला आदि से बनाया जाता है। इन मांगलिक प्रतीकों को मात्र आलेखन के लिये ही नहीं बनाया जाता है, अपितु इनका अपना एक विशेष अर्थ होता है।

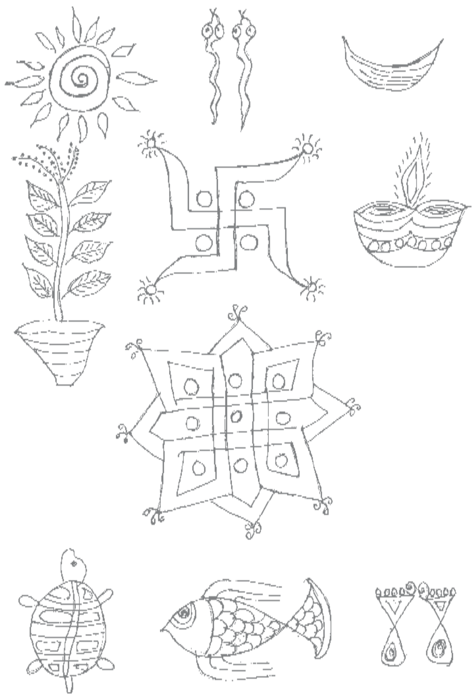

बुन्देली लोकजीवन में लोककलाओं का जितना महत्त्व है, उतना ही महत्त्व इन मांगलिक प्रतीकों का भी है। आमतौर पर घर की महिलाएँ प्रतिदिन प्रात: घर की देहरी पर सुन्दर आलेखन करती हैं और इसके पीछे परिवार के प्रति मंगलकामना की चाह रहती है। बुन्देलखण्ड क्षेत्र में समृद्ध सांस्कृतिक विरासत रही है और इसी कारण से आमजन अपने प्रत्येक कदम को हर्षोल्लास से, पूर्ण उत्साह से मनाता है। वह अपने कार्यों में मंगलकारी भावना का समावेश करना चाहता है और इसी कारण से वह किसी भी आयोजन में, चाहे वह जन्मोत्सव हो अथवा विवाहोत्सव, घर के कार्य हों अथवा कृषि कार्य, बच्चों के खेल हों अथवा किसी जाति विशेष का आयोजन, सभी में किसी न किसी रूप में मांगलिक प्रतीकों को सहजता से स्थान देता है। बुन्देलखण्ड क्षेत्र में मांगलिकता के प्रति आमजन की सशक्त भावना को इस रूप में देखा-समझा जा सकता है कि उसने छोटे से छोटे कार्य में भी मंगल प्रतीकों की उपस्थिति को दर्शाया है। विस्तार में न जाकर यदि इस क्षेत्र में मांगलिक प्रतीकों के प्रति आमजन की भावना को, उसके उपयोग को देखें तो इनके विश्लेषण से यह निष्कर्ष निकलता है-

बुन्देली क्षेत्र में मांगलिक प्रतीकों में एक तो वे प्रतीक हैं, जो प्रकृति के अंग के रूप में हमारे चारों ओर विद्यमान हैं। इन प्रतीकों में बरगद, पीपल, आम, केला, तुलसी आदि को स्वीकारा गया है तथा इसी के साथ ही नदी, तालाब, मछली, गाय, नाग, कौआ आदि को भी मांगलिक प्रतीक के रूप में स्वीकार्यता प्राप्त है। देवतुल्य प्रतीकों में गणेश, स्वस्तिक, अग्नि, जल, सूरज, चन्द्रमा, तारे आदि सहित नवग्रहों को भी मांगलिक प्रतीक स्वीकारा गया है। इनको सामान्य कार्यों में मंगल विधान के साथ पूजा जाता है। इसके अलावा कुछ मांगलिक प्रतीक इस प्रकार के हैं, जिन्हें विशेष पर्वों, त्योहारों पर ही निर्मित किया जाता है। यद्यपि इन आलेखनों में भी वृक्षों का, नक्षत्रों का, नदी-तालाबों आदि का चित्रण किया जाता है, किन्तु समग्र रूप से इनका अंकन होने पर ये मंगल प्रतीक विशेष पर्व-त्योहार का अर्थ स्पष्ट करते हैं। इन पर्वों-त्योहारों में हरछठ, नागपंचमी, गोधन, सुआटा आदि को उदाहरण के रूप में देखा जा सकता है। इसके साथ ही साथ कुछ मांगलिक प्रतीक इस तरह के होते हैं, जिन्हें वैवाहिक कार्यक्रमों के अवसर पर स्वीकार्यता प्राप्त है। इनमें लाला हरदौल का चबूतरा, मण्डप आदि को देखा जा सकता है।

चित्रांकन में मांगलिक प्रतीक

ये वे प्रतीक होते हैं, जिन्हें सामान्य कार्यों में, हवन में,

व्रतादि में प्रयुक्त किया जाता है। इन मांगलिक प्रतीकों में विशेष रूप से गणेश, स्वस्तिक, कलश आदि के साथ-साथ नवग्रह का अंकन किया जाता है।

गणेश – भारतीय हिन्दू संस्कृति में देवाधिदेव श्रीगणेश का सर्वप्रथम स्थान है। प्रत्येक धार्मिक आयोजन में गणेश को आराध्य देव के रूप में, प्रथम देवपुरुष के रूप में प्रतिष्ठित किया जाता है और सर्वप्रथम इन्हीं का आवाहन करके पूजन को प्रारम्भ किया जाता है। गणेश जी की मांगलिकता इतने सहज रूप में स्वीकार है कि पूजा-स्थलों, मंदिरों आदि में स्थापना के अतिरिक्त भी इन्हें घर के मुख्य द्वार के ऊपर, दरवाजों के ऊपर, पठन-पाठन के स्थान पर, लाभकारी स्थान पर, अनिष्ट से बचने के लिए भी इनका अंकन किया जाता है अथवा इन्हें मूर्ति रूप में प्रतिष्ठित किया जाता है। गणेश जी का चित्रांकन शुभ और मंगलकारी माना जाता है, इस कारण बहुत से व्यक्ति इन्हें माला, लॉकेट आदि के रूप में भी धारण करते हैं। गणेश जी का चित्रांकन स्थिति तथा स्थान के अनुसार किया जाता है। धार्मिक आयोजनों में इनके चित्रण में हल्दी, गेरू आदि का प्रयोग किया जाता है।

स्वस्तिक या सतिया – स्वस्तिक का चिह्न हिन्दू धार्मिक आयोजनों में देवतुल्य स्थान रखता है। इसे आस्था के साथ-साथ गतिशीलता का सूचक भी स्वीकारा गया है। धार्मिक अनुष्ठानों में, पूजन में, वैवाहिक कार्यक्रमों में, जन्मोत्सव में स्वस्तिक का अंकन मुख्य रूप से किया जाता है। बुन्देलखण्ड क्षेत्र में इसे सतिया अथवा चक्राकार सतिया भी कहा जाता है। ऐसी मान्यता है कि स्वस्तिक के अंकन से घर-परिवार में सुख-समृद्धि सदैव बनी रहती है। इसकी गतिशीलता की स्वीकार्यता के कारण ही इसे नुकीला बनाया जाता है। विशेष रूप से शिशु के जन्म के समय इसे गोबर से बनाया जाता है और उस पर जौ का प्रयोग किया जाता है। इसके अतिरिक्त धार्मिक स्थलों पर, किसी लाभकारी स्थान पर, घर के दरवाजे के दोनों ओर इसका अंकन किया जाता है।

कलश – भारतीय धार्मिक परम्परा में कलश को मांगलिक मान्यता प्राप्त है। इसे सम्पन्नता का सूचक माना जाता है। इस कारण से इसका अंकन समस्त पर्वों, धार्मिक आयोजनों में, त्योहारों में, विवाहोत्सव आदि में किया जाता है। घर के दरवाजे के दोनों ओर बनाये गये कलश को परिवार की समृद्धता और सम्पन्नता का सूचक माना जाता है। कलश का चित्रांकन होने के अतिरिक्त अधिकतर धार्मिक अनुष्ठानों में कलश का चित्रांकन होने के साथ-साथ उसे मूर्त रूप में भी प्रयुक्त किया जाता है। कलश का चित्रांकन अकेले नहीं किया जाता है, इसके चित्रांकन में कलश के मुँह पर आम के पत्ते, नारियल आदि का भी अंकन किया जाता है, साथ ही इसे विविध तरीके से सजाया जाता है।

सूर्य, चन्द्रमा, तारे – नक्षत्रों में मुख्य रूप से सूर्य, चन्द्रमा, तारों आदि को ही चित्रित किया जाता रहा है। मांगलिक प्रतीकों के रूप में इनका अंकन भी किया जाता है। समाज में ये नक्षत्र सहज रूप में मांगलिक प्रतीक के रूप में मान्यता प्राप्त हैं। इन मांगलिक प्रतीकों को सार्वभौम रूप से सत्य मानने के साथ-साथ इनमें देवत्व का भी आरोपण किया गया है। इस कारण से भी इनकी आधारभूत सत्ता को स्वीकार कर इनकी महत्ता को स्थापित किया जाता है। इन प्रतीकों को मंगलकारी मानने के पीछे इनको काल का द्योतक स्वीकारना तथा प्रकाशवान होना भी है। अपनी प्रभावशाली स्थिति एवं पावनता के चलते भूमि-भित्ति अलंकरण में इन्हें प्रमुखता से चित्रित किया जाता है। इन मांगलिक प्रतीकों को गोबर, चूने की लिपाई के बाद गेरू, आटा, चावल के घोल आदि से बनाया जाता है।

पशु-पक्षी – लोककला में पशु-पक्षियों को भी महत्त्वपूर्ण रूप से स्वीकार कर उन्हें भी मांगलिक प्रतीक के रूप में चित्रित किया जाता है। इनके चित्रांकन के द्वारा प्रकृति के अंगों-उपांगों को महत्त्व देने का प्रयास तो रहता ही है, साथ ही इनको विविध अर्थों में भी स्वीकार किया जाता है। इन पशु-पक्षियों के चित्रांकन में विशेष रूप से हाथी, घोड़ा, मछली, मोर, उड़ते पंछियों को दर्शाया जाता है। यहाँ हाथी को शक्ति एवं गम्भीरता के रूप में, घोड़े को गतिशीलता एवं तीव्रता के रूप में, मोर को समृद्धि एवं खुशी के रूप में, उड़ते पक्षियों को स्वतन्त्रता एवं उत्साह के रूप में, मछली को शुभकारी एवं सच्चे प्रेम के अर्थ में चित्रित किया जाता है।

इन पशु-पक्षियों के चित्रांकन के अतिरिक्त सीधे रूप में भी कुछ जीवों को मांगलिक प्रतीक के रूप में मान्यता प्राप्त है।

मछली, गाय आदि इसके सशक्त उदाहरण कहे जा सकते हैं। गाय को भी आमजन में देवतुल्य स्थान प्राप्त है तथा मछली को सच्चे प्रेम का द्योतक स्वीकारे जाने से इसे भी लोग घरों में रखना पसंद करते हैं। ऐसी मान्यता है कि किसी भी कार्य पर जाने से पूर्व मछली के दर्शन होना सफलता का सूचक है।

कमल – लोककलाओं में वृक्षों, पौधों, फूलों आदि का चित्रांकन भी किया जाता है। विविध वृक्षों को चित्रित किया जाता है, साथ ही विविध फूलों को भी दर्शाया जाता है। किन्तु विशेष रूप से कमल के फूल का चित्रांकन महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। बुन्देलखण्ड क्षेत्र में लगभग प्रत्येक भूमि–भित्ति आलेखन में कमल के फूल का चित्रांकन अवश्य ही किया जाता है। कमल को निर्लिप्तता का द्योतक माना जाता है और इसी कारण से प्रत्येक आलेखन में इसको स्थान दिया जाता है। वृक्षों का सांकेतिक चित्रण भी किया जाता है।

अन्य मांगलिक प्रतीक

बुन्देली क्षेत्र के स्वीकार मांगलिक प्रतीकों को आयोजनों में भूमि–भित्ति अलंकरण के रूप से चित्रित किया जाता है। ये मांगलिक प्रतीक मुख्य रूप से अलंकरण, चित्रांकन में प्रयुक्त होते हैं। देखा जाये तो इनमें सूरज, चन्द्रमा आदि ही इस तरह के मांगलिक प्रतीक हैं, जिन्हें मनुष्य सांकेतिक रूप से भी अलंकृत करता है और उसे वास्तविक रूप में भी स्वीकारता है। इनके अलावा कुछ ऐसे मांगलिक प्रतीकों का समाज में चलन है जिन्हें वास्तविक रूप में ही अधिक महत्त्व प्राप्त है।

बरगद – लोककलाओं में वृक्षों के चित्रांकन का अपना विशेष महत्त्व है। इन वृक्षों में बरगद, पीपल, केला, तुलसी, आम आदि को शामिल किया जाता है, किन्तु इनमें भी बरगद का अपना विशेष महत्त्व है। महिलाएँ बरगद की पूजा अपने पति की लम्बी आयु की कामना से करती हैं। वट सावित्री, बरगदाई अमावस आदि नाम से होने वाले पर्वों में बरगद की पूजा की जाती है।

केला – गुरुवार का व्रत करने वाली महिलाएँ केले के वृक्ष की पूजा करती हैं। बुन्देली लोकजीवन में वैसे भी केले के वृक्ष को मांगलिक रूप में स्वीकारा जाता है। सत्यनारायण व्रत कथा के अवसर पर विशेष रूप से केले के पत्तों का प्रयोग किया जाता है। इसी तरह से महिलाओं द्वारा किये जाने वाले व्रत, अनुष्ठान में केले के वृक्ष की पूजा कर, उसको मांगलिक प्रतीक के रूप में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

तुलसी – तुलसी के पौधे को भी आमजन के मध्य मंगलकारी रूप में स्वीकारा जाता है। बुन्देलखण्ड क्षेत्र में घर–परिवार के व्यक्ति, महिलाएँ, बच्चे दैनिक पूजा–आराधना में तुलसी के पौधे की पूजा करते हैं। तुलसी के पौधे के सम्बन्ध में मान्यता है कि इसे घर में लगाने से घर–परिवार में सुख–समृद्धि बनी रहती है। इसके अतिरिक्त महिलाओं द्वारा सोमवती अमावस्या के अवसर पर तुलसी के पौधे की पूजा भी की जाती है। वहीं बुन्देलखण्ड में कार्तिक मास में तुलसी के पौधे का विवाह भी धर्मपरायण महिलाएँ शालिगराम के साथ सम्पन्न करती हैं।

आँवला – बुन्देलखण्ड क्षेत्र में आँवले के पेड़ को भी धार्मिक मान्यता प्राप्त है और इस कारण से इसे भी मांगलिक प्रतीक के रूप में स्वीकार किया जाता है। कार्तिक मास में इच्छानवमी पर्वविशेष के आयोजन पर महिलाएँ व्रत–उपवास रखती हैं तथा उस दिन–विशेष को आँवले के पेड़ की परिक्रमा करके उसके नीचे एकत्र होकर भोजन करती हैं। ऐसी मान्यता है कि इच्छानवमी को सच्चे मन से आँवले के पेड़ के नीचे जो भी मनोकामना की जाती है, वह पूर्ण होती है। इस कारण से आँवले के पेड़ को भी मांगलिक प्रतीकों में शामिल माना जाता है।

गाय – गाय का महत्त्व आम आदमी के जीवन में सदैव से रहा है। देवतुल्य और हिन्दू मान्यताओं के अनुसार पूज्य होने के कारण इसे भी हिन्दू परम्पराओं में मांगलिक प्रतीक के रूप में स्वीकारा गया है। माना जाता है कि प्रात:काल गाय के दर्शन होना अथवा गाय की सेवा करने से मानव मात्र को मोक्ष की प्राप्ति होती है। इसकी मांगलिकता के कारण ही गाय पर सभी की दया–दृष्टि बनी रहती है और गाय को मारना अथवा उसका वध करना किसी भी रूप में

पाप से कम नहीं माना गया है। घर-परिवार में होने वाले धार्मिक अनुष्ठानों, आयोजनों में, किसी मांगलिक उत्सवों पर पूजन आदि के बाद गाय को भोजन कराना बहुत ही शुभ समझा गया है। बुन्देलखण्ड क्षेत्र में आज भी प्रात:काल भोजन बनाते समय सबसे पहले गाय के लिए रोटी बनायी जाती है। इससे गाय का मांगलिक महत्त्व का प्रतिपादित होता है।

कौआ - आम धारणाओं में कौआ सामाजिक रूप में सहज स्वीकार जीव नहीं है, इसके बाद भी इसको मांगलिक मान्यता विशेष आयोजन पर प्राप्त है। हिन्दू मान्यताओं के अनुसार पितृ पक्ष के पन्द्रह दिनों में घर-परिवार के बुजुर्ग कौए का रूप धारण करके धरती पर आते हैं। इसी धार्मिक मान्यता के चलते पितृ पक्ष में कौओं को प्रात:काल भोजन करवाने की परम्परा है। कौओं में परिवार के बुजुर्गों का आरोपण करके उसको भी लोकजीवन में मांगलिक प्रतीक के रूप में सहज स्वीकार्यता प्राप्त है।

नाग (सर्प) - सर्प अथवा नाग का नाम सामने आते ही भय का संचार होता है, इसके बाद भी हिन्दू रीति-रिवाजों में नाग को मांगलिकता से पूर्ण माना जाता है। नाग का चित्रांकन तो विभिन्न भूमि-भित्ति अलंकरणों में तो होता ही है, इसको जीवित रूप में भी पूज्य माना गया है। नागपंचमी के त्योहार पर व्यक्तियों द्वारा इसको दूध पिलाने की मान्यता है। बुन्देली लोककलाओं में इसे काल की अनन्तता का द्योतक माना गया है। इसके मंगलकारी प्रतीक स्वीकारने के पीछे काल के भय से मुक्ति की भावना कार्य करती है और इसको स्वीकारना दर्शाता है कि काल शाश्वत सत्य है, इसे किसी भी रूप में विस्मृत नहीं किया जाना चाहिये।

हरदौल चबूतरा

बुन्देलखण्ड में हरदौल चबूतरा का अपना विशेष महत्त्व है। इस क्षेत्र में वैवाहिक कार्यक्रमों का आरम्भ लाला हरदौल की पूजा-आराधना के बाद ही होता है। लाला हरदौल को यहाँ देवतुल्य स्थान प्राप्त है, इसके चलते बुन्देलखण्ड क्षेत्र के लगभग प्रत्येक गाँव में हरदौल चबूतरे बने हुए हैं और इनको भी लोकजीवन में मांगलिक प्रतीक के रूप में हृदय से स्वीकार किया गया है। ओरछा राज्य के महाराजा के छोटे भाई लाला हरदौल ने अपनी भाभी के सम्मानार्थ जहर खाकर अपने प्राणों का त्याग कर दिया था। ऐसी जनस्वीकारोक्ति है कि मरणोपरान्त लाला हरदौल ने अपनी भांजी (बहिन की पुत्री) के विवाह में भात पहुँचा कर और बाद में दामाद को दर्शन देकर अपने भाई होने के फर्ज का निर्वाह किया था। इसी कारण से वैवाहिक कार्यक्रमों में हरदौल चबूतरा के द्वारा लाला हरदौल को याद कर उनके प्रति आदर-सम्मान व्यक्त किया जाता है।

उक्त मांगलिक प्रतीकों को सांकेतिक रूप में अथवा वास्तविक रूप में लोकजीवन में सहज स्वीकार्यता प्राप्त है। इन मांगलिक प्रतीकों को सामान्य रूप में प्रयोग तो किया ही जाता है, साथ ही किसी आयोजन विशेष पर, पर्व-त्योहार विशेष पर बनाये जाने वाले आलेखन में, भूमि-भित्ति अलंकरण में इन प्रतीकों को समवेत रूप से चित्रित करके उस पर्व-त्योहार विशेष का आलेखन किया जाता है। बुन्देलखण्ड क्षेत्र में इस तरह के पर्व-त्योहारों में कुनघुसू पूनौ (गुरु पूनौ), हरछठ, गोधन, करवाचौथ, नागपंचमी, सुआटा आदि में भूमि-भित्ति अलंकरण के द्वारा इन स्वीकार मांगलिक प्रतीकों का चित्रण किया जाता है। इन्हें घर की महिलायें पर्व, त्योहार पर घर की सामग्री से बनाती हैं और निश्चित समय पर पूरे विधि-विधान से पूजा करती हैं।

कलाएँ व्यक्ति के जीवन में मात्र शुभ-अशुभ को दर्शाने के लिये अथवा सुन्दरता के लिये ही अलंकृत नहीं की जाती हैं, वरन् इनके पीछे सामाजिक स्वीकार्यता भी कार्य करती है। ये अलंकरण, ये मांगलिक प्रतीक हमारी संस्कृति के विराट भाव हैं, जिनमें जीवन को देखने की समझ, जीवन को चरितार्थ करने की समझ का समावेश होता है। इन अलंकरणों में, इन मांगलिक प्रतीकों में हमारी परम्पराओं के, हमारी मान्यताओं के मूल्य, सरोकार आदि का चित्र भी छिपा होता है। यह सम्भव है कि समय में परिवर्तन के साथ-साथ लोककलाओं की चित्रण-शैली में, मांगलिक प्रतीकों की अलंकरण-शैली में कुछ परिवर्तन आ गया हो, किन्तु यह सत्य है कि ये प्रतीक अपने आप में मांगलिकता को समाहित किये हुए जीवन ऊर्जा की संजीवनी का प्रवाह सदैव निरन्तरता से बनाये हुए हैं। लोकपरम्परा में जीवित ये मांगलिक प्रतीक लोकजीवन में अपनी उपस्थिति को सदा-सदा बनाये रखेंगे और मानव को जीवन-मूल्यों के प्रति सचेत करते रहेंगे।

स्थापत्य में मांगलिक प्रतीक

डॉ. रामस्वरूप ढेंगुला

बुन्देली स्थापत्य कला के क्षेत्र में आंचलिक मंदिरों एवं महलों के निर्माण के समय मांगलिक प्रतीकों, चिह्नों का सदैव ध्यान रखा जाता था। कला के इन क्षेत्रों के भवनों के चित्रांकन में, संगीत कक्ष में, जनसमागम कक्ष में, मंदिर के गर्भगृह में, विशिष्ट कक्ष आदि सभी के स्थापत्य प्रदर्शन में भारतीय परम्परा एवं मान्यताओं में प्रचलित मांगलिक चिह्नों, मांगलिक घटनाओं के रेखांकन पर पूरा ध्यान केन्द्रित किया जाता था। चित्रकला के क्षेत्र में वृक्षों-फूलपत्ती, देवता, हाथी, घोड़ा एवं नृत्य गान का प्रदर्शन जीवन के मांगलिक जीवनदर्शन के स्वरूप का उल्लेख होता है। शिखर, कलश, महल-मंदिर शृंग- ये सब भवन के आभामण्डल के रूप में मानव के अंतर्मन को तरंगित करने वाले आभूषण की तरह होते हैं। यह आभामण्डल भी मांगलिक प्रतीक के रूप में मानव को प्रफुल्लित कर उसमें काम के प्रति विश्वास पैदा कर देते हड्ड्ै। इन कलाओं के प्रतीकों को बीच में जीवनादि क्रियाओं का, आमोद-प्रमोद, आनन्द-सफलता, खुशी-उत्साह का गणित भी छिपा रहता है। विद्वान् इमर्सन सेन का मंदिरों के विषय में कथन है कि 'उनका धार्मिक महत्त्व इसके अलावा चाहे गाँव हो या किसी बड़े शहर में, मंदिर सामूहिक जीवन का एक केन्द्र बिन्दु होते थे। अतीत में वे बड़े इलाके के आर्थिक जीवन को ठोस आधार प्रदान करते थे।' [1] विद्वान का यह कथन मांगलिकता के बोध का शाश्वत प्रसंग है। महल के प्रवेश द्वार पर प्रदर्शित चित्रांकन-महल के बंदन-द्वार की तरह मांगलिक स्वरूप में होता है।

महल

बुन्देली स्थापत्य कला की श्रेष्ठ मध्यकालीन कृति ओरछा का जहाँगीरी महल और दतिया का सतखण्डा महल है। इन दोनों का निर्माण ओरछा के शासक वीरसिंह देव (1605-1627) ने करवाया था। ये दोनों ही महल मांगलिक चिह्नों, प्रतीकों से युक्त हैं, दोनों

महलों के दरवाजे पर दो हाथी बने हुए हैं, ओरछा के जहाँगीरी महल की टोड़ियों में हाथी बने हुए हैं। जहाँगीरी महल में सरस्वती को भी अंकित किया गया है। हाथी-फूलमाला और घंटी लिए हुए हैं। दतिया के सतखण्डा महल के दरवाजे पर प्रदर्शित चित्रकला महल के आभूषण की तरह है, चित्रकला में प्रदर्शित ड्रेगन शक्ति और शौर्य का प्रतीक है। ये सारे चिह्न मांगलिक हैं, ये भारतीय स्थापत्य कला की शैली थी, जिसमें राजपूती कला-मुगलकला का सम्मिलित भाव देखने को मिलता है। सनातन[2] धर्म के सभी मांगलिक कार्यों में गणपति की पूजा सबसे पहले की जाती है। गणेश भगवान् को विघ्न-बाधाओं का हरने वाला माना जाता है। भगवान् राम ने भी शिवजी का धनुष उठाते समय गणेश जी से प्रार्थना की थी-

गननायक वरदायक देवा। आजु लगें कीन्हिउं तुअ सेवा।।
बार-बार विनती सुनी मोरी। करहु चाप गुरुता अति थोरी।।

बुन्देलखण्ड में विवाह के अवसर पर भगवान गणेश का आह्वान गीत के माध्यम से इस प्रकार किया जाता है-

गनपति बब्बा न्यौतो हो लेव, तुम मेरे आईयों।
तुम घर पसरी है बींद, तो आन संवारियो।।

जनकपुरी की सुन्दरता का उल्लेख करते हुए महाकवि गोस्वामी तुलसीदास रामचरितमानस में लिखते हैं -

मंगलमय मंदिर सब केरें। चित्रित जनु रतिनाथ चितेरें।।[3]

सबके घर मंगलमय हैं और उन पर चित्र बने हुए हैं। मांगलिक चिह्न निर्मित करने की एवं उकेरने की इसी सनातनी परम्परा का पालन दतिया-ओरछा के महलों में किया गया है। ये दर्शनीय एवं स्वरूप के मांगलिक उल्लेख हैं। तालाब, नदी, मोर-तोता, हाथी-घोड़ा, लता-पुष्प, बेलबूटे, नाच, गायन, वाद्ययंत्र, चाचर खेल का अंकन ये सभी दर्शनीय प्रतीक स्थापत्य कला के क्षेत्र में मांगलिक रूप में ही देखे जाते हैं। महाकवि तुलसीदास ने भी रामचरितमानस में रामविवाह के अवसर पर इन मांगलिक चिह्नों का उल्लेख अयोध्याकाण्ड में विस्तार से किया है।

ओरछा-दतिया के ये महल रेखांकन स्वरूप में वर्गाकार प्रकृति के हैं, इनके चारों ओर का निर्माण एक ही रूप में दिखाई देता है। यह आकृति मांगलिक चिह्न का बोध कराती है। बुन्देलखण्ड में प्रचलित रीति-रिवाजों के प्रत्येक शुभ कार्य में स्वस्तिक का चिह्न उकेरा जाता है। ये महल स्थापत्य कला में स्वस्तिकाकार हैं और अपने आप में मांगलिक स्वरूप के प्रतीक हैं। पुरानी जनश्रुति है कि पूर्व के समय में आमजन मांगलिक स्वरूप में महलों को मानते थे और वे महल के दर्शन कर ही भोजन ग्रहण करते थे। इन महलों की विलक्षण स्थापत्य कला को लोग यह मानते हैं कि ये निर्माण का चमत्कार, जिन्दरूपी देवताओं ने किया है। विद्वान् घनश्याम अग्निहोत्री का कथन है कि 'स्वस्ति' का अर्थ है क्षेम, शुभ, मंगल तथा कल्याण आदि और 'क' का अर्थ है करने वाला। प्रायः सभी धर्मों, सम्प्रदायों एवं मतों में एक शुभ प्रतीक अवश्य निर्धारित किया गया है। पुरातन वैदिक सनातन संस्कृति परम मंगलकारी प्रतीक स्वस्तिक सभी प्रतीकों में विलक्षण है, इसे हमारे सभी व्रत, पर्व, त्योहार काल से विद्यमान होकर सम्पूर्ण सृष्टि में व्याप्त रहा है।[4]

मंदिर

सामान्यतः मंदिर के प्रमुख गर्भगृह का मुख पूर्व एवं उत्तर की ओर शुभ माना जाता है। परन्तु उनका मुख्य दरवाजा पश्चिम की ओर स्थान एवं आवश्यकता के अनुसार हो सकता है। भगवान् हनुमान का मंदिर दक्षिणमुखी भी बनाया जाता है। उल्लेखनीय है, कि पूर्व एवं उत्तर दिशा मंदिर निर्माण में स्थापत्य की दृष्टि से मांगलिक मानी जाती है। बुन्देलखण्ड के दतिया में अनेक श्रेष्ठ मंदिर हैं, ये मंदिर राम और कृष्ण दोनों के हैं। इस कारण दतिया को तीर्थ की संज्ञा दी जाती है। मंदिर अपने सम्पूर्ण कलेवर में स्थापत्य के अनेक मांगलिक चिह्नों से युक्त रहता है। ओरछा के मांगलिक दर्शन की चर्चा करते हुए महाकवि केशव ने लिखा है-

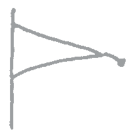

नगरी गीतन की माधुरी। मोहति मनु माधौ मधुपुरी।
बाजत घंट घनै घरसाय। झाँझ झालरैं भेरी तार।। 1।।
ठोरे-ठोरे-ठोरे कीरँतन घनैं। अति ऊँचे देवालय बनै।
जहँ-तहँ हरि लीला सुनि मीत। राम कृष्ण के गावहिं गीत।।2।।
निपटि वेला वन सोभा साज्यो। नील महावन मोहन वाज्यो।
घर-घर घंटा बम सोहियैं। सुरति देखति मन मोहियैं।।3।।
ताकि छवि मेरे मन बासी। सोहति मानौ वारानसी।
पंडित मंडल मंडित लसैं। परम हँस के गनजँह वसै।।4।।
मिटति सुभासुभ की वासना। पारवती पति की सासना।
रामै रटति छत्तीसौ कुरी। मानौ रामचन्द्र की पुरी।।5।।

अर्थात्-मंदिर के मांगलिक प्रतीक झाँझ, घड़ियाल, घंटा और भेरी बजना चाहिये। देवालयों को ऊँचा होना चाहिए और उनमें सदैव कीर्तन होते रहना चाहिए। ऐसे मंदिरों में मानव की सभी कुइच्छायें भस्म हाती हैं और सब कुछ मंगल की ओर प्रवृत्त हो जाता है। उत्तर-मध्यकाल की 18-19वीं सदी में दतिया का वातावरण मंदिरों की मांगलिक गतिविधियों के कारण ऐसा ही था। दतिया के किला मैदान में, दुर्ग के बाहर के प्रांगण रूप मैदान में छह बड़े मंदिर हैं। इस प्रकार जहाँ दुर्ग में शासक परिवार का निवास था, उस दुर्ग के बाहर का सम्पूर्ण क्षेत्र मांगलिक मंदिरों से परिपूर्ण था। इन मंदिरों में सदैव गायन, कीर्तन, उत्सव-पर्व आदि पर लगातार कार्यक्रम होते रहते थे। महाकवि केशव ने अपने ग्रन्थ वीरचरित में समसामायिक समय में मंदिरों की मांगलिक विशेषताओं का उल्लेख किया है। [5]

किला प्रांगण में उन्नीसवदीं सदी के मध्य (सन्-1850) में रानी विजय कुँआरी ने अवधबिहारी का विशाल मंदिर बनवाया था। इस मंदिर को आज 'बड़ी सरकार' या 'बड़ी महारानी' का मंदिर कहा जाता है। इस मंदिर का मुख्य दरवाजा बीस फीट के लगभग ऊँचा है। दरवाजे पर राम, लक्ष्मण, जानकी व हनुमान के चित्रों का मुख्य अलंकरण है, मंदिर की टोड़ियाँ भी अलंकृत हैं। दरवाजे पर नगड़िया, नगाड़े बजाने के लिए मंदिराकार छोटे-छोटे चौकोर स्थान मंदिर के दोनों ओर बने हैं। ये मंदिराकार नगाड़खाने दूसरी मंजिल में भी इसी आकृति में बने हैं, इनमें शहनाई वादक बैठते थे। यह मंदिर का पूरा स्वरूप मन को आनंदित करने वाला मंगल चिह्नों से युक्त है। मंदिर स्थापत्य कला के क्षेत्र में बुन्देलखण्ड के मंदिरों को सभी मांगलिक प्रतीकों, स्वरूपों से अलंकृत किया जाता था। दरवाजे के ऊपर विघ्नविनायक गणेश भगवान् की प्रतिमा बनी है, दतिया एवं ओरछा के प्रमुख मंदिर लगभग इसी स्वरूप के हैं। बुन्देलखण्ड की रियासतों ने मंदिर स्थापत्य के तरीके और प्रतीक प्राय: ओरछा, वृंदावन, अयोध्या, चित्रकूट आदि से ही लिये थे। इन मांगलिक चिह्नों के कारण, दतिया को तत्समय में तीर्थस्वरूप माना जाता था।

अवधबिहारी मंदिर में राम-सीता, लक्ष्मण व लड्डूगोपाल की मूर्तियाँ हैं। मंदिर के आँगन की दीवालों पर हाथी-घोड़ा, ऊँट आदि के चित्र अंकित हैं और टोड़ियों के नीचे लाल रंग के बेल बूटों का अलंकरण है। बुन्देलखण्ड के मंदिर-महल निर्माण कला में लाल रंग का सबसे अधिक उपयोग किया गया है। निर्माण कला के संदर्भ में लाल रंग को सबसे मांगलिक सूचक के रूप में माना जाता है। मांगलिक उत्सवों में उपयोग किये जाने वाले सिन्दूर और कुमकुम भी लाल रंग के होते हैं व लाल रंग के खिले फूल मनमोहक होते हैं। मांगलिक प्रतीक हमारे जीवन में खुशी-प्रसन्नता, जीवन की जरूरी क्रियाओं का बोध कराने वाले होते हैं। अत: हमारे मनीषियों ने मांगलिक प्रतीकों का चुनाव और निर्धारण जीवनीय क्रियाकलापों से प्राप्त अनुभवों के आधार पर किया है। इस मंदिर में भगवान के प्रसाद, भोग के लिये गाय रखी जाती थी, मंदिर से जुड़ा कुआँ भी था, समाज गायन की एवं झूला-उत्सव, श्रावण तीज, तुलसी सप्तमी, ग्यारस, पूर्णिमा, फूल बंगला आदि मांगलिक उत्सव मनाये जाते थे। राजपरिवार की विशिष्ट महिलाओं के लिये मंदिर की द्वितीय मंजिल पर हौदे बनाये गये थे। मंदिर के प्रांगण और जनमोइन के दोनों ओर पालकीनुमा 'सिजरा' भी बने हुए थे। सिजरा से तात्पर्य वह निर्धारित विशेष स्थान जहाँ राजपरिवार के लोग उत्सव एवं गायन का आनंद लेते थे। उल्लेखनीय है, ये सब मंदिर परिसर की गतिविधियाँ मांगलिक स्वरूप के ही अंतर्गत हैं। उत्सवों के समय गाये जाने वाले मंगलगीत का एक उदाहरण इस प्रकार है-

एरी आज महामंगल कौसलपुर। सुनि नृप के सुत चार भये।।

मंदिर की मांगलिक व्यवस्था में संगीत को प्राथमिक स्थान प्राप्त है। दतिया में समाज गायन परम्परा का बोलबाला मंदिरों में रहा था। आज भी यह प्रथा प्रचलित है। समाज गायन में ढोलक, मंजीरा, झाँझ, हारमोनियम आदि का उपयोग किया था। गायन मानव हृदय की पीर हर उसके मानस को शांति देने वाला होता है। भगवान् राम के अभिषेक की जानकारी जब नगरवासियों को हुई, तो वे रोमांचित होकर मंगल गायन करने लगे-

गावहिं मंगल कोकिल बयनीं। विधुबदनी मृगसावक नयनी।।[6]

मंगल गायन की यही परम्परा बुन्देलखण्ड के दतिया के मंदिरों में वर्षों से चली आ रही है। इसलिये मंदिर मांगलिक रूप में संगीत के कौशल के प्रदर्शन का सर्वश्रेष्ठ स्थान रहे हैं।

सम्पूर्ण भारतीय जीवनपद्धति विवाह, उत्सव, महल-मंदिर निर्माण कला, मांगलिक प्रतीक चिह्नों से युक्त रहकर, आम आदमी के जीवन में प्रफुल्लता के साथ प्रेरणा पैदा करती है। भारतीय जीवन की मनीषा ही मांगलिक है, इसमें दु:खों का आवेग क्षणिक रहता है, जो मंदिर दर्शन के साथ ही दूर हो जाता है।

मांगलिक प्रतीक

पुष्पा खरे

भारतीय संस्कृति में मांगलिक अवसरों पर कुछ ऐसे प्रतीक हैं, जिनका विशेष महत्त्व होता है। मांगलिक अवसर से तात्पर्य है विभिन्न प्रकार के आयोजन जैसे बच्चे का जन्म, विवाह आदि।

बच्चे के जन्म से यदि प्रारंभ किया जाये, तो जन्म होने के बाद छठी की पूजा होती है तो दीवार पर 'छठी' लिखी जाती है। इसे मांगलिक प्रतीक के रूप में माना जाता है। इसी प्रकार मुंडन संस्कार के अवसर पर बच्चे की झालर उतारते समय उसके सिर पर हल्दी का लेप किया जाता है। हल्दी का प्रयोग अन्य अवसरों पर भी किया जाता है, जैसे शादी-विवाह के अवसर पर वर एवं वधू को हल्दी चढ़ायी जाती है। शादी के बाद वधू के द्वारा घर और मंदिर में 'हाथा' लगवाया जाता है। ऐसे अवसरों पर 'स्वस्तिक' का चिह्न (जिसे बुंदेली भाषा में 'सातिया' कहा जाता है) विशेष मांगलिक प्रतीक माना जाता है। यह मांगलिक प्रतीक अन्य प्रकार से भी प्रचलित है। उदाहरण के लिये व्यापारी अपनी लेखाबही पर 'स्वस्तिक' का चिह्न अंकित करते हैं और इसके साथ ही 'शुभ-लाभ' लिखा जाता है। ये सब मांगलिक प्रतीक माने जाते हैं।

सिंदूर का उपयोग पूजन में किया जाता है और इसे शुभ माना जाता है। मंदिर में जब पंडित जी तिलक लगाते हैं, तो वह सिंदूर का ही होता है। हनुमान जी को भी सिंदूर ही चढ़ाया जाता है। इसके अतिरिक्त जब बहन अपने भाई को राखी बाँधती है, तो सिंदूर का ही तिलक करती है। विवाह में जब तक वर-वधू की सिंदूर से माँग नहीं भरता है, तब तक विवाह कार्यक्रम पूरा नहीं होता। विवाह के मंडप में धान का भी विशेष महत्त्व होता है और एक कार्यक्रम 'धान बोवाई' का होता है। सोमवती अमावस्या पर जब महिलाएँ परिक्रमा करती हैं, तो उसमें धान और पान के द्वारा परिक्रमा की जाती है।

पान तो सामान्य जीवन में लोग उपयोग करते हैं, पर कई शुभ अवसरों पर इसका महत्त्व मांगलिक प्रतीक के रूप में होता हैं। जैसे पूजा में पान और सुपाड़ी का प्रयोग, तिलक संस्कार में वर और वधू के भाई पारस्परिक रूप से एक दूसरे को पान खिलाते हैं। दशहरा के त्योहार पर पान खिलाने की परम्परा है और इसे शुभ माना जाता है। पान के द्वारा पूजन में पूर्ण आहुति भी दी जाती है।

पूजा हो या कथा, ऐसे अवसरों पर केले और आम के पत्तों को मांगलिक प्रतीक के रूप लिया जाता है। कलश के ऊपर आम के पत्तों को तथा पूजा के मंडप में केले के पत्तों को रखना शुभ माना जाता है। आम के पत्तों का वंदन-वार भी शुभ अवसरों पर घर के दरवाजों पर बाँधा जाता है। शंकर भगवान् के पूजन में बेलपत्र का विशेष महत्त्व होता है। इस प्रकार यह भी मांगलिक प्रतीक है।

जहाँ तक पूजा या कथा आदि का संबंध है, तो उसमें दूर्वा, चावल, सुपारी, हल्दी की गाँठ आदि भी मांगलिक प्रतीक माने जाते हैं। जब किसी स्त्री की गोद डाली जाती है तो उसमें भी सुपारी, हल्दी और चावल डाले जाते हैं। विभिन्न प्रकार के पूजन में 'चौक' एक विशेष शुभ प्रतीक माना जाता है, जो पूजा के अलावा शादी-विवाह आदि में भी डाला जाता है। इसी तरह पानी से भरा कलश भी पूजा अथवा शादी-विवाह के समय रखा जाता है। जब वर बारात लेकर वधू के दरवाजे पर आता है, तो उस समय दरवाजे पर कलश लेकर खड़े होना शुभ माना जाता है। इसी तरह दीपक के बिना कोई भी पूजा शुरू नहीं होती और दीपक रखना अनिवार्य माना जाता है। इसी तारतम्य से पूजन में प्रयुक्त होने वाली आरती का उल्लेख भी किया जाना चाहिये, क्योंकि बिना आरती के शायद ही कोई पूजा पूरी होती हो। इतना ही नहीं बहू के प्रथम आगमन पर अथवा दामाद के ससुराल के प्रथम आगमन पर उसकी आरती की जाती है। इस तरह यह भी मांगलिक प्रतीक के रूप में माना जाता है।

दीपावली के त्योहार पर अधिकांश घरों में गेरू-मिट्टी द्वारा दीवाल पर 'सुराती' बनायी जाती है, तत्पश्चात् दीपावली का पूजन होता है। करवा चौथ के दिन भी दीवाल पर चंद्रमा दिखलाते भाई प्रतीक चिह्न बनाने के पश्चात् पूजन संपन्न होता है। तुलसी चौरा तो लगभग हर घर में स्थापित किया जाता है और समय-समय पर तुलसी की पूजा भी की जाती है। विभिन्न प्रकार की पूजा के दौरान शंख का उपयोग भी मांगलिक माना जाता है। मंदिरों में और अन्य शुभ अवसरो पर शंख ध्वनि की जाती है। यह भी मांगलिक प्रतीक है।

शादी-विवाह के दौरान वधू के द्वारा नथ पहनना, मेहंदी लगाना, महावर लगाना, चुनरी ओढ़ना आदि विभिन्न प्रकार के मांगलिक प्रतीक माने जाते हैं, जो लगभग हर घर-परिवार में होते हैं।

नारियल भी मांगलिक प्रतीक है। यह शुभ अवसर पर आवश्यक है। पूजा में नारियल रखना बहुत जरूरी है जब तक नारियल नहीं फोड़ते, पूजा पूरी नहीं होती। इसके अलावा बहन जब भाई को टीका करती है, नारियल देकर ही करती है। रक्षासूत्र मांगलिक प्रतीक है, मंदिर व घर की पूजा में पंडित द्वारा इसे बाँधा जाता है। मंदिर में झंडा चढ़ाना, दीपावली के त्योहार पर रंगोली डालना मांगलिक प्रतीक है।

लाल रंग मंगल का प्रतीक है। दीपावली के पूजन में लाल रंग का कपड़ा बिछाते हैं, देवी माँ को लाल रंग की चुनरी चढ़ाते है। जब मंदिर में झंडा चढ़ाते हैं, तो वह लाल रंग का ही होता है।

चने की दाल को भी शुभ मानते हैं। इसे शिव पूजन में अवश्य रखते हैं। शादी-ब्याह में पहले इसका प्रचलन था, अब समय के साथ बदलाव हो गया है। पुष्प-फूल के बगैर पूजा अधूरी है। फूल मांगलिक प्रतीक है। फूल की माला का बहुत महत्त्व है। वरमाला फूलों की ही बनी रहती है। जब तक शादी में लड़का-लड़की एक दूसरे को वरमाला नहीं पहनाते, शादी की रस्म पक्की नहीं होती। इसके साथ मीठा, फल, पंचामृत आदि मांगलिक प्रतीक में सम्मिलित हैं।

लड़की की शादी में हाथ का पंजा कपड़े पर लगाकर लड़की की ससुराल भेजते हैं। इस तरह शुभ अवसर पर यह भी मंगल प्रतीक है।

कल्याण का प्रतीक स्वस्तिक

सुधा तैलंग

प्रत्येक संस्कृति की अपनी मान्यताएँ और परम्पराएँ होती हैं, अपने कुछ विशिष्ट प्रतीक चिह्न होते हैं। प्रतीकों में गूढ़ अर्थ छिपा रहता है, जिसको समझना सरल नहीं होता। ये प्रतीक मंगल चिह्न सार्वभौमिक, सर्व मांगलिक होते हैं, जो पीढ़ी दर पीढ़ी समाज में हस्तांतरित होकर सदैव जीवन्त बने रहते हैं। समय के अनुसार कुछ नवीन प्रतीक चिह्नों का भी व्यक्तिकरण होता रहता है। जाति, समाज के अपने अलग ही चिह्न होते हैं। पर कुछ विशिष्ट शुभ प्रतीक देश काल, जाति, समाज के दायरे से मुक्त होते हैं। वे धर्म, संस्कृति, परम्परा, आस्था से जुड़कर सदियों से प्रचलित रहते हैं। पुरातन काल से लेकर आधुनिक युग में भी शुभ प्रतीकों को हर मांगलिक कार्यों में अनिवार्य माना जाता है। लोकमानस की अपार श्रद्धा है इन प्रतीकों में। भारतीय संस्कृति में ओम्, कलश, दीपक, चक्र, शंख, नटराज, कमल, स्वस्तिक शुभ के प्रमुख प्रतीक हैं, जिनके बिना मंगलकार्य, यज्ञ, पूजन, विवाह, होली, दीपावली, रक्षा बंधन, नवरात्रि, करवा चौथ, सभी उत्सव-पर्व की शुद्धता-पवित्रता व रौनक अधूरी ही होती हैं। इनमें मांगलिक स्वस्तिक चिह्न का महत्त्व सर्वाधिक है। सत्यम् शिवम् सुन्दरम् के प्रतीक स्वस्तिक में सौन्दर्य, अध्यात्म व आस्था एकाकार हो उठते हैं।

स्वस्तिक यानि शुभ, मंगल, कल्याण करने वाला। स्वस्तिक मांगलिक लोकचित्र है। स्वस्तिक सु+अस+क से मिलकर बना है। सु का अर्थ है अच्छा, अस् यानि अस्तित्व, क अर्थात् करने वाला। यानि अच्छा, मंगल करने वाला। अमरकोश में स्वस्तिक को सर्वतो ऋद्ध अर्थात् सभी दिशाओं में सबका कल्याण करने वाला कहा गया है। स्वस्तिक की निरुक्ति है स्वस्तिक किसी व्यक्ति या जाति विशेष से जुड़ा प्रतीक नहीं है। बल्कि इसमें समूचे विश्व के कल्याण या 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना निहित है। यह वैदिक मन्त्र इसी मंगलकामना का उद्घोष करता है -

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवा: स्वस्ति न: पूषा विश्ववेदा:।
स्वस्ति नस्ताक्ष्र्यो अरिष्टनेमि: स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु।

अर्थात् अत्यंत पूजनीय इन्द्रदेव हमारा कल्याण करें। संसार का ज्ञान धारणकर्ता गरुड़ हमारा कल्याण करें। बृहस्पति देव हमारे कल्याण की परिपुष्टि करें।

जीवन के उल्लास, हर्ष, उमंग, प्रेम, धैर्य, सौन्दर्य व शुद्धता, शुचिता के प्रतीक स्वस्तिक अंकन की परम्परा सदियों पुरानी है। ऋग्वेद की ऋचा में स्वस्तिक सूर्य का प्रतीक बताया गया है। चार भुजाओं को चार दिशाओं का सूचक माना गया है। सिद्धान्तसार में इसे विश्व-ब्रह्माण्ड का प्रतीक बताया गया है। बीच के भाग को भगवान् विष्णु की कमलनाभि का और रेखाओं को ब्रह्मा जी के चार मुखों, चार वेदों के रूप में बताया गया है। दूसरे पौराणिक ग्रन्थों, शास्त्रों के अनुसार चार युग, चार वर्ण, चार आश्रम, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का फल पाने वाले समाज व व्यक्ति की आस्था को शाश्वत बनाये रखने वाला प्रतीक चिह्न स्वस्तिक के बिना कोई भी शुभ कार्य फलदायी नहीं रहता। सिन्धु घाटी की सभ्यता से जुड़ी मुहरों में भी स्वस्तिक चिह्न मिले हैं।

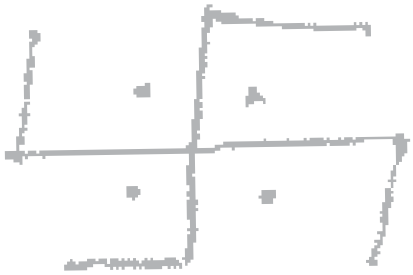

स्वस्तिक चित्र का अंकन चौक पूरने में भी सर्वप्रथम किया जाता है। इसकी चार भुजायें विष्णु की चार भुजाओं की प्रतीक हैं। बिन्दु 'ब्रह्म' बिन्दु हैं। स्वस्तिक में एक दूसरे को काटती दो सीधी रेखायें होती हैं, जो आगे जाकर मुड़ जाती हैं। इसके बाद ये रेखायें अपने सिरों पर थोड़ी आगे की ओर मुड़ जाती हैं। स्वस्तिक की आकृति दो तरह की होती है। पहली जिसमें रेखाएँ आगे की ओर जाकर हमारे दायीं तरफ मुड़ जाती है, इसे वामावर्त कहते हैं। पर भारतीय संस्कृति में इसे अशुभ माना जाता है, किंतु कई मंदिरों, पूजन स्थलों में वामावर्त स्वस्तिक मनौती मानते हुए श्रद्धालु बनाते हैं और कामना पूरी होने पर उसे सीधा कर देते हैं। जर्मनी के तानाशाह हिटलर की ध्वजा में भी यही वामावर्त स्वस्तिक अंकित था। कहा जाता है कि भुजाओं के वामावर्त विस्तार से वृत्ताकार ब्रह्माण्ड का निर्माण होता है।

शुरू में स्वस्तिक का आकार एक आड़ी रेखा पर एक खड़ी रेखा, यानि धन का चिह्न था। धीरे-धीरे समय के साथ इसमें परिवर्तन हुआ। बाद में चारों सिरों पर भुजायें जोड़ी गयीं। खड़ी रेखा के अंतिम छोर पर ऊपर नीचे के बिन्दुओं पर आड़ी रेखाएँ व आड़ी रेखा में दोनों छोर पर खड़ी भुजाएँ बनायी गयीं। इसका वर्तमान स्वरूप यह ही है। घड़ी की दिशा में घूमती रेखाओं से निर्मित स्वस्तिक देवतुल्य माने जाते हैं। आस्था के साथ गतिशीलता के प्रतीक स्वस्तिक के आलेखन के बाद ही गणेश पूजन शुरू होता है।

डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार 'भारतीय स्वस्तिक एक चतुर्भुज का प्रतीक है। इसके चार समकोण होते हैं। यह कल्याण, ऐश्वर्य की अपनी संपूर्ण चेतना व शक्ति के साथ सूर्य देव के संपूर्ण प्रतीकों का प्रतिनिधित्व करता है और वैयक्तिवक जीवन की अपनी संपूर्ण निश्चयात्मक स्वीकृति में विद्यमान मानव सत्ता के पास उसकी वह संचालन शक्ति से युक्त सत्ता है, जो सत्ता उसके प्रति अपने और चतुर्भुज की घूर्णमान शक्ति व केन्द्र की स्थिर शक्ति के द्वारा अनावरित करती है।'

स्वस्तिक में आस्था के संग दार्शनिक पुट एवं संस्कृति की त्रिवेणी बहती है। सिद्धांतसार के अनुसार- स्वस्तिक का बीच का बिन्दु संसार का गर्भाशय है, इसी को सत् भी कहा जाता है, जब ये बिन्दु रेखाओं में विस्तार लेता है, उसका जो व्यास बनता है वो लिंगरूप तत्त्व होता है। ये महायोनि में क्षोभ उत्पन्न कर देता है, जो उत्पत्ति का कारण होता है। जब उसकी रेखा त्रिशूल का आकार लेती है, तब जड़ और चेतन ऐसे दो भिन्न तत्त्वों का अद्भुत मिश्रण होता है और उससे नामरूपात्मक संसार की रचना होती है। बौद्ध धर्म के अनुसार पत्तों व पुष्पों की उत्पत्ति स्वस्तिक के कारण होती है।

पद्मपुराण के अनुसार - चातुर्मास में जो महिलाएँ देवता

की मूर्ति के आगे स्वस्तिक व अष्टदल कमल की अल्पना बनाती है, चौक पूरती हैं, उनका सुहाग अखण्ड अचल रहता है।

जैन धर्म – में स्वस्तिक की बनावट थोड़ी भिन्न प्रकार की है। स्वस्तिक की भुजाओं को चारों तरफ थोड़ा मोड़ दिया जाता है ऊपर चन्द्र बिन्दु, नीचे तीन बिन्दु अंकित किए जाते हैं। चारों तरफ से देवता, मनुष्य, तिर्यक और नारकीय जीवों का बोध होता है।

तीन बिन्दु ज्ञान, दर्शन व चरित्र को प्रकट करते हैं। उसके ऊपर अर्द्ध चन्द्राकार एक बिन्दु का प्रतीक है। जैन धर्म के श्रद्धालुगण मंदिर में देवता के समक्ष स्वस्तिक चिह्न अंकित कर ही उस पर दक्षिणा रखते है जैन महिलाएँ मंदिर में पूजन सामग्री चावल ले जाने वाले थैले, डिब्बे, रूमाल आदि में आकर्षक, खूबसूरत ढंग से स्वस्तिक का रेखांकन कर अपनी श्रद्धा के संग रचनात्मक कला की अभिव्यक्ति भी करती हैं।

इस प्रकार हम देख सकते हैं हिन्दू, जैन, बौद्ध सभी धर्मों में स्वस्तिक चिह्न का अंकन किया जाता है। चाहे रूप, आकार, मान्यता कुछ अलग हो, पर कल्याण व शुभ का प्रतीक स्वस्तिक पूरे भारत में ही नहीं, अपितु विदेशों में बसे भारतीयों की आस्था संस्कृति से जुड़ा हुआ है।

जन्म, विवाह, यज्ञोपतीत, गोदभराई, दीपावली, देवउठनी, एकादशी के अवसर पर स्वस्तिक चित्रांकन बिना पूजा शुरू नहीं होती। बुन्देलखण्ड में शिशु के जन्म पर स्वस्तिक (सांतिया) गोबर से बनाकर बच्चे की बुआ सांतिया धराई का नेग अपनी भाभी से मांगती है। नवजात शिशु को चादर पर स्वस्तिक अंकित कर सुलाये जाने की परम्परा आज भी है। लोकगीतों में सांतिया का उल्लेख आता है। भाभी कहती है –

जाय तो कहियो उन बारी ननंद सो, सतियां देय धरावे।

ननंद उत्तर, देती है।

सतियां धराई को नेग दीजो भौजी।

बच्चे के जन्म के समय चक्र के साथ गोबर से सांतिया बनाकर जौं के दाने चिपकाएँ जाते हैं। ये गतिशीलता का घोतक है। शिशु के जन्म पर परिवार की सुख–समृद्धि की कामना के साथ सांतिया बनाने की परम्परा है। गोद भराई की रस्म में भी गर्भवती स्त्री या सगाई में गोद भराई की रस्म में लड़की की ओढ़नी, चुन्नी या साड़ी में पहले हल्दी रोली से स्वस्तिक का चिह्न बनाया जाता है, फिर नारियल–चावल आदि सामग्री डाली जाती है। शादी के शुभ अवसर पर भी वर–वधु के सामने दीवार या पटे पर स्वस्तिक बनाया जाता है। वर–वधू आमने–सामने खड़े होकर स्वस्तिक देखकर अपने नये जीवन में प्रवेश में शुभ कल्याण की कामना करते हैं। मेहंदी–मांडणे हो या रंगोली, अल्पना, चौक पूरना, संजा का त्योहार हो या गणगौर में स्वस्तिक आकृति बनाने की परम्परा आज भी है।

समूचे विश्व के कल्याण का प्रतीक चिह्न शुभ लाभ, कल्याणकारी स्वस्तिक राजस्थान में सातियाँ, बुन्देलखण्ड में संतिया के नाम से प्रसिद्ध है। आस्था के साथ लोकरंग, रचनात्मक सहधर्मिता का सूचक, लोकभावना को समेटे स्वस्तिक विश्वरूपी विराट भवन की सुदृढ़ नींव का प्रस्तर है। शांति, भाईचारे, सौहार्द्र व समभाव की भावनाओं को समाहित कर स्वस्तिक ओम, कलश कमल, नारियल, शंख, दीपक के संग सतरंगी रंगों की इन्द्रधनुषी छटा में अपनी उपस्थिति हमेशा दर्ज कराता हुआ चहुँओर शुभ कल्याण, मंगल की सुरसरिता प्रवाहित करता है।

मंगलमूर्ति श्रीगणेश

डॉ. पुष्पारानी गर्ग

भगवान् श्रीगणेश मंगल मूर्ति हैं। जीवन के समस्त मांगलिक कार्यों में हम सर्वप्रथम श्री गणेशजी का ही स्मरण करते हैं। चाहे कोई पूजाविधान हो, कोई कथा आदि का प्रसंग हो, घर में पड़ने वाला कोई तीज-त्योहार हो अथवा कोई मांगलिक प्रसंग हो, हमारी सांस्कृतिक परम्परा के अनुसार सर्वप्रथम श्री गणेशजी का ही पूजन-वंदन किया जाता है।

भारतीय वाङ्मय में श्री गणेश को परब्रह्म रूप ही माना गया है। हमारे यहाँ शिव, विष्णु, सूर्य, शक्ति तथा गणेश इन पाँचों देवों को परब्रह्म परमात्मा ने सृष्टि निर्माण की इच्छा से सर्वप्रथम पंचभूतों - पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, आकाश की रचना की, फिर वह स्वयं इन पंचभूतों के अधिष्ठाता देवों के रूप में व्यक्त हुआ। पृथ्वी के अधिष्ठाता देव शंकर हुए, जल के गणेश, अग्नि की दुर्गा (शक्ति), वायु के सूर्य तथा आकाश के देवता विष्णु हुए। इसलिये इन पाँचों देवों की उपासना को एक समान महत्त्व दिया गया है। इनमें से किसी एक को इष्टदेव मान कर उपासना करने पर साधक को नि:श्रेयस की प्राप्ति हो सकती है। ये पाँचों देव तत्त्वत: अभिन्न हैं। श्रीगणेशपुराण में कहा गया है-

अहमेव महाविष्णुरहमेव सदाशिव:।
अहमेव महाशक्तिरहमेवार्यमा प्रिय:।।

अर्थात् मैं ही महाविष्णु हूँ, मैं ही सदाशिव हूँ। मैं ही महाशक्ति हूँ, मैं ही सूर्य हूँ।

श्रीगणपत्यथर्वशीर्ष में इन सर्वतत्त्वमय परब्रह्मरूप श्रीगणपति की स्तुति इस प्रकार की गयी है–

'तुम वाङ्मय हो, तुम चिन्मय हो, तुम आनन्दमय हो, तुम ब्रह्ममय हो। तुम सच्चिदानंद अद्वितीय परमात्मा हो। तुम प्रत्यक्ष ब्रह्म हो। तुम ज्ञानमय, विज्ञानमय हो।'

पंचभूतों में व्यक्त परब्रह्मरूप श्रीगणेश मानव की पंचभौतिक देह में मूलाधार चक्र के देवता हैं। यही गणेश चक्र है। यहीं साढ़े तीन लपेटे मार कर कुण्डलिनी सुप्त अवस्था में स्थित है। यहीं से सुषुम्ना नाड़ी प्रारम्भ होकर ब्रह्मरंध्र तक गयी है। व्यक्ति की आध्यात्मिक उन्नति के लिये सर्वप्रथम गणेशचक्र (मूलाधार चक्र) का भेदन अनिवार्य है, जिसके लिये श्रीगणेश की कृपा प्राप्त करना अनिवार्य है। फिर स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्धि, आज्ञाचक्र का भेदन कर साधक सहस्रारचक्र में प्रवेश करता है।

यह तो शास्त्रवर्णित गणेशजी का रूप है, लेकिन जनमानस में गणेश जी शिव–पार्वती के पुत्र हैं। ये गजानन हैं, लम्बोदर हैं। ताम्बे के समान दमकती इनकी अंगकांति है। ये भक्तों के सभी विघ्न हर लेते हैं और अपने पिता आशुतोष भगवान् शिव के समान औढरदानी हैं। भक्तों की आराधना पर शीघ्र प्रसन्न हो कर उनकी कामनापूर्ति करते हैं। ये विद्या–बुद्धि के दाता भी हैं। समस्त मंगल करने वाले हैं, कविगण ग्रन्थ लेखन में भी 'मंगलाचरण' में इनकी वंदना सर्वप्रथम करते हैं। गोस्वामी तुलसीदास 'श्रीरामचरितमानस' का प्रारंभ करते समय सर्वप्रथम गणेश तथा माँ शारदा की वंदना करते हैं –

वर्णानामर्थसंघानां रसानां छंदसामपि।
मंगलानां च कर्तारौ वंदे वाणीविनायकौ।।

अर्थात– वर्णों, अर्थों के समूह व रसों सहित विभिन्न छंद रूप इस काव्य में सर्वप्रथम मैं उन सरस्वती व गणेश की वंदना करता हूँ जो समस्त मंगलों के करने वाल हैं।

निश्चय ही हम भारतीय जीवन के हर महत्त्वपूर्ण तथा साधारण कार्यो में सबसे पहले किसी न किसी रूप में गणेश जी की ही पूजा करते हैं। चाहे किसी यज्ञ का अनुष्ठान हो या किसी के मकान, दुकान या व्यवसाय आदि का उद्घाटन हो अथवा सत्यनारायण भगवान् की कथा हो, सर्वप्रथम गणेश जी को ही प्रसन्न किया जाता है–

वक्रतुण्ड महाकाय सूर्यकोटि समप्रभ।
निर्विघ्नं कुरु मे देव सर्वकार्येषु सर्वदा।।

अर्थात् – हे वक्रतुण्ड महाकाय गणपति, हे करोड़ों सूर्य के समान आभावाले हे देव! आप कृपा कर मेरे सभी कार्य निर्विघ्न पूर्ण करें।

हमारे लोकमानस में गणेश जी ऐसे बैठे हुए हैं कि हम उन्हें अत्यंत निकट का देवता मानते हैं। 'आओ गणेश जी महाराज, पधारो' इतना कहा और गणेश जी पधार गये। हमारे यहाँ विवाह के अवसर पर पंडितजी पाटे अथवा चौकी पर सुपारी रखकर गणेश जी की पूजा कर रहे हैं लेकिन घर की स्त्रियाँ शुभ नेगचार में रीति रिवाज अनुसार अपने ही घर के एक छोटे बालक को बिन्दायक (विनायक) मानकर टीका करके, उसकी पूजा कर लेती हैं, उसे लड्डू या बताशा खाने को देती हैं और समझती हैं गणेश जी प्रसन्न हो गये। इस प्रथा के पीछे यह भी संकेत छिपा है कि छोटा बालक गणेश रूप है। ज्योतिष शास्त्र में भी गणेश जी को बालक रूप माना गया है। इस प्रकार इस रिवाज को सहज ही शास्त्रीय आधार भी मिल जाता है।

विवाह आदि के शुभ अवसर पर गीत गाते समय सर्वप्रथम गणेश जी का ही गीत गया जाता है। ऐसा ही लोक में प्रचलित एक गीत प्रस्तुत है–

गवरीरा नंद गणेश नै मनावां हो जी
थाने रूड़ा रूड़ा काज सँवरया हो गवरी रा नंद...
सोना रूपा री देवा ईंट गढ़ावाँ हो जी
थारो गैरो गैरो मंदर चिनावाँ हो गवरी रा नंद...
केसर कस्तूरी रो लीपन बनावाँ हो जी
थारो गेरो गेरो मंदर लिपावाँ हो जी गवरी रा नंद...
असली पारस को देवा मूरत गढ़ावाँ हो जी
थारी गेरी गेरी थापना थपावाँ हो गवरी रा नंद...
ज्ञान फूलाँ को देवा गजरो बनावाँ हो जी
थारो मोत्याँ रा चोक पुरावाँ हो गवरी रा नंद...
रोली चंदन रो देवा तिलक लगावाँ हो जी
थाने लाडू रो भोग लगावाँ हो गवरी रा नंद...
सात सहेल्याँ मिल मंगल गावाँ हो जी
थाने अभलक दिवालो संजोवाँ हो गवरी रा नंद...

सत का सरण में गोरख बोल्या हो जी
थाने गैरो सबद सुनावाँ हो गवरी रा नंद..

इसी प्रकार के अनेक गणेश गीत लोक परम्परा में गाये जाते हैं, सबका अपना-अपना सौंदर्य है, अपनी-अपनी मिठास है।

हमारे यहाँ तो लोक परम्परा में घर की पूजा में एक छोटी सी मिट्‌टी की डली को भी गणेश जी की तरह पूज लिया जाता है, फिर मिट्‌टी में उसका विसर्जन कर दिया जाता है। वर्ष में पड़ने वाले अनेक तीज-त्योहारों पर माताएँ-बहनें पूजा के पाटे पर कलश रखने के साथ गेहूँ के कुछ दाने तथा एक मिट्टी की डली भी गणेश रूप में रखती हैं। उसकी पूजा करके वे अपनी पूजा की वार्ता कहती हैं। महत्त्व की बात यह है कि वे अपनी पूजा की वार्ता कहने के बाद गणेश जी की कथा भी अवश्य कहती हैं। इसके बिना उनकी पूजा सम्पन्न नहीं होती। करवा चौथ हो, होई अष्टमी हो, दशामाता हो, बछवारस हो, नागपंचमी हो, आदि-आदि कोई भी पूजाप्रसंग हो, मुख्य पूजा-वार्ता कहने के पश्चात् गणेश-वार्ता कहना अनिवार्य माना जाता है। यही कारण है कि हमारी लोकपरम्परा में अनेक प्रकार की गणेश वार्ताएँ प्रचलित हैं। इनमें कुछ वार्ताएँ तो बड़ी मनोरंजक व मजेदार भी हैं। जैसे यह वार्ता -

एक साहूकार की बहू गर्भवती थी। एक दिन उसका मन चूरमा खाने का हुआ। उसने सोचा सासू जी से कहूँगी तो कब चूरमा बनाएँगी, कब मुझे खाने को देंगीं और पता नहीं बनाएँगी भी या नहीं। सो वह अगले दिन सबेरे जब जंगल गयी, तब पल्ले में घी, गुड़, आटा बाँध कर ले गयी। जंगल में उसने कंडे बीने। उन्हें जलाकर आटे की बाटी सेकी। अब सोचने लगी इसे कूटूँ कहाँ? तभी थोड़ी दूर पर उसे गणेश जी की मूर्ति दिखी। वह दौड़ी-दौड़ी वहाँ गयी। देखा गणेश जी की मूर्ति काफी बड़ी हैं और उसकी नाभि बहुत गहरी है। बस अब क्या था, उसने एक छोटा सा पत्थर उठाया और गणेश जी की नाभि में बाटी को कूट लिया, फिर उसमें घी-गुड़ मिलाया, आनंद से चूरमा खाया और तृप्त होकर घर चली गयी। गणेश जी ने सोचा कैसी बेशर्म औरत है। मेरी नाभि में बाटी कूटी, चूरमा बनाया और खुद खाकर चली गयी, मुझे भोग तक नहीं लगाया। यह सोच कर उन्होंने आश्चर्य से अपनी नाक में अंगुली रख ली। थोड़ी देर में वहाँ कुछ लोग पूजा करने आये। उन्होंने गणेश जी की नाक पर अंगुली रखी देखी, तो बड़े आश्चर्य से भर गये। ऐसी क्या बात हुई? गणेश जी ने नाक पर अंगुली क्यों रखी है? किसी की समझ में कुछ नहीं आता तो दौड़ गये, दो दौड़ते चार गये। पंडित जी को सुनकर बड़ा आश्चर्य हुआ। पंडित जी ने पोथी-पत्रा देखा। कुछ समझ में नहीं आया। दौड़कर मूर्ति के पास गये। बहुत स्तुति की, प्रार्थना की। लेकिन गणेश जी ने अंगुली नहीं हटायी। वे सब थक हार कर घर लौट गये। अब तो पूरे गाँव में हल्ला हो गया कि गणेश जी ने नाक पर अंगुली रखी है। बड़े-बड़े पंडितों से भी उनकी अंगुली हटी नहीं। यह खबर साहूकार की उस बहू ने भी सुनी। वह अपनी सासू से बोली- सासू जी आप कहो तो मैं कोशिश कर देखूँ। शायद गणेश जी नाक पर से अंगुली हटा ले। सासू बोली- इतने बड़े-बड़े पंडितों से तो अंगुली हटी नहीं, तू कैसे हटाएँगी? बहू बोली सासू जी! कोशिश करने में क्या हर्ज है। सासू बोली- अच्छी बात है। जा, कोशिश करके देख ले। अंगुली हटे तो सही, नहीं तो गाँव पर कोई मुसीबत आ गयी तो?

सासू जी की आज्ञा पाकर बहू हाथ में एक सोटा लेकर चली। जंगल में पहुँची, गणेश जी को देखा फिर बोली- क्यूँ रे गणेशिया! मैं घी म्हारा घर से लाई, गुड़ म्हारा घर से लाई, आटो भी म्हारा घर से लाई। बस एक थारी नाभि में डाल कर चूरमों कूट लियो, जिसको इतनो गुमान? तू नाक पर से या अंगुली हटावे है या फिर देऊँ एक सोटा की? गणेश जी ने सुनी। सोची, यह तो बड़ी जबर औरत है। चुपचाप अंगुली हटा लेने में ही भलाई है, वरना कहीं सचमुच सोटा की दे दी तो? और गणेश जी ने उसी समय नाक से अंगुली हटा ली। वह औरत शान से घर लौट गयी।

फिर वार्ता के अंत में वार्ताकार स्त्री कहती है- 'हे गणेश जी! जैसी साहूकार की बहू की बात रखी, वैसी हमारी भी रखना, हमे भी चूरमा खिलाना, हमारे सारे परिवार को सुख देना।

बुन्देली के मांगलिक प्रतीक

डॉ. सीमा तिवारी

लोक में प्रचलित किसी भी तरह के संस्कार, धार्मिक अनुष्ठान, लोकपर्वों पर लोकचित्रों का अंकन अनिवार्य है। इस प्रकार के लोकचित्रों में एक आदर्श निहित होता है। ये मांगलिक प्रतीक भी कहे जाते हैं। लोकचित्रकला में हमें लोकमानस के मन, हृदय की संवेदनाओं, शिक्षण एवं पारिवारिक आस्थाओं के विभिन्न पहलुओं के दर्शन होते हैं। चित्रकला को जब लोकजीवन द्वारा अंगीकार किया गया, तब यह लोकभावनाओं की अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम बनकर लोकचित्रकला में प्रतिष्ठित हुई।

लोकचित्रकला का उद्‌भव तभी से हुआ, जब से मनुष्य में उपासना, आराधना का भाव जाग्रत हुआ। प्रागैतिहासिक चित्रों में टोना-टोटका संबंधी अनेक प्रतीकात्मक आकृतियाँ दिखायी देती हैं। वैदिक काल में प्रतीक पूजा आर्यों में नहीं थी, ज्ञान और कर्म सम्पत्ति का प्रभु अनुग्रह के साथ सामंजस्य ही वैदिक भक्ति का स्वरूप था। धारणा थी कि स्तुति, प्रार्थना और उपासनारूपी भक्तिमार्ग ही साधक को प्रभु के निकट पहुँचा देता है अथवा कष्टों से मुक्त कर देता है। पौराणिक काल में उपास्य को आकार मिला। तभी से देवाकृतियाँ चित्रित की जाने लगीं। पौराणिक काल में अलंकरण के उद्देश्य के अतिरिक्त मुख्य रूप से घरेलू पर्वों पर घर की महिलाओं द्वारा भिन्न-भिन्न चित्रण की परम्परा बनी और अब तक चली आ रही है। योगी तो बिना चित्र या प्रतीकों के भी ब्रह्मध्यान एवं प्रभुपूजन कर सकते हैं, परन्तु विशाल जन समाज योगी नहीं हो सकता। इस प्रकार उपास्य आकृति चित्रण लोक में उपासना के सरलीकृत होने का परिणाम है। लोकजीवन की प्रत्येक अभिव्यक्ति में प्रतीकों का सहारा लेना पड़ता है।

भारतीय संस्कृति में पाँच प्रतीक अधिक लोकप्रिय हैं, जिनका प्रयोग शास्त्र और लोक दोनों में बराबरी से प्रचलित है-ये पाँच प्रतीक हैं- दीप, कमल, वटवृक्ष, स्वस्तिक और ओम् (ॐ)।[1]

दीप ज्ञान और प्रकाश का प्रतीक है। कमल सृष्टि, उत्पत्ति, जन्म और विकास का प्रतीक है। वटवृक्ष स्थिरता, विशालता और औदार्य का प्रतीक है। स्वस्तिक कल्याण और शुभ का प्रतीक है। ओम् ध्वनि, नाद के उद्‌गम का प्रतीक है।

बुन्देलखण्ड में इनके अलावा भी कई मांगलिक प्रतीक हैं जैसे-स्वस्तिक, सुरैती, घट, अष्टदल कमल (चौक), सर्प, हाथी, पान, बिन्दु, शून्य, रेखा, त्रिभुज, वृत्त आदि।

बिन्दु : बिन्दु सृष्टि का केन्द्र है। बिन्दु में तीनों देवताओं का लय है। बिन्दु शिव का एवं संकल्प का प्रतीक है। इसी से सृष्टि की रचना हुई, अतः बिन्दु सृष्टि का सार है।

शून्य : शून्य ब्रह्माण्ड का प्रतीक है। इस में सारी सृष्टि समायी है। शून्य अनन्त है तथा आकाश का प्रतीक भी है। शून्य समय का प्रतीक है। शून्य ही शक्ति है। लोक में शून्य को लेकर कई भजन प्रचलित हैं, जैसे -

ओंकार है शून्य की रचना

रेखा : अनेक बिन्दु मिलकर रेखा बनाते हैं। रेखा गति, काल तथा विकास की प्रतीक है। लोक में रेखा से ही चित्रों का निर्माण होता है।

वृत्त : वृत्त या परिधि में ब्रह्माण्ड समाया है। वृत्त वायु, आकाश एवं नाद का प्रतीक है।

स्वस्तिक : स्वस्तिक भारतीय धर्म एवं संस्कृति में मांगलिक प्रतीक माना जाता है। हमारे देश के मांगलिक प्रतीकों में स्वस्तिक का स्थान पहले क्रम में आता है। स्वस्तिक का उद्‌भव बिन्दु से हुआ है। बिन्दु ब्रह्मा, सृष्टि, जीवन और संसार का प्रतीक है। स्वस्तिक आड़ी-खड़ी रेखाओं के काटने से बनता है, ये रेखाएँ स्त्री तथा पुरुष की प्रतीक मानी जाती हैं। इसकी चार रेखाएँ चार दिशाओं की प्रतीक हैं। दोनों रेखाओं के मिलन वाला बिन्दु सूर्य का प्रतीक माना जाता है। लोक में प्रत्येक मांगलिक, आनुष्ठानिक कार्य में स्वस्तिक आवश्यक रूप से बनाया जाता है। किसी भी देवी-देवता के मंदिर में प्रवेश द्वारों पर स्वस्तिक का अंकन होता है। हमारे धर्म में स्वस्तिक के स्थान पर श्रीगणेश की उपस्थिति मानी जाती है।

चौक : चौक के माध्यम से देव अथवा अतिथि का आवाहन कर उन्हें आसन देने की भावना निहित होती है। जहाँ देवताओं का आगमन होता है, वह स्थान तो पवित्र हो जाता है, चौक पूरने में जगत की कल्पना साकार हो उठती है। चौक को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि स्वस्तिक की वृद्धि होकर बना होगा। कालान्तर में लोक ने यह रूप निर्मित कर दिया हो। अर्थात् चौक स्वस्तिक का विस्तारित रूप है। बुन्देलखण्ड में प्रत्येक मांगलिक अवसर पर चौक पूरने की परम्परा है। चौक आटा, हल्दी, रोली, एपन आदि से पूरे जाते हैं।

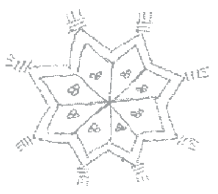

पूजन कर्मकाण्ड देवताओं के अनुष्ठान तथा यज्ञ में सर्वतोभद्र मण्डल चक्र बनाया जाता है।[2] अधिकांश विद्वान् मानते हैं कि प्रत्येक पूजा, प्रार्थना, साधना, उपवास, यंत्र, मंत्र, तंत्र, हवन, जप, तप आदि समस्त धार्मिक क्रियाएँ धार्मिक प्रतीक ही हैं।[3]

सूर्य-चन्द्र : सूर्य शक्ति का प्रतीक है, चन्द्रमा सामाजिक कलाओं का पूरक है। वह हमें शीतलता प्रदान करता है, सूर्य हमें प्रकाश तथा ऊर्जा प्रदान करता है। सूर्य-चन्द्र का अंकन प्रकृति की शाश्वतता का प्रतीक है।

सुरैती : दीपावली पर बुन्देलखण्ड में गेरू या सिन्दूर से सुरैती, सुराता (भित्ति चित्रण) बनाये जाते हैं। ये लक्ष्मी तथा विष्णु के प्रतीक हैं। सुरैती के नीचे दियों का अंकन होता है, जो धन-धान्य एवं ज्ञान के प्रतीक हैं। लक्ष्मी पूजन में कमल चौक कमलासन का प्रतीक है।

शंख : शंख श्रीविष्णु का प्रतीक है। शंख ध्वनि से प्रेतबाधा का नाश होता है।

नारियल : नारियल को श्रीफल कहा जाता है। समस्त मांगलिक कार्यों में नारियल का उपयोग किया जाता है। अतः नारियल को मांगलिकता का प्रतीक कहा जाता है।

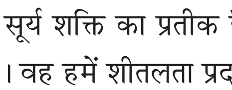

नारियल पशु बलि के स्थान पर स्वीकृत सात्विक बलि का प्रतीक है। नारियल शिव का प्रतीक है।

पान : पान पूजन का अभिन्न अंग है। पान पवित्रता का, प्रेम का प्रतीक है। लोकचित्रों में पान और पानबेल का प्रयोग प्रतीकात्मक होता है। पानबेल वंशवृद्धि का प्रतीक है।

नाग : नागपंचमी पर नाग पूजा का विधान है। इस अंचल में नागपंचमी को मुख्य दरवाजे के दोनों तरफ गेरू या कोयले से नागों की आकृति बनाकर पूजन किया जाता है।

अहोई अष्टमी : कार्तिक कृष्ण पक्ष की अष्टमी को वैमाता का पूजन किया जाता है। दीवार पर अहोई माता का स्वरूप बनाया जाता है। उसमें सात पुत्रों, सात पूत्रवधुओं, गंगा-यमुना, तुलसी, सूर्य-चन्द्रमा आदि का अंकन होता है।

उरैन : बुन्देलखण्ड में शुभ अवसरों पर एवं पितृपक्ष में घर के मुख्य द्वार की भूमि पर उरैन डालने की प्रथा है। उस पर चौक बनाया जाता है।

प्रकृति से प्रभावित मानव ने सहज भाव से दैवी शक्तियों पर विश्वास कर लिया और उन्हें प्रतीक चिह्नों के रूप में चित्रित कर उनकी आराधना की। धर्म-कर्म प्रधान आध्यात्मवादी युग में वेदमंत्रों, शास्त्रों, उपनिषदों, ब्रह्मसूत्र और इसी कोटि के अनेक ग्रंथों में कला के प्रतीकात्मक प्रतिमानों के द्वारा परमेश्वर की प्राप्ति एवं आध्यात्मिक उन्नति का मार्ग सुझाया गया है।

सामाजिक-धार्मिक पर्व-त्योहार और अनुष्ठानों के अवसर पर लोक चित्रकला के भिन्न-भिन्न प्रतीक चित्रित किये जाने की परम्परा आज भी प्रचलन में है। त्योहारों के चित्रांकन में जन- सामान्य की सहज भावाभिव्यक्ति, आकांक्षा और सुख-दु:ख की कथा निहित होती है। कुछ पर्वों पर मांगलिक प्रतीकों की रचना इस तरह से होती है-

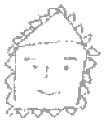

आसमाई : पान के पत्ते पर हल्दी-चंदन से चार पुतलियाँ बनायी जाती हैं। ये भूख, प्यास, नींद तथा आस की प्रतीक देवियाँ है।

मांगलिक अवसरों, तीज-त्योहारों पर लोक कलाओं का यह दर्शन हमारे श्रद्धा, विश्वास को मूर्त रूप प्रदान करता है। लोकचित्र में प्रतीक धार्मिक चेतना के अभिन्न अंग हैं। अंकप्रतीक, चक्रप्रतीक, मुद्राप्रतीक तथा पूजनप्रतीकों का प्रचलन है। इससे यह सिद्ध होता है कि हमारी धार्मिक परम्परा में प्रतीकों की केन्द्रीय भूमिका है।

संदर्भ :
1. लोकप्रतीक पृष्ठ-17
2. सम्पूर्ण हवन पद्धति, पं. मिश्र-रणधीर प्रकाशन, हरिद्वार
3. लोकचित्रों के प्रतीक बोध-श्रीमती अरुणा चौबे एवं वीणा चौबे-ईसुरी
4. बुन्देलखण्ड में पारम्परिक लोक -चित्रांकन, डॉ. मधु श्रीवास्तव, कला संगम, अंक-प्रथम, 2011 पृष्ठ-34

इस अंक के लेखक

डॉ. भगवतीलाल राजपुरोहित, 2 बिलोटीपुरा, उज्जैन (मध्यप्रदेश)

डॉ. राजेन्द्ररंजन चतुर्वेदी, 1828, हाउसिंग बोर्ड कॉलोनी, सेक्टर-13-17, पानीपत (हरियाणा)

वसन्त निरगुणे, एच. 7 उमा विहार, नयापुरा, कोलार रोड, भोपाल (मध्यप्रदेश)

डॉ. केदारनाथ शुक्ल, 61/8, आजाद नगर, वि.वि. मार्ग, उज्जैन (मध्यप्रदेश)

डॉ. (श्रीमती) अंशुबाला मिश्रा, हनुमत कृपा, 384 सीनियर एम.आई.जी., कटारा हिल्स, भोपाल (मध्यप्रदेश)

डॉ. जगन्नाथ दुबे, 46, हरिओम विहार, महानंदा, सी-सेक्टर के पास, उज्जैन (मध्यप्रदेश)

डॉ. अर्जुनदास केसरी, संपादक, लोकवार्ता शोध पत्रिका, राबर्ट्सगंज, सोनभद्र (उत्तरप्रदेश)

डॉ. आदित्यप्रसाद सिन्हा, हेहल, पो.- हेसल, रांची (झारखण्ड)

प्रो. देवसिंह पोखरिया, आचार्य एवं अध्यक्ष (हिन्दी), कुमाऊँ विश्वविद्यालय, एस.एस.जे. परिसर, अल्मोड़ा (उत्तराखण्ड)

डॉ. रंजना शाही, प्रवक्ता, (अंग्रेजी) जी.जी.आइ.सी. चौखुटिया, अल्मोड़ा (उत्तराखण्ड)

डॉ. पीसीलाल यादव, साहित्य कुटीर, गंडई पंडरिया, राजनांदगाँव (छत्तीसगढ़)

डॉ. वन्दना जोशी, व्याख्याता, राज मीरा कन्या महाविद्यालय, उदयपुर (राजस्थान)

डॉ. मनोरमा शर्मा, 3 खेड़ा निवास, संजौली, शिमला (उत्तराखण्ड)

मायापति मिश्र, MIG 384, कटारा हिल्स, भोपाल (मध्यप्रदेश)

डॉ. कीर्ति शर्मा, बी-9, कम्फर्ट गार्डन, कोलार रोड, भोपाल (मध्यप्रदेश)

छोगालाल कुमरावत 'सुजस' - गणेश मार्ग, मु.पो.- टाण्डा बरूड़, खरगोन (मध्यप्रदेश)

रमेश चन्द्र तोमर 'निमाड़ी', ग्राम पोस्ट -दवाना, तहसील-ठीकरी, बड़वानी (मध्यप्रदेश)

लक्ष्मीनारायण तिवारी-डी-सेक्टर 2013, सुदामानगर, इन्दौर (मध्यप्रदेश)

श्रीमती पूर्णिमा चतुर्वेदी, ई-2, शिखर एनक्लेव, कैलाश नगर, बैरागढ़, भोपाल (मध्यप्रदेश)

डॉ. पूरन सहगल, निदेशक, मालवा लोकसंस्कृति अनुष्ठान, मनासा, नीमच (मध्यप्रदेश)

निरंजन महावर, 26 सेन्ट्रल एवेन्यू, चौबे कॉलोनी, रायपुर (छत्तीसगढ़)

रामकुमार वर्मा, म.न. 23, ब्लाक- 4/ई, दक्षिण वसुन्धरानगर, भिलाई (छत्तीसगढ़)

डॉ. रामनारायण सिंह 'मधुर', 21 मानस नगर, दुर्गाकुण्ड, वाराणसी (उत्तरप्रदेश)

डॉ. दुर्गेश दीक्षित, कुण्डेश्वर, टीकमगढ़ (मध्यप्रदेश)

पं. गुणसागर सत्यार्थी, 'ज्योतिकलश' पोस्ट- कुण्डेश्वर (मध्यप्रदेश)

डॉ. सुधा गुप्ता, 113 खत्रयाना मार्ग, झाँसी (उत्तरप्रदेश)

डॉ. (श्रीमती) गायत्री वाजपेयी 'श्रीकृपा निकेतन', आदर्श नगर, हायर सेकेण्डरी स्कूल नं.-01 के पीछे, छतरपुर (मध्यप्रदेश)

श्रीमती अरुणा चौबे, शांडिल्य सदन के पीछे, श्रीराम कॉलोनी, गोपालगंज, सागर (मध्यप्रदेश)

डॉ. कुमारेन्द्रसिंह सेंगर, 110 रामनगर, सत्कार लॉज के पास, उरई, जालौन (उत्तरप्रदेश)

डॉ. रामस्वरूप ढेंगुला, कुंजनपुरा, दतिया (मध्यप्रदेश)

श्रीमती पुष्पा खरे, 7 राजेन्द्र नगर, सतना (मध्यप्रदेश)

सुधा तैलंग, टी/2 प्लाट नं. 16-17, सिमरन अपार्ट.-2, ई-8, त्रिलंगा, भोपाल (मध्यप्रदेश)

डॉ. पुष्पारानी गर्ग, 2 भँवरकुआँ चौराहा, इन्दौर (मध्यप्रदेश)

डॉ. सीमा तिवारी, गुरु फर्श, बरियाघाट वार्ड, सागर (मध्यप्रदेश)